ऋग्वेद के दार्शनिक सूक्तों का आलोचनात्मक अध्ययन

(A Critical Study Of The Philosophical Hymns In Ṛgveda)

इलाहाबाद विश्वविद्यालय की 'डॉक्टर ऑफ फिलॉसफी' उपाधि के लिए प्रस्तुत

शोध - प्रबन्ध

प्रस्तुतकर्त्ता
मुरलीमनोहर पाठक
प्राध्यापक,
संस्कृत – प्राध्ययनकेन्द्र,
विक्रम - विश्वविद्यालय,
उज्जैन (म. प्र.)

निर्देशक
डॉ. हरिशङ्कर त्रिपाठी
रीडर,
संस्कृत – विभाग,
इलाहाबाद विश्वविद्यालय,
इलाहाबाद (उ. प्र.)

संस्कृत - विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय
1994

किञ्चिद् वाचिकम्

त्रिवेणीसङ्गमे पुण्ये यत्र स्नतोऽस्मि विद्यया ।
प्रयाग तीर्थराज त सन्नत प्रणमाम्यहम् ।।
सैषोज्जयिनी पूज्या देवो यत्रास्ति महाकालकल ।
कृष्णस्य पाठभूमि सान्दीपनिसङ्गता धन्या ।।

बाल्यावस्था मे पूज्य पितामह आचार्यप्रवर पण्डित जयराम पाठक के उत्सङ्ग मे क्रीडापूर्वक "वेदोऽखिलो धर्ममूलम्", "वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्य" प्रभृति जिन वाक्यो को मैने हृदयङ्गम किया था, उनके परिणामस्वरूप प्रस्तुत शोध–प्रबन्ध को पूर्ण करते हुए मुझे चैतसिक आनन्दानुभूति हो रही है । गहन, गभीर वेदसागर को पार करते समय सुकल्प प्लवकल्प मेरे गुरु महान् वेदविद् पूज्य डॉ हरिशङ्कर त्रिपाठी जी का निरन्तर स्नेह एव साहाय्य प्राप्त होता रहा । उनकी कृपा तथा मार्गदर्शन के अभाव मे यह कार्य सम्पन्न कर पाना सम्भव नही था । इन क्षणो मे विनम्र प्रणतिपूर्वक उनके आशीराशि की अपेक्षा करता हूँ । सस्कृत–विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय के अवकाशप्राप्त आचार्य एव अध्यक्ष, गुरुवर डॉ सुरेशचन्द्र श्रीवास्तव तथा साम्प्रतिक अध्यक्ष पूज्य प्रो डॉ सुरेशचन्द्र पाण्डे का स्नेह सदैव प्राप्त होता रहा है । इनके अतिरिक्त अन्य विभागीय गुरुओ – डॉ राजेन्द्र मिश्र (सम्प्रति आचार्य एव अध्यक्ष, सस्कृत–विभाग, शिमला विश्वविद्यालय), डॉ राजकुमार शुक्ल, स्व डॉ महावीर प्रसाद लखेडा तथा डॉ चन्द्रभूषण मिश्र प्रभृति के प्रति आभार–कुसुमाञ्जलि अर्पित करता हूँ ।

प्रबन्धपूर्त्ति मे नानाविध सहयोग प्रदान करने वाले अपने दार्शनिक मित्र डॉ अशोक कुमार पाण्डेय के प्रति धन्यवाद ज्ञापित करना उनके असीम स्नेह एव सौहार्द को अस्वीकार करना होगा । दर्शन–विभाग के ही अपने मित्र (डॉ) दीपनारायण यादव का स्नेह भी मै भुला नही सकता । मेरे अनुज आनन्द ने प्रारम्भ से ही पुस्तके एकत्र करने तथा कार्यालयीय कार्यों मे प्रभूत सहयोग किया है। उसके उज्ज्वल भविष्य की कामना करता हूँ ।

प्रस्तुत प्रबन्ध अनेक कारणो से प्रयाग मे निवास करते समय पूर्ण नही हो सका था । उज्जैन के सस्कृत–प्राध्ययन केन्द्र मे प्राध्यापक होने के बाद अध्ययन–अध्यापनादि मे व्यापृत रहने के कारण यह कार्य स्थगित हो गया । उज्जैन आने के साथ ही परम पूज्य आचार्य डॉ. बच्चूलाल जी

अवस्थी तथा सस्कृत–प्राध्ययन केन्द्र के आचार्य एव अध्यक्ष (सम्प्रति अवकाशप्राप्त) प्रो श्रीनिवास रथ ने शोधपूर्त्ति–हेतु सतत प्रेरित करते हुए उत्साहवर्द्धन किया । इन दोनो आचार्यों का मै श्रद्धापूर्वक अभिवादन करता हूँ । सस्कृत–प्राध्ययन केन्द्र के मेरे वरिष्ठ सहयोगियो – डॉ केदारनारायण जोशी, डॉ सोमनाथ नेने तथा डॉ विन्ध्येश्वरीप्रसाद मिश्र "विनय" ने निरन्तर, शोध पूर्ण करने के लिए प्रोत्साहित किया है । डॉ नेने ने तो टड्कण के पूर्व प्राय सम्पूर्ण प्रबन्ध की पाण्डुलिपि देखकर अनेक आवश्यक सुझाव दिये । डॉ मिश्र ने भी यथासमय अपेक्षित सहयोग किया । इन सबके प्रति मै हृदय से आभारी हूँ । मेरठ विश्वविद्यालय के सस्कृत विभाग मे रीडर श्रद्धेय डॉ सुधाकराचार्य जी त्रिपाठी समय–समय पर उत्साहित करते रहे है । मुझे विश्वास है, मेरे कार्य की पूर्णता जानकर वे अवश्य प्रसन्न होगे ।

प्रारम्भ मे इस शोध–प्रबन्ध को अग्रेजी माध्यम से लिखने की इच्छा थी, किन्तु मेरे श्वसुर स्व श्री सभानन्द उपाध्याय ने हिन्दी मे लिखने–हेतु प्रेरित किया । मेरे पूज्य पिता स्व गौरहरि श्री मदनमोहन पाठक सदैव शोध–पूर्त्ति–हेतु प्रोत्साहित किया करते थे । उक्त दोनो गुरुजनो को नमोवाक् पूर्वक स्मरण कर रहा हूँ ।

विश्वविद्यालय अनुदान आयोग द्वारा कनिष्ठ एव वरिष्ठ अध्येतावृत्ति प्राप्त करते रहने से मुझे किसी भी प्रकार के आर्थिक सड्कट का सामना नही करना पडा । एतदर्थ मै आयोग को धन्यवाद देता हूँ । सस्कृत–बहुल प्रबन्ध को टड्कित करने मे श्री अतुल सोहळे ने दत्तचित्त होकर कठिन परिश्रम किया, अत वे मेरे धन्यवाद के पात्र है । अन्तत विस्तरभय से अपने जिन मित्रो, सहयोगियो तथा शुभेच्छुओ का नाम नही ले पाया हूँ, उन्हे भी हार्दिक धन्यवाद ज्ञापित करते हुए "किञ्चिद् वाचिकम्" को विराम देता हूँ ।

सरस्वती न सुभगा मयस्करत् ।

मुरलीमनोहर पाठक

(मुरलीमनोहर पाठक)

अ नु क्र म णि का

प्ररोचना

वेद न केवल भारतीय, अपितु विश्व–साहित्य के अनुपम एव अक्षय कोश है । वेद का वेदत्व इसी मे है कि जो ज्ञान प्रत्यक्ष अथवा अनुमान प्रमाणो के द्वारा भी प्राप्त नही किया जा सके, उसे वेद द्वारा प्राप्त कर लिया जाता है ।[1] "वेद" शब्द की निष्पत्ति सामान्यत अदादिगण मे पठित ज्ञानार्थक "विद्" धातु से करण के अर्थ मे "घञ्" प्रत्यय के योग से मानी जाती है । इस दृष्टि से वेद, ज्ञान के साधन के रूप मे प्रतिष्ठित है । भाव के अर्थ मे "घञ्" प्रत्यय करने पर वेद साक्षात् ज्ञानस्वरूप है । गीता के अनुसार वेदो का प्रतिपाद्य परमात्मतत्त्व ही है ।[2] स्वामी दयानन्द सरस्वती ने "वेद" शब्द को ज्ञान, विचार, सत्ता तथा लाभ – इन चारो अर्थों मे पठित "विद्" धातु से निष्पन्न माना है । उनके अनुसार जिनसे सभी मनुष्य सत्य विद्या को जानते है, अथवा प्राप्त करते है, अथवा विचारते है, अथवा विद्वान् होते है अथवा सत्यविद्या की प्राप्ति–हेतु जिनमे प्रवृत्त होते है, वे वेद है ।[3] चाहे किसी भी अर्थ वाले "विद्" धातु से "वेद" शब्द को निष्पन्न माना जाए, इससे इसकी महत्ता मे कोई न्यूनता नही आती है ।

आपस्तम्ब ने वेद के अन्तर्गत मन्त्र तथा ब्राह्मण का ग्रहण किया है ।[4] ऋक्, यजु, साम और अथर्व ये चार संहिताएँ मन्त्रात्मक वेद के रूप मे है । जिनमे मन्त्रो की व्याख्या तथा यज्ञ की विधि इत्यादि का निर्देश होता है, उन्हे ब्राह्मण के नाम से जाना जाता है । ब्राह्मण के ही तीन भाग – ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद् है । उपासनाकाण्ड को आरण्यक तथा ज्ञानकाण्ड को उपनिषद् कहते है । इस प्रकार वेद (संहिता), ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद्, वेद के रूप मे माने जाते रहे है । कालान्तर मे "वेद" शब्द का व्यवहार केवल संहिता भाग के लिए किया जाने लगा । ब्राह्मण,

---

1 प्रत्यक्षेणानुमित्या वा यस्तूपायो न बुध्यते ।
एत विदन्ति वेदेन तस्माद् वेदस्य वेदता ।। सायण – ऋग्वेदभाष्य–भूमिका

2. वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्य । श्रीमद्भगवद्गीता 15 15

3 विदन्ति जानन्ति, विद्यन्ते भवन्ति विन्दन्ति अथवा विन्दन्ते, लभन्ते, विन्दन्ति, विचारयन्ति, सर्वे मनुष्या सत्यविद्या यैर्येषु वा तथा विद्वासश्च भवन्ति ते वेदा ।
सरस्वती, स्वामी दयानन्द–ऋग्वेदादिभाष्य–भूमिका

4 मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम् । आपस्तम्बपरिभाषा 1 33

आरण्यक और उपनिषद् आदि वेद की मर्यादा के अन्तर्गत होते हुए भी मूल वेदो से पृथक् माने गए । आचार्य सायण ने स्वय मन्त्रात्मक वेद को ब्राह्मणो से प्रधान माना है ।[1] यद्यपि इससे ब्राह्मणादि के महत्त्व मे कोई कमी नही आती है, क्योंकि इनके सम्यक् अध्ययन के बिना संहिताओ को समझ पाना अत्यन्त दुष्कर है ।

चारो संहिताओ मे ऋग्वेद सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण माना जाता है । यह विश्व-साहित्य की प्राचीनतम कृति है । इसे भारतीय संस्कृति, धर्म तथा दर्शन के मूल स्रोत के रूप मे माना जाता है । अपनी प्राचीनता एव वैशिष्ट्यो के कारण यह न केवल हिन्दुओ या भारतीयो की वस्तु है, अपितु सम्पूर्ण विश्व के ऐतिहासिक एव पुरातात्त्विक निधि के रूप मे प्रतिष्ठित है । तैत्तिरीय संहिता मे ऋग्वेद का महत्त्व प्रतिपादित करते हुए कहा गया है - "साम तथा यजुष् के द्वारा किया गया याज्ञिक अनुष्ठान शिथिल होता है, किन्तु ऋक् द्वारा किया गया दृढ होता है ।[2] डॉ राधाकृष्णन् किसी भी भारतीय विचारधारा के सही ज्ञान के लिए ऋग्वेद के सूक्तो का अध्ययन आवश्यक मानते है ।[3] लुई रेनु ने भी ऋग्वेद को सबसे महत्त्वपूर्ण माना है ।[4]

शाब्दिक व्युत्पत्ति (अर्च्यते ऋच्यते अनया सा ऋक्) के अनुसार "ऋक्" उस मन्त्र को कहते है, जिससे स्तुति की जाती है । निरुक्तकार यास्क भी ऋचाओ को शसनात्मक या स्तुतिपरक मानते है ।[5] जैमिनि के अनुसार अर्थवशात् व्यवस्थित पादो वाली रचना ऋक् है ।[6] इससे ऋक् की छन्दोबद्धता प्रमाणित होती है । उव्वटाचार्य का भी यही मन्तव्य है ।[7] विषय की दृष्टि से विचार करने पर ऋग्वेद के सूक्तो मे मुख्यत श्रद्धा तथा भक्तिपूर्वक की गई देवताओ की स्तुतियाँ ही दृष्टिगत

---

1 यद्यपि मन्त्रब्राह्मणात्मको वेद तथापि ब्राह्मणस्य मन्त्रव्याख्यानस्वरूपत्वात् मन्त्रा एवादौ समाम्नाता । सायण - तैत्तिरीयसंहिता की भाष्य-भूमिका

2 यद् वै यज्ञस्य साम्ना यजुषा क्रियते शिथिल तत्, यद् ऋचा तद् दृढमिति । तैत्तिरीय संहिता 6 5 10 3

3 राधाकृष्णन्, डॉ सर्वपल्ली - इण्डियन फिलॉसॉफी (हिन्दी अनुवाद) भाग 1, पृष्ठ 66

4 रेनु लुई - वैदिक इण्डिया, पृष्ठ 2

5 ऋग्भि शसन्ति । निरुक्त 13 7

6 तेषामृग् यत्रार्थवशेन पादव्यवस्था । जैमिनीयसूत्र - 2 1 35

7 नियताक्षरपादावसाना ऋक् । उव्वट - शुक्ल यजुर्वेद-संहिता 1 1

होती है । अत इसके विषय को मूलत धर्म एव अध्यात्म द्वारा अनुप्राणित कहा जा सकता है । स्तुत्यात्मक होने से ऋग्वेद का यज्ञो के साथ गहरा सम्बन्ध है । विभिन्न यज्ञो मे ही देवताओ का आह्वान कर उनकी स्तुति करने का विधान है । इस प्रकार के आह्वानयोग्य देवताओ मे अग्नि, सूर्य, उषा, इन्द्र, मरुत्, पर्जन्य, यम, पृथिवी, द्यौ, बृहस्पति, वाक्, सोम इत्यादि के नाम महत्त्वपूर्ण है । अनेक सूक्तो मे विभिन्न देवताओ को "विश्वेदेवा" के रूप मे एक साथ आहूत कर उनकी स्तुति की गई है । वस्तुस्थिति यह है कि ये देवता न केवल देव है, अपितु किसी न किसी रूप मे प्राकृतिक पदार्थ या दृश्य के मूर्त्त रूप है । इन देवताओ के कुछ निजी वैशिष्ट्य भी है । उदाहरणार्थ – अग्नि को मुख्यत प्रकाशक, गृहपति तथा यज्ञ मे हवन किये गए हविष्य को देवताओ तक प्रेषित करने वाला माना गया है । इन्द्र को शक्ति, युद्ध, वज्रपात तथा असुरो का नाश करने वाले देव के रूप मे प्रतिष्ठित किया गया है । इसी प्रकार पर्जन्य वृष्टि का तथा वरुण दण्ड का देवता है । गुणो की दृष्टि से प्राय सभी देवताओ मे तेज, शक्ति, दान, दया इत्यादि गुण सामान्य रूप से परिलक्षित होते है । इन देवताओ को मानव के रूप मे चित्रित किया गया है । इनके विभिन्न अङ्गो, रथ, अस्त्र तथा गृह इत्यादि की सुन्दर कल्पना की गई है । इन देवो का प्रिय भोज्य पदार्थ हविष्य है । ये सोमप्रिय भी है । अत विभिन्न यज्ञो मे हविष्य एव सोम का ग्रहण करके ये यज्ञ–कर्त्ताओ को धन–पुत्रादि प्रदान करते है ।

ऋग्वेद मे मन से सम्बद्ध कुछ देवो की भी भावना की गई है । इनमे प्रजापति, मन्यु, श्रद्धा, दक्षिणा इत्यादि प्रमुख है । अप्सरा, गन्धर्व तथा ऋभु नामक सामान्य या द्वितीय कोटि के देवताओ के नाम एव स्तुतियाँ भी ऋग्वेद मे उपलब्ध होती है । वहाँ आए "दास" या "दस्यु" शब्द से आदिवासियो के सङ्केत प्राप्त होते है । इसी प्रकार शासन–प्रणाली पर ध्यान देने से ऐसा प्रतीत होता है कि उस समय राजा का पद उच्च एव परम्परागत माना जाता था । इन सभी बातो के अतिरिक्त हमे ऋग्वेद मे दानस्तुतियाँ, द्यूतक्रीडा से सम्बद्ध सूक्त, कुछ आख्यान, यज्ञ–अवसर पर पूछी जाने वाली पहेलियाँ तथा ग्रामीणो के रोग–निवारणार्थ कुछ विशेष प्रकार के सूक्त भी उपलब्ध होते है ।

ऋग्वेद के उक्त प्रतिपाद्यो के आलोक मे एक बात स्पष्टत परिलक्षित होती है कि वैदिक ऋषियो की दृष्टि अत्यन्त व्यापक एव स्पष्ट है । उन्होने जीवन के सार्वभौम सत्यो का साक्षात्कार किया है । यही कारण है कि अन्य संहिताओ मे अधिकतर ऋग्वेद की ऋचाओ की पुनरावृत्ति की

गई है । भारतीय चिन्तनधारा मे ऋग्वेद का आधारभूत महत्त्व है तथा इसके अध्ययन से मात्र वैदिक ऋषियो की दृष्टि का ही ज्ञान हमे नही प्राप्त होता, अपितु परवर्त्ती संहिताओ तथा उपनिषदो के तथ्यो का भी ज्ञान प्राप्त होता है । उपनिषदो की अनेक धारणाएँ वैदिक तत्त्वो के क्रमिक विकास के रूप मे हमारे सम्मुख आती है । यदि इनका सम्यक् परिशीलन किया जाए, तो हमें इनकी गम्भीरता का अवबोध होता है । ऋग्वेद की, आदिम मानव के व्यक्त विचारो, अथ च प्राकृतिक दृष्टि से की गई व्याख्या से इसकी गम्भीरता एव परिनिष्ठित बौद्धिकता का परिज्ञान नही प्राप्त किया जा सकता । अत इसकी तात्त्विक समीक्षा की आवश्यकता है । आधुनिक युग मे अनेक विद्वानो ने इसका तत्त्वपरक परिशीलन किया है । इस दृष्टि से श्री अरविन्द की आध्यात्मिक व्याख्या का महत्त्वपूर्ण स्थान है । इसी शृङ्खला मे महामहोपाध्याय पण्डित मधुसूदन ओझा जी ने वेद मे विज्ञान की सुन्दर उपपत्ति की है । वे वेद को सृष्टिविद्या या सृष्टिविज्ञान के रूप मे मानते है । उन्होंने याज्ञिक परम्परा की भी वैज्ञानिक व्याख्या प्रस्तुत की है । उनकी मौलिक धारणाओ का पल्लवन हमे महामहोपाध्याय गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी की रचनाओ मे दृष्टिगत होता है । डॉ वासुदेवशरण अग्रवाल सदृश चिन्तको ने भी वेद–विद्या की समुचित व्याख्या की है । इस दृष्टि से पण्डित युधिष्ठिर मीमांसक तथा सत्यव्रत सामश्रमी प्रभृति आचार्यों का अवदान भी महत्त्वपूर्ण है ।

शोधकर्त्ता को स्नातक कक्षाओ मे प्रथमत दर्शनशास्त्र तथा वेद के कुछ सूक्तो का अध्ययन करने का सुअवसर प्राप्त हुआ । पुरुष (ऋग्वेद 10 90), हिरण्यगर्भ (ऋग्वेद 10 121) तथा वाक् (ऋग्वेद 10 125) प्रभृति सूक्तो ने अपनी दार्शनिक महत्ता से विशेष रूप से ध्यान आकृष्ट किया । स्नातकोत्तर कक्षा वेद सवर्ग लेकर उत्तीर्ण करते–करते वैदिक दार्शनिकता ने हृदय मे अपना स्थान सुनिश्चित कर लिया । परिणामत "ऋग्वेद के दार्शनिक सूक्तो का आलोचनात्मक अध्ययन" विषयक शोध–प्रबन्ध लिखने हेतु पञ्जीयन करा लिया गया । अध्ययन के लिए दार्शनिक सूक्तो का चयन करते समय पूरे ऋग्वेद का अवलोकन करने पर यह ज्ञात हुआ कि ऋग्वेद का प्रत्येक सूक्त कोई न कोई रहस्य अवश्य उद्घाटित करता है, अत सम्पूर्ण ऋग्वेद ही रहस्यात्मक, किवा दार्शनिक है । ऐसी स्थिति मे एक शोध–प्रबन्ध के रूप मे पूरे ऋग्वेद की दार्शनिक व्याख्या तथा समीक्षा कर पाना अत्यन्त दुष्कर होने के कारण यह विचार किया गया कि मात्र उन्ही सूक्तो का चयन किया जाए, जिनका वाच्यार्थ भी दार्शनिक है । आचार्य बलदेव उपाध्याय ने ऋग्वेद के नासदीय (10129), पुरुष (10 90), हिरण्यगर्भ (10 121) तथा वाक् (10 125) सूक्तो को दार्शनिक गम्भीरता, प्रातिभ अनुभूति

तथा नवीन कल्पना के कारण नितान्त प्रसिद्ध माना है ।[1] डॉ दयानन्द भार्गव भी इन्ही सूक्तो मे दार्शनिक चिन्तन के बीज की उपलब्धि स्वीकार करते है ।[2] अत इन चारो सूक्तों का स्फुट रूप से दार्शनिक होना निर्विवाद है । ऋग्वेद के ही अघमर्षण सूक्त (10 190) मे सृष्टिक्रम का स्पष्ट वर्णन किया गया है । इस दृष्टि से प्रकृत शोध-प्रबन्ध के अध्येय सूक्त के रूप मे उसका भी ग्रहण किया गया है । इसी प्रकार अस्यवामीय सूक्त (1 164) मे सृष्टि विद्या तथा अन्य अनेक दार्शनिक तत्त्वो का पहेली के रूप मे उपपादन किया गया है । अत इस सूक्त को भी अपने अध्ययन का विषय बनाया गया है । इस प्रकार उपर्युक्त छ सूक्तो मे वाच्यार्थ के भी दार्शनिक होने तथा इनकी अत्यन्त प्रसिद्धि के कारण प्रकृत शोध की सीमा को ध्यान मे रखते हुए इनका ही विवेचन करने का प्रयास किया गया है । अध्ययन के सौकर्य-हेतु प्रबन्ध को नव अध्यायो मे विभक्त किया गया है । अध्याय-क्रमानुसार इनका प्रतिपाद्य निम्नवत् है -

ऋग्वेद की दार्शनिकता तथा दार्शनिक सूक्तो पर विचार करने के पूर्व दर्शन की सामान्य अवधारणा तथा इसके अन्तर्गत विवेचित किये जाने वाले विषयो का ज्ञान होना परमावश्यक है । अत प्रथम अध्याय के अन्तर्गत दर्शन एव दार्शनिक चिन्तन का संक्षिप्त रूप प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है ।

द्वितीय अध्याय मे ऋग्वेद की दार्शनिक प्रवृत्तियो का सङ्केत करते हुए उसमे पायी जाने वाली विभिन्न देववादी मान्यताओ की समीक्षात्मक व्याख्या की गई है । वस्तुत ऋग्वेद मे अनेक देवताओ की स्तुतियो का निर्देश होते हुए भी उन देवताओ मे एक ही देवत्व की प्रतिष्ठा की गई है । कहने के लिए तो देव अनेक है, किन्तु उनमे देवत्व की दृष्टि से सर्वथा ऐक्य परिलक्षित होता है । तात्त्विक दृष्टि से ऋग्वेद मे त्रितत्त्ववाद की प्रतिष्ठा की गई है ।

तृतीय अध्याय मे आधुनिक दार्शनिक तत्त्वो के मूल बिन्दुओ या बीजो का ऋग्वेद मे अन्वेषण करने का प्रयास किया गया है । इस दृष्टि से इस अध्याय को तीन भागो मे विभक्त किया

---

1. उपाध्याय, बलदेव - वैदिक साहित्य और संस्कृति, पृष्ठ 138
2. विल्सन - ऋग्वेद संहिता (अग्रेजी-अनुवाद), वाल्यूम 1, सम्पादक - डॉ दयानन्द भार्गव, एडिटर्स नोट, पृष्ठ 26.

गया है । तत्त्वमीमासा के अन्तर्गत ऋग्वेद मे उपलब्ध जगत्, माया, आत्मा, ब्रह्म, मोक्ष तथा ऋत की धारणाओ का सम्यक् प्रतिपादन किया गया है । ज्ञानमीमासा मे ऋग्वेद मे पाए जाने वाले विभिन्न प्रमाणो के सड् केतो को प्रस्तुत किया गया है । अन्तत आचारमीमासा के अन्तर्गत सत्य, अहिंसा एव एकता तथा लोककल्याण की भावनाओ को रेखाड़्कित किया गया है ।

सम्पूर्ण ऋग्वेद मे पाए जाने वाले विभिन्न दार्शनिक तत्त्वो की गवेषणा तथा उनकी समीक्षात्मक व्याख्या करने के उपरान्त चतुर्थ अध्याय मे प्रथम मण्डल के सुप्रसिद्ध अस्यवामीय सूक्त की समीक्षा की गई है । इस सूक्त मे उपलब्ध अनेक दार्शनिक बिन्दुओ को, जो पहेली के रूप मे है, उद्घाटित करने का प्रयास किया गया है । सूक्त मे इतस्तत विकीर्ण एक भाव वाले मन्त्रो को एकत्र करके उनके प्रतिपाद्य को स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है ।

पञ्चम अध्याय मे "पुरुष–सूक्त" के अध्ययन–प्रसड् ग मे "पुरुष" शब्द का तात्त्विक विवेचन तथा सूक्त का परिचय देते हुए सूक्तस्थ विभिन्न तत्त्वो की समीक्षात्मक व्याख्या की गई है । इसी तारतम्य मे सूक्त के कुछ अत्यन्त महत्त्वपूर्ण पदों की सम्यक् व्याख्या करते हुए उनमे निहित प्रतिपाद्य तथ्यो का उद्घाटन किया गया है ।

षष्ठ अध्याय का सम्बन्ध हिरण्यगर्भ–सूक्त से है । इसके अन्तर्गत प्रथमत "प्रजापति" के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए 'हिरण्यगर्भ' का निरूपण किया गया है । इसके पश्चात् दोनो के ऐक्य का प्रतिपादन करते हुए ऋग्वेद के हिरण्यगर्भ सूक्त का परिचय दिया गया है । अन्तत सूक्त मे प्रयुक्त अनेक व्याख्येय पदो की समीक्षात्मक व्याख्या प्रस्तुत करते हुए उनकी तात्त्विकता को प्रकट किया गया है । मन्त्र क वास्तविक भावो को पूर्णत स्पष्ट करने के लिए कही–कही एक पद के स्थान पर अनेक पदो या मन्त्राशो का ही ग्रहण किया गया है ।

सप्तम अध्याय मे वाक्सूक्त को अपने अध्ययन का विषय बनाया गया है । इसके अन्तर्गत सर्वप्रथम वाक् तत्त्व का निरुपण किया गया है । वाक् सूक्त का परिचय देते हुए तृतीय खण्ड मे सूक्तस्थ अनेक पदों की समीक्षात्मक व्याख्या प्रस्तुत की गई है । इन पदों की व्याख्या द्वारा सूक्त के मूल भावो को प्रकाश मे लाने का प्रयास किया गया है ।

प्रबन्ध का अष्टम अध्याय "नासदीय सूक्त" से सम्बद्ध है ।इसमे प्रथमत सूक्त का परिचय

दिया गया है । इसके पश्चात् सूक्तस्थ अनेक पदो की समीक्षा की गई है । अन्तत इसके अन्दर निहित सृष्टिविषयक दश सिद्धान्तो की आलोचनात्मक व्याख्या की गई है ।

नवम अध्याय प्रबन्ध का अन्तिम अध्याय है । इसमे सृष्टि–क्रम के स्पष्ट उद्घाटक अघमर्षण सूक्त का अध्ययन प्रस्तुत किया गया है । सर्वप्रथम सूक्त का परिचय देते हुए इसके कुछ व्याख्येय पदो की समालोचनात्मक व्याख्या प्रस्तुत की गई है। इसके बाद सूक्ताभिमत सृष्टि के क्रम का उल्लेख करते हुए अन्य सृष्टिपरक सूक्तो के साथ उसका तुलनात्मक परिशीलन किया गया है ।

उपसहार मे ऋग्वेद के मूल दार्शनिक दृष्टिकोण को उद्घाटित करने का प्रयास किया गया है ।

प्रबन्ध के परिशिष्ट को दो खण्डो मे विभक्त किया गया है । प्रथम खण्ड मे अधीत दार्शनिक सूक्तो के संहिता पाठ के साथ उनका अविकल हिन्दी–अनुवाद भी दिया गया है । हिन्दी–अनुवाद करते समय यह प्रयास किया गया है कि अनुवाद मौलिक हो तथा वेद–विद्या के पोषक एव अनुकूल हो । इसके द्वितीय खण्ड मे सन्दर्भ, तथा सहायक ग्रन्थो की सूची देकर शोध–प्रबन्ध को सम्पन्न किया गया है ।

इस प्रकार जिस भावना से अनुप्राणित होकर प्रस्तुत शोध–प्रबन्ध को लिखने का सङ्कल्प किया गया था, उसी के अनुरूप इसे सम्पन्न करने का भी प्रयास किया गया है । इस प्रयास मे शोधकर्त्ता को कहाँ तक सफलता मिली है, इसका निर्णय सुधीजन ही कर सकते है ।

अध्याय – 1

दर्शन एवं दार्शनिक-चिन्तन का स्वरूप

(क) 'दर्शन' शब्द की व्याख्या

(ख) दार्शनिक चिन्तन का स्वरूप

(क) **'दर्शन' शब्द की व्याख्या :**

मनुष्य एक विचारशील प्राणी है । विचारशीलता उसका अवियोज्य आकस्मिक गुण है । वह ससार मे जिस किसी पदार्थ अथवा घटना को देखता है उस पर अवश्य ही विचार करता है । यह विचारशीलता ही उसे पशु से भिन्न करती है और दर्शन को जन्म देती है । दर्शन शब्द की निष्पत्ति 'दृश्' धातु से भाव के अर्थ मे "ल्युट् च" (अष्टा 3 3 115) इस पाणिनीयसूत्र के द्वारा 'ल्युट्' प्रत्यय के योग से हुई है । अत इसका अर्थ देखना हुआ । इसका एक अन्य अर्थ – 'दृश्यते अनेन इति दर्शनम्' अर्थात् जिसके द्वारा देखा जाए वह दर्शन है, होता है । इस प्रकार 'दर्शन' का अर्थ 'देखना' और 'देखने का साधन' दोनो सिद्ध होते है ।

दूसरे अर्थ मे दर्शन, दृष्टि को कह सकते है । महाकवि कालिदास ने इसे इसी अर्थ मे प्रयुक्त किया है । 'चिन्ताजड दर्शनम्'[1] आचार्य यास्क ने भी 'दृष्टि' शब्द का प्रयोग दर्शन के अर्थ मे किया है ।[2] योगवाशिष्ठ मे भी 'दृष्टि' का प्रयोग इसी अर्थ मे किया गया है ।[3]

दृष्टि हो जाने के उपरान्त मनुष्य कुछ देखेगा – प्रत्यक्ष करेगा । यही प्रत्यक्षीकरण 'दर्शन' के प्रथम अर्थ को चरितार्थ करता है । इसके भी दो स्वरूप हो सकते है – प्रथम, इन्द्रियजन्य तथा द्वितीय, अन्तर्दृष्टि द्वारा अनुभव ।तात्पर्य यह है कि अभीष्ट अर्थ का प्रत्यक्ष चक्षुरादि स्थूल इन्द्रियो तथा अन्त करण की सूक्ष्म वृत्तियो से भी हो सकता है । इसी प्रत्यक्षीकरण की क्रिया द्वारा ऋषियो का ऋषित्व प्रमाणित होता है । उन ऋषियो ने स्वय धर्म का साक्षात्कार कर अन्य लोगो को उसका उपदेश दिया ।[4] यहाँ धर्म का अर्थ धर्मविशेष न होकर जगत् के मूलतत्त्व से है । अब प्रश्न यह उठता है कि ऋषि या सामान्य जन किस तत्त्व का प्रत्यक्ष करते है ? वह तत्त्व सार्वभौम होना चाहिए । उसमे अन्य सभी अर्थों का अन्तर्भाव भी होना चाहिए । इस् प्रकार विचार करने से यह प्रतीत होता है कि 'सत्य'

---

1 अभिज्ञानशाकुन्तलम् – 4 8

2 एवमुच्चावचैरभिप्रायै ऋषीणा दृष्टयो भवन्ति । यास्क, निरुक्त – 7 1 4

3 ततोऽस्मदादिभि प्रोक्ता महत्यो ज्ञानदृष्टय । योगवाशिष्ठ – 2 16

4 ऋषिर्दर्शनात् । यास्क, निरुक्त – 2 11

साक्षात्कृतधर्माण ऋषयो बभूवु । तेऽवरेभ्योऽसाक्षात्कृतधर्मेभ्य उपदेशेन सम्प्रादु । वही – 1 20

ही एकमात्र ऐसा तत्व है, जो ज्ञान का विषय हो सकता है । यह सत्य परमार्थविषयक ज्ञान है, क्योंकि यह ज्ञान सत्य का परम निधान है ।[1] बृहदारण्यक उपनिषद् मे सत्य को ब्रह्म कहा गया है ।[2] तैत्तिरीयोपनिषद् भी ऐसा ही कहती है ।[3] एक स्थल पर सत्य को आत्मा भी कहा गया है ।[4] भारतीय मनीषा ने सत्य के द्वारा ब्रह्म का जगत् की उत्पत्ति, स्थिति एव उसके नाश के कारण के रूप मे स्पष्ट निर्देश किया है ।[5] श्रीमद्‌भागवत का मङ्गलाचरण भी सत्योपदेशपरक है ।[6] मुण्डकोपनिषद् के अनुसार आत्मज्ञान सत्य द्वारा ही हो सकता है ।[7] इसी सत्य की गवेषणा एव आचरण को भारतीय दर्शन मे जीवन का लक्ष्य बनाया गया है । मन्त्रो, ब्राह्मणो एव उपनिषदो मे प्रतिष्ठित सम्पूर्ण वैदिक दर्शन इसी तथ्य की ओर सङ्केत करता है । ऋत, यज्ञ और ब्रह्म सत्य के ही स्वरूप है ।[8] इसका साक्षात्कार करने के कारण ही वैदिक ऋषियो को ऋतस्पर्शी कहा गया है ।[9] सत्य को ज्ञान का अन्तिम आदेश माना गया है ।[10] ऋषि वामदेव ने तो सम्भवत उस परम सत्य का साक्षात्कार गर्भावस्था मे ही कर लिया था, जैसा कि उन्होने उसी समय उद्‌घोष किया था ।[11] सत्य की इस प्रकार की अनुसन्धित्सा आदर्श एव व्यवहार दोनो मे, बौद्धिक रूप मे तथा जीवन की सर्वतोमुखी साधना के रूप मे भी

---

1 तत्सत्यस्य परम निधानम् । मुण्डकोपनिषद् – 3 1 6

2 सत्य ब्रह्म । बृहदारण्यक – 5.5.1

3 सत्य ज्ञानमनन्त ब्रह्म । तैत्तिरीय – 2 1 1

4 तत्सत्य स आत्मा । छान्दोग्योपनिषद् – 6 8 7

5 ॐ तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविध स्मृत । गीता –17 23

6 धाम्ना स्वेन सदा निरस्तकुहक सत्य पर धीमहि । श्रीमद्‌भागवत – 1 1 1

7 सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा । मुण्डक 3 1 5

8 सत्य यज्ञस्तपो वेदा स्तोमा मन्त्रा सरस्वती ।
सत्य वेदेषु जागर्ति फल सत्ये पर स्मृतम् ।।
महाभारत शान्तिपर्व – 199 68

9 बृहस्पते या परमा परावदत् आत ऋतस्पृशो निषेदु । ऋग्वेद – 4 50 3

10 सत्यमेव सौम्य स आदेशो भवतीति । छान्दोग्योपनिषद् – 6 1 6

11 अह मनुरभव सूर्यश्चाह कक्षीवॉ ऋषिरस्मि विप्र । ऋग्वेद – 4 3 26

भारत की सम्पूर्ण चिन्तन–परम्परा को पूर्णत आवृत कर लेती है । यही परमार्थविषयक गवेषणा और उसे उपलब्ध कराने वाली विद्या हमारे लिए ब्रह्मविद्या, सत्यविषयक विद्या अथवा श्रेष्ठ विद्या है, जो हमारी सभी विद्याओ की प्रतिष्ठा है ।[1] यह विद्या दर्शनगम्य है । प्रो सङ्गमलाल पाण्डेय के अनुसार "दर्शन वह विद्या है, जिसको जान लेने से अप्रत्यक्ष प्रत्यक्ष हो जाता है, अविचारित विचारित हो जाता है और अज्ञात ज्ञात हो जाता है ।"[2]

दर्शन के सम्बन्ध मे डॉ राधाकृष्णन् का कथन है – "दर्शन एक ऐसा आध्यात्मिक ज्ञान है, जो आत्मा रूपी इन्द्रिय के समक्ष सम्पूर्ण रूप मे प्रकट होता है । यह आत्मदृष्टि वही सम्भव है, जहाँ दर्शनशास्त्र का अस्तित्व है । इस प्रकार दर्शनशास्त्र के विषय मे उच्चतम विजय उन्ही व्यक्तियो को प्राप्त हो सकती है, जिन्होने अपने अन्दर आत्मा की पवित्रता को प्राप्त कर लिया है ।"[3]

इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि दर्शन विविध आयामो मे होता हुआ मूलत सत्य या परमार्थ का ही प्रत्यक्ष है ।

(ख) **दार्शनिक-चिन्तन का स्वरूप**

भारतीय दर्शन एक गहरी आध्यात्मिक भावना से अनुप्राणित रहा है तथा उसमे मात्र कौतुकवश जगत् के रहस्यो को खोलने की व्यग्रता नही दृष्टिगत होती है । वस्तुत दार्शनिक चिन्तनका मूल, जीव की प्रेरणाओ तथा जगत् के रहस्यो मे ही निहित है । मानव जीवन की मूल प्रेरणाओ तथा प्राकृतिक जगत् की व्यवस्थाओ के समान होने के कारण प्राय सभी देशो के दार्शनिक चिन्तन की समस्याएँ समान है । प्रत्येक देश की प्रतिभा, सस्कृति एव परम्परा मे पार्थक्य होने के कारण कही–कही दार्शनिक दृष्टिकोणो एव लक्ष्यो मे भी भेद दृष्टिगत होता है । भारत मे वेदो को आगम प्रमाण के रूप मे स्वीकार किया गया है । इसके साथ ही स्वतन्त्र चिन्तन को भी प्रोत्साहन दिया जाता रहा है,जिसके परिणाम–स्वरूप अनेक दार्शनिक सम्प्रदायो का उद्भव एव विकास हुआ । इन सम्प्रदायो मे सैद्धान्तिक मतभेद

---

1 ब्रह्मविद्या सर्वविद्याप्रतिष्ठाम् । मुण्डकोपनिषद् – 1 1 1

2 पाण्डेय, सङ्गमलाल । भारतीय दर्शन की कहानी, पृष्ठ 1

3 राधाकृष्णन् सर्वपल्ली, इन्डियन फिलॉसफी, वाल्यूम – 1 का हिन्दी अनुवाद, पृष्ठ 38

होते हुए भी उनकी मूल आत्मा एक है । डॉ देवराज के अनुसार "जीवन के परमार्थ और उसकी प्राप्ति के साधनो की खोज सभी दर्शनो का समान लक्ष्य है ।"[1]

भारतीय दर्शन मे विश्व की बौद्धिक व्याख्या की अपेक्षा आध्यात्मिक सत्य को अधिक महत्व दिया गया है । आध्यात्मिक सत्य ही चरम सत्य है तथा उसी के परिप्रेक्ष्य मे जीवन का सस्कार श्रेय है । अधिकाश दर्शनो मे आत्मज्ञान को ही जीवन का चरम लक्ष्य माना गया है । दार्शनिक चिन्तन की परिधि का निर्देश हमे 'कूर्म पुराण' के उस अश मे प्राप्त होता है,[2] जिसमे यह जिज्ञासा की गई है कि यह सब कुछ दृश्यमान क्यो है ? ससरणशील कौन है ? आत्मा और मुक्ति क्या है ? ससार का प्रयोजन क्या है ? ससार का शासक कौन है ? कौन सब कुछ देखता है ? तथा परब्रह्म क्या है ? यद्यपि भारतीय दर्शन मे इन सभी तत्वो का पृथक्–पृथक् विवेचन किया गया है, किन्तु मुख्यत अध्यात्म–विद्या या मोक्षशास्त्र तथा ज्ञान–मीमासा या प्रमाणशास्त्र से सम्बन्धित विषयो पर विशेष ध्यान दिया गया है । इनके अन्तर्गत नीतिगत, कलात्मक और आध्यात्मिक सभी तरह के तत्वो या मूल्यो का समावेश हो जाता है ।

भारतीय दर्शन मे न केवल सत्य का स्वरूप–निरूपण किया गया है, अपितु उसके व्यावहारिक पक्ष पर भी बल दिया गया है । उसमे चरम सत्यरूप अध्यात्मतत्त्व की सिद्धि को नि श्रेयस् या मोक्ष माना गया है । मोक्ष जीवन का चरम लक्ष्य है । यद्यपि विभिन्न दर्शनो मे इस चरम लक्ष्य के स्वरूप तथा उसकी प्राप्ति के साधनो की कल्पना भिन्न–भिन्न रूपो मे की गई है, किन्तु सभी भौतिक बन्धनो और लौकिक बाधाओ से आत्मा की मुक्ति को अपना आध्यात्मिक लक्ष्य स्वीकार करते है तथा उसकी प्राप्ति मे ही जीवन की कृतार्थता मानते है । श्री भरतसिह उपाध्याय के अनुसार "भारतीय दर्शन के

---

1 डॉ देवराज, न कि एव डॉ.तिवारी, रामानन्द – भारतीय दर्शनशास्त्र का इतिहास, पृष्ठ 18

2 कि कारणमिद कृत्स्न को नु ससरते सदा,
कश्चिदात्मा च का मुक्ति ससार कि निमित्तक ।
क ससार इतीशान को वा सर्व प्रपश्यति,
कि तत्परतर ब्रह्म सर्व नो वक्तुमर्हसि ।।
कूर्म पुराण उत्तरार्द्ध 1 24

प्रकृत विषय है– परम तत्त्व के दर्शन करना, दु ख की आत्यन्तिक निवृत्ति का मार्ग ढूँढना और उसकी तात्त्विक व्याख्या करना एव मनुष्यत्व की वास्तविक महिमा का साक्षात्कार करना एव उसे विस्तारित करना ।"[1]

भारतीय दर्शन के सभी प्रस्थान दु खमय ससार–चक्र से मुक्ति को ही मोक्ष मानते है। सभी दर्शनो के अनुसार अज्ञान दु ख का मूल है और ज्ञान मोक्ष का साधन है। अज्ञान से अहड्कार उत्पन्न होता है और अहड्कार से कर्तृत्व – भावना। इसी कर्तृत्व – भावना के कारण जीव, कर्म–फल का भोक्ता बनता है। अत अज्ञान को ही सासारिक बधन एव दु खो का मूल माना गया है। तत्त्व ज्ञान से ही इस दु खमय ससार – बधन से मुक्ति मिल सकती है। ज्ञान से अहड्कार और कर्तृत्व–भाव का नाश होकर जीव को मुक्ति मिलती है।

चार्वाक दर्शन के अनुसार केवल जड पदार्थ (चार महाभूत), जैन दर्शन के अनुसार जीव–अजीव, बौद्ध दर्शनो के अनुसार विज्ञान, शून्य आदि, साख्य-योग के अनुसार प्रकृति–पुरुष, न्याय वैशेषिक के अनुसार सोलह या सात पदार्थ, मीमासा के अनुसार पदार्थ, जगत् और आत्मा, अद्वैत वेदान्त के अनुसार केवल ब्रह्म तथा विशिष्टताद्वैत के अनुसार ब्रह्म, जीव और जगत् तत्त्वत सत्य हैं।

उक्त सभी दर्शनो मे ज्ञान को सर्वाधिक महत्त्व दिया गया है। जैन दर्शन मे सम्यक् ज्ञान मोक्ष के साधनो मे अन्यतम है। बौद्ध दर्शन मे अविद्या को ही दु ख का मूल कारण माना गया है तथा ज्ञान द्वारा ही निर्वाण की प्राप्ति स्वीकार की गई है। साख्य–योग मे पुरुष के कैवल्य को मोक्ष तथा प्रकृति–पुरूष के विवेकज्ञान को उसका साधन माना गया है। न्याय–वैशेषिक आत्मा की चेतनातीत अवस्था मे आत्यन्तिकी दु ख–निवृत्ति को ही मोक्ष मानते है तथा न्याय के सोलह एव वैशेषिक के सात पदार्थों के लक्षण–साधर्म्य–वैधर्म्य–ज्ञान सहित तत्त्व ज्ञान को उसका साधन स्वीकार करते है। अद्वैत वेदान्त मे ब्रह्म–प्राप्ति को मोक्ष माना गया है, जो आत्मा के वास्तविक स्वरूप–ज्ञान द्वारा ही सम्भव है। विशिष्टाद्वैत मे भक्ति को ही चरम लक्ष्य माना गया है, किन्तु रामानुज की भक्ति भगवान् का ज्ञान-विशेष ही है। प्राय मीमासको का मोक्ष सम्बन्धी सिद्धान्त यद्यपि कुछ भिन्न प्रकार का है, किन्तु स्वर्ग मे दु ख की निवृत्ति तो वे मानते ही है, चाहे वह आत्यन्तिक भले ही क्यों न हो।

---

1 उपाध्याय, भरत सिह– बौद्ध दर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन, प्रथम भाग, पृ 102

इस प्रकार भारतीय दर्शन मे ज्ञान द्वारा अज्ञान के नाश के साथ–साथ समस्त दु खो एव कर्म–बन्धनो का उच्छेद करते हुए मुक्ति को चरम लक्ष्य के रूप मे स्वीकार किया गया है। भारतीय मनीषियो ने ज्ञान एव जीवन को पृथक्–पृथक् न देखकर उन्हे समग्र रूप मे ही देखने का प्रयास किया है। यही कारण है कि भारतीयो के लिए दर्शन बौद्धिक चिन्तन तथा नैतिकता से पर्याप्त ऊपर उठा हुआ एक ऐसा जीवन–पथ है, जो सत्य को वास्तविक रूप मे उद्भासित कर देता है।

अध्याय - 2

ऋग्वेद मे दार्शनिक चिन्तन की पृष्ठभूमि

(क) सामान्य-प्रवृत्ति

(ख) बहुदेववाद

(ग) एकाधिदेववाद

(घ) एकदेववाद

(ड) वैदिक अद्वैतवाद

(च) त्रितत्त्ववाद

(क) सामान्य प्रवृत्ति –

भारत दार्शनिक चिन्तन के लिए प्राचीन काल से ही प्रसिद्ध रहा है। विश्व को दार्शनिकता की ओर उन्मुख एव प्रगतिशील करने मे इसका महत्त्वपूर्ण योगदान है। दर्शन की पृष्ठभूमि पर ही सस्कृति के क्षेत्र मे भी यह अग्रगण्य है। ऋग्वेद विश्व–साहित्य की सबसे प्राचीन रचना है। मानव–मस्तिष्क के धार्मिक और दार्शनिक विचारो का सबसे प्रथम वर्णन ऋग्वेद मे ही उपलब्ध होता है। डॉ देवराज ने भी भारतीय दर्शन का आरम्भ वेदो से माना है।[1] डॉ राधाकृष्णन् का कहना है कि "किसी भी भारतीय विचारधारा की सही–सही व्याख्या के लिए ऋग्वेद के सूक्तो का अध्ययन अनिवार्य रूप से आवश्यक है।"[2] यदि वेदो को अपरिपक्व रचना माना जाये, तब भी भारतीय आर्यों के उत्तरकालीन धार्मिक क्रिया–कलापो तथा दार्शनिक ज्ञान के आदिस्रोत होने के साथ ही साथ वे परवर्त्ती विचारधारा को भलीभाँति समझने मे भी सहायता करते है।

वस्तुत मनुष्य ने जब से इस पृथिवी पर आँखे खोलकर अपने आस–पास के वातावरण को देखना और जानना प्रारम्भ किया, तभी से उसे अपने ऊपर एक ऐसी शक्ति का ज्ञान होता रहा है, जो विभिन्न रूपो मे उसके जीवन मे साधक या बाधक की भूमिका निभाती रही है। इस प्रकार उक्त शक्ति को उसने अपने से अधिक समर्थ समझते हुए उसके समक्ष नतमस्तक होकर कृतज्ञता–ज्ञापन किया अथवा उससे सहायता मागने या उसके क्रोध की शान्ति–हेतु स्तुतियाँ की। इस प्रकार स्तोता, स्तुति तथा स्तुत्य की शृङ्खला बन गई।

भारत जैसे प्रभूत प्राकृतिक सौन्दर्यों से परिपूर्ण देश मे दर्शन का आरम्भ प्रकृति–काव्य के रूप मे होना स्वाभाविक था। आर्यजन उषा–अरुण, दिवा–रात्रि, आकाश–अन्तरिक्ष, पृथ्वी–सागर, सूर्य–चन्द्र, तारा–ग्रह, नदी–पर्वत, तरु–पादप, वायु–मेघ, अग्नि–जल, सभी को देवताओ का स्वरूप देकर उनकी पूजा करते थे। डॉ वेणीमाधव वडुआ के अनुसार वैदिक युग मे "दर्शन" शब्द के लिए "उक्थ" शब्द का प्रयोग होता था और दार्शनिको के लिए "कवि" शब्द का।[3] इसीलिए ऋषि दीर्घतमा

---

1 डॉ देवराज, न कि एव डॉ तिवारी रामानन्द– भारतीय दर्शनशास्त्र का इतिहास, पृ 13

2 डॉ राधाकृष्णन्, सर्वपल्ली– इन्डियन फिलॉसॉफी,भाग–1 का हिन्दी अनुवाद, पृ 59

3 डॉ वडुआ, वेणीमाधव– प्री बुद्धिस्टिक इन्डियन फिलॉसॉफी, पृ 5,6 बौद्ध दर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन,प्रथम भाग, पृ 101पर उद्धृत।

तत्वज्ञानार्थ कवि से प्रार्थना करते है।[1] डॉ वडुआ ने सन्देह अथवा जिज्ञासा को उक्थ की आत्मा माना है।[2] आगे चलकर दर्शन की प्रवृत्ति को वात्स्यायन[3] तथा वाचस्पति मिश्र[4] ने भी सन्देह मे ही स्वीकार किया है। आदि पुरुष की तरह आदि विचार भी कब जन्म लेकर प्रथम बार इस जगत् मे आया, इसे किसी ने नही देखा। कौन इसे उस विद्वान् से पूछने गया, जो जानता था ?[5]

"एकोऽह बहु स्याम" इस कामना के रूप मे विचार अथवा सङ्कल्प द्वारा ही तो यह सृष्टि हो पाई।[6] इस प्रकार इस मौलिक विचार के आदि को जान पाना मानव के लिए सम्भव नही प्रतीत होता है, क्योकि वह स्वय भी विचार की ही प्रतिकृति है। वस्तुत भारत किस आदि युग मे सर्वप्रथम आध्यात्मिक चिन्तन मे प्रवृत्त हुआ, यह निश्चित रूप से बता पाना सम्भव नही। डॉ वडुआ[7] ने दर्शन को मानव–मस्तिष्क की सशयात्मिका या जिज्ञासात्मिका वृत्ति के रूप मे आरम्भ की अपेक्षा से रहित एक शाश्वत शास्त्र माना है, किन्तु ज्ञान की एक विशेष शाखा के रूप मे या विचार की एक विशेष पद्धति के रूप मे उन्होने उसका आरम्भ दिखाया जाना भी स्वीकार किया है। प्रारम्भिक मानव–समाज मे भी भूख, इच्छा और वार्धक्य की समस्याएँ तो रही ही होगी। मृत्यु ने भी अवश्य ही ध्यान आकृष्ट किया होगा। वियोग की स्थिति अवश्य ही बनी होगी। इन समस्त परिस्थितियो का निराकरण करने के लिए उसने निश्चित रूप से विचार किए होगे।

भारत के लम्बे इतिहास मे ऐसा कोई भी युग दृष्टिगत नही होता, जिसमे भारतीयो के मन ने प्रकृति, परमेश्वर और जीवन–सम्बन्धी समस्याए उत्पन्न न हुई हो और इन पर उन्होने विचार न

---

1 कवीन् पृच्छामि विद्मने न विद्वान्। ऋ 1 164 6

2 प्री बुद्धिस्टिक इन्डियन फिलॉसॉफी, पृ 6

3 नानुपलब्धे न निर्णीतेऽर्थे न्याय प्रवर्तते, किन्तु सन्दिग्धे। न्याय भाष्य, 1 1 1

4 जिज्ञासया प्रयोजने सूचयति। भामती– 1 1 1

5 क्व स्वित् को विद्वासमुप गात् प्रष्टुमेतत्। ऋग्वेद– 1 164 4

6 कामस्तदग्रे समवर्तत। ऋग्वेद– 10 129 4

7 Philosophy as a doubting process of the human mind is eternal. As a structure of thought it has its beginnings

डॉ वडुआ– प्री बुद्धिस्टिक इन्डियन फिलॉसॉफी, पृष्ठ 2

किया हो। ऋग्वैदिकउपासको द्वारा इन्द्र का अस्तित्व भी सशय से परे नही रह सका।[1] ऋग्वेद मे ही हम ऋषियो को सृष्टि के विषय मे जिज्ञासा करते देखते है– प्रथम भावविकार प्राप्त को किसने देखा है, जिस सावयव को निरवयव ने धारण किया था?[2] कौन इस बात को वास्तविक रूप से जानता है और कौन इस लोक मे सृष्टि की उत्पत्ति के बारे मे बता सकता है कि यह विविध प्रकार की सृष्टि किस उपादान कारण से और किस निमित्त कारण से सब ओर से उत्पन्न हुई है?[3] इतना ही नही, हम ऋग्वेद मे ऋषियो को जीवन के अस्तित्व के विषय मे भी कभी–कभी ऐसे गम्भीर और महत्त्वपूर्ण विचार करते हुए देखते है, जो आज इतने दार्शनिक विकास के बाद भी नए जैसे प्रतीत होते है। क्रान्तदर्शी ऋषियो ने अस्तित्व–रूप से विद्यमान जगत् के बन्धन के कारण को अपनी बुद्धि से हृदय मे विचारकर सद्विलक्षण कारण मे ढूँढ लिया।[4]

इन सुस्पष्ट दार्शनिक विचार–बिन्दुओ के अतिरिक्त वैदिक ऋषियो द्वारा वरुण देवता को समर्पित मन्त्रो मे भी हमे कुछ ऐसे तथ्य उपलब्ध होते है, जो दार्शनिक पृष्ठभूमि से ओत–प्रोत है। ऋषि कहता है– ह भगवान् वरुण। वह मेरा जानकर किया हुआ पाप, प्रवृत्ति मे कारण न था। वह देव–गति ही थी। वह प्रमाद–कारिणी सुरा ही थी। अनर्थ का हेतु क्रोध ही था। वह द्यूत का साधन अक्ष था। मेरा अज्ञान था।[5] ------हे वरुण! आपके लिए की हुई यह मेरी स्तुति आपके हृदय मे भलीभाँति प्रवेश करे। हमारे योग और क्षेम मे उपद्रवो का शमन हो और हे देवो! सदा शान्ति से हमारी रक्षा करो।[6] इन उद्धरणो से यह प्रतीत होता है कि ऋग्वेद के ऋषि जीवन की विविध समस्याओ से पूर्णत अवगत थे तथा उनके निदानार्थ वे चिन्तित रहा करते थे।

----

1 य स्मा पृच्छन्ति कुह सेति घोरमुतेमाहुर्नैषो अस्तीत्येनम्। ऋ 2 12 5

2 को ददर्श प्रथम जायमानमस्थन्वन्त यदनस्था बिभर्ति। ऋग्वेद– 1 164 4

3 को अद्धा वेद क इह प्रवोचत् कुत आजाता कुत इय विसृष्टि । ऋ 10 129 6

4 सतो बन्धुमसति निरविन्दन् हृदिप्रतीष्या कवयो मनीषा। ऋ 10 129 4

5 न स स्वो दक्षो वरुण ध्रुति सा सुरा मन्युर्विभीदको अचित्ति ।
अस्ति ज्यायान् कनीयस उपारे स्वप्नश्चनेदनृतस्य प्रयोता।। ऋ 7 86 6

6 अय सु तुभ्य वरुण स्वधावो हृद स्तोम उपश्रितश्चिदस्तु।
श न क्षेमे शमु योगे नो अस्तु यूय पात स्वस्तिभि सदा न ।। ऋ 7 86 8

ऊपर ऋग्वेद मे इतस्तत विकीर्ण जिन दार्शनिक तथ्यो की चर्चा की गई है, वे अकस्मात् ऋषियो की विचार–सरणि मे नही आ गए, अपितु इसके पहले एक ऐसा भी स्वरूप है, जिसके मूल मे हमे धार्मिकता के दर्शन होते है। तात्पर्य यह है कि धार्मिक विचारो ने ही आगे चलकर दार्शनिकता का रूप ग्रहण कर लिया। यह इससे भी स्पष्ट होता है कि भारत मे कोई भी ऐसा धर्म नही है, जिसने आगे चलकर दर्शन का रूप न ग्रहण कर लिया हो, अथवा जिसका अपना कोई दर्शन न हो। डॉ राधाकृष्णन् के शब्दो मे " धर्मविषयक समस्याओ से दार्शनिक भावना को उत्तेजना मिलती है।[1] हिरियन्ना ने भारत मे धर्म को दर्शन के रूप मे उसी अर्थ मे माना है, जिसमे धर्म का लक्षण यह हो कि वह सम्यक् जीवन की प्रगति मे सहायक होता है।[2]

पाश्चात्त्य विचारक हेगल ने भी धर्म को दर्शन से सम्बद्ध माना है। उनके अनुसार जब भी दर्शन धर्म को उद्घाटित करता है, वह स्वय को उद्घाटित करता है तथा अपना उद्घाटन करते समय वह धर्म का उद्घाटन करता है।[3]

इसी प्रकार मूल वैदिक–दर्शन भी धर्म से सम्पृक्त है। आमतौर से विभिन्न देववादी प्रवृत्तियो ने ही दर्शन का रूप धारण कर लिया। यद्यपि ये प्रवृत्तियाँ मौलिक रूप से धर्म से ही सम्बद्ध है, तथापि दार्शनिक परिप्रेक्ष्य मे भी इनका कम महत्त्व नहीं है। प्रो हिरियन्ना के शब्दो मे– इनका मूल जो भी रहा हो, ये दर्शन के विद्यार्थी के लिए अत्यधिक महत्त्व रखती है, क्योकि इनमे अधिकाश उत्तरकालीन भारतीय विचारो के अकुर मिलते है।[4]

अनेक आचार्यों ने ऋग्वेद की उक्त देववादी प्रवृत्तियो के विकास-क्रम का सम्यक् निरूपण किया है। डॉ राधाकृष्णन् इस विकास के क्रम को प्राकृतिक बहुदेवतावाद, एकेश्वरवाद और अद्वैतवाद के रूप मे स्वीकार करते है।[5] प्रोफेसर मैक्समूलर ने बहुदेवतावाद तथा एकेश्वरवाद के मध्य मे एक

---

1 डॉ राधाकृष्णन्,सर्वपल्ली, इन्डियन फिलॉसॉफी, भाग–1 का हिन्दी अनुवाद, पृ 22

2 हिरियन्ना एम , भारतीय दर्शन की रूपरेखा, पृ 14

3 Philosophy, therefore, only unfolds itself when it unfolds religion, and in unfolding itself it unfolds religion.

चटर्जी,सतीशचन्द्र, द प्राब्लम्स ऑफ फिलॉसॉफी, पृ 30 पर उद्धृत।

4 हिरियन्ना एम , भारतीय दर्शन की रूपरेखा, पृष्ठ 36

5 डॉ राधाकृष्णन् एस., इन्डियन फिलॉसॉफी, भाग 1, का हिन्दी अनुवाद, पृष्ठ 64

और शृड्खला के रूप मे हीनोथीज्म या केथेनोथीज्म को प्रतिपादित किया है।[1] यहाँ इन सभी प्रवृत्तियो की समीक्षात्मक व्याख्या की जा रही है।

(ख) बहुदेववाद (POLYTHEISM)

यह शब्द अग्रेजी के पोलीथीज्म (Polytheism)का हिन्दी रूपान्तर है, जिसकी निष्पत्ति ग्रीक भाषा के दो शब्दो– पोलस (Polus) तथा थियोस (Theos) के योग से हुई है। क्रमश इन दोनो शब्दो का अर्थ – अनेक (Many) तथा ईश्वर (God) होता है।[2] इस प्रकार इसका तात्पर्य अनेक देवताओ को मानते हुए उनकी आराधना करने से है। वस्तुत यह विचारधारा एकदेववादी प्रवृत्ति का विरोध प्रकट करती है। ऋग्वेद के ऋषियो ने इस जगत् के प्रत्येक कण मे दिव्य शक्ति का साक्षात्कार किया था। उस साक्षात्कार के अनन्तर जो उन्होने स्तुतियाँ की, वे उनकी बहुदेववादिता की आधारशिला के रूप मे प्रतिष्ठित हुई।

वैदिक ऋषियो का हृदय विभिन्न प्राकृतिक दृश्यो की विचित्रताओ से अत्यधिक प्रभावित हुआ था। वे मनोहारिणी उषा, उगते हुए सूर्य, चन्द्र और तारो की सुषमा से अभिभूत हो गए थे। इनके अतिरिक्त विद्युत् की दीप्ति, मेघो की गर्जना इत्यादि भयावह दृश्यो ने उनमे भय भी उत्पन्न कर दिया। परिणामस्वरूप उन्होने सभी प्राकृतिक दृश्यो मे देवत्व की भावना कर के उनसे अपनी रक्षा तथा सुख–समृद्धि की कामना की। ऋषियो द्वारा की गई इस प्रकार की प्रकृति–पूजा को डॉ राधाकृष्णन् ने वैदिक धर्म का प्रारम्भिक रूप स्वीकार किया है।[3]

अब प्रश्न उठता है कि ऋग्वेद मे कुल कितने देवताओ को स्वीकार किया गया है? इस सम्बन्ध मे ऋग्वेद के ही एक मन्त्र[4] मे 33 देवताओ को मधुपेय–ग्रहण करने हेतु बुलाया गया

---

1 मैक्समूलर एफ , द सिक्स सिस्टम्स ऑफ इन्डियन फिलॉसॉफी, पृ 40

2 वर्ब्लोस्की आर जे ज्वी , एनसाइक्लोपीडिया ऑफ रिलीजन, वाल्यूम–11, पृ 436

3 This worship of nature as such is the earliest form of Vedic religion.
डॉ राधाकृष्णन् एस , इन्डियन फिलॉसॉफी, भाग–1, पृ 73

4 आ नासत्या त्रिभिरेकादशैरिह देवेभिर्यात मधुपेयमश्विना। ऋ 1 34 11

है । अन्यत्र[1] अग्नि से 33 देवो को साथ लेकर आने की प्रार्थना की गई है । ऋग्वेद मे ही एक स्थल[2] पर देवताओ को तीन स्थानो पर ग्यारह-ग्यारह सख्याओ मे प्रतिष्ठित कर के उनसे यज्ञ को स्वीकार करने की प्रार्थना की गई है । एक अन्य मन्त्र[3] मे अग्नि से सपत्नीक 33 देवताओ को यज्ञ मे लाकर उनके साथ सोमरस का आनन्द लेने की प्रार्थना की गई है । इन सख्याओ के विपरीत एक स्थान पर[4] कहा गया है कि 3339 देवताओ ने अग्नि की पूजा की । शकुन्तला ने निम्नलिखित देवताओ को ऋग्वेद मे प्रधान रूप से उल्लिखित माना है – इन्द्र, अग्नि, सोम, वायु, सूर्य, मित्र, वरुण, विष्णु, उषा, अश्विनद्वय, पूषा, रुद्र, प्रजापति, यम, पर्जन्य, अर्यमा, मरुद्गण, ब्रह्मणस्पति या बृहस्पति, सरस्वती, अदिति, आदित्यगण, ऋभुगण, इला, त्वष्टा, सविता, इन्द्राणी, वरुणानी, आग्नेयी, वसुगण, मातरिश्वा, वैश्वानर तथा भारती ।[5] वस्तुत देवताओ की सख्या चाहे जितनी स्वीकार की जाए, किन्तु एक तथ्य तो सुस्पष्ट है कि ऋग्वेद मे बहुत से देवताओ की स्तुतियाँ की गई है । इनमे से सभी नही तो अधिकाश देवता प्राकृतिक शक्तियो के मूर्त रूप मे प्रतिष्ठित है । भारतीय आर्य ऋषियो का इन प्राकृतिक उपादानो को देवत्व प्रदान करना एक मनोवैज्ञानिक आवश्यकता थी, क्योकि ऐसे समय मे जब वे प्रथमत सभी दृष्ट भौतिक पदार्थों मे अलौकिक शक्ति की भावना कर रहे थे, उनसे किसी एक देवता के अस्तित्व पर विश्वास करने की अपेक्षा नही की जा सकती । किसी भी सभ्यता के विकास के प्रथम चरण मे आसपास के पर्यावरण तथा भौतिक पदार्थों एव शक्तियो का महत्त्वपूर्ण स्थान होता है। इनकी आवश्यकता दैनिक जीवन मे पडती रहती है । कुछ स्थितियो मे इनका प्रत्यक्ष भी नही किया जा सकता तथा इनकी गति के रहस्य को भी नही उद्घाटित किया जा सकता । ऐसी परिस्थिति मे

---

1 तान् रोहिदश्व गिर्वणस् त्रयस्त्रिशतमावह । (ऋ 1 45.2)

2 ये देवासो दिव्येकादश स्थ पृथिव्यामध्येकादश स्थ ।
अप्सु क्षितो महिनैकादश स्थ ते देवासो यज्ञमिम जुषध्वम् । (ऋ 1 139 11)

3 ऋ 3 6 9

4 त्रीणि शता त्रीसहस्राण्यग्नि त्रिशच्च देवा नव चासपर्यन् । (ऋ 3 9 9)

5 शकुन्तला आर , एस्पिरेशन्स फ्राम ए फ्रेश वर्ल्ड, पृष्ठ 28

उन्हे दैवी शक्ति मानते हुए उनसे अपने सड्कट मे साहाय्य की याचना करना युक्तियुक्त प्रतीत होता है। वैदिक ऋषियो ने प्रात काल पूर्वी क्षितिज से सूर्य को निकलते हुए देखा, जो अन्धकार का नाश कर रहा था । इस पर उन्हे अवश्य आश्चर्य हुआ होगा । यही नही, उन्होने सूर्य को बिना किसी पक्षपात के ही सर्वत्र अपनी किरणो को विकीर्ण करते हुए भी देखा । यह क्रम प्रतिदिन चलता था । इसकी गति को रोकने मे एक क्षण के लिए भी कोई समर्थ नही प्रतीत होता था । ऋषियो ने इन सब वैशिष्ट्यो पर विचार किया । उन्होने देखा कि सविता स्वर्णिम रथ पर बैठकर कृष्णमय अन्तरिक्ष से होता हुआ, देवताओ तथा मनुष्यो को अपने–अपने कार्यों मे प्रवृत्त करता हुआ समस्त लोको को देखते हुए आ रहा है ।[1] वह अपनी महिमा से तीन बार अन्तरिक्ष के चारो ओर, तीन बार प्रकाशवान् तीनो लोको के चारो ओर, तीन बार द्युलोक के चारो ओर तथा तीन बार पृथिवी के चारो ओर व्याप्त रहता है ।[2] वह सबसे पहले देवताओ को अमरता, हविः प्रदाता को प्रकाश तथा मनुष्यो को लम्बा जीवन प्रदान करता है ।[3] उन्होने देखा कि सविता ने यन्त्रो द्वारा पृथिवी को स्थिर किया है तथा बिना स्तम्भ के ही द्युलोक को धारण किया है ।[4] वह प्रभूत धन वाला है तथा जगम एव स्थावर दोनो को नियन्त्रित करता है ।[5] इस प्रकार के सविता को ऋषियो ने एक महत्त्वपूर्ण तत्त्व मानते हुए उससे अपने कल्याणादि की याचना की ।

इसी प्रकार उन्होने देखा कि जब पर्जन्य अपने जल से पृथिवी की रक्षा करता है, उस समय वृष्टि के लिए हवाएँ चलती है, बिजलियाँ गिरती है, वनस्पतियाँ अड्कुरित होती है, अन्तरिक्ष जल की बूँदो को टपकाता है तथा भूमि सारे ससार के हित–साधन मे समर्थ हो जाती है[6], अत पर्जन्य

---

1 आ कृष्णेन रजसा वर्तमानो निवेशयन्नमृत मर्त्यं च ।
हिरण्ययेन सविता रथेना देवो याति भुवनानि पश्यन् ।। (ऋ. 1 35 2)

2 ऋ 4 53 5

3 ऋ 4 54 2

4 सविता यन्त्रै पृथिवीमरम्णादस्कम्भने सविता द्यामदृहत् । (ऋ 10 149 1)

5 बृहत्सुम्न प्रसवीता निवेशनो जगत स्थातुरुभयस्य यो वशी ।
स नो देव सविता शर्म यच्छत्वस्मे क्षयाय त्रिवरूथमहस ।। (ऋ 4 53 6)

6 प्र वाता वान्ति पतयन्ति विद्युत उदोषधीर्जिहते पिन्वते स्व ।
इरा विश्वस्मै भुवनाय जायते यत्पर्जन्य पृथिवी रेतसावति ।। (ऋ 5 83 4)

के गुणो से अभिभूत होकर वे उसे देवत्व प्रदान करते हुए उसकी स्तुति करने लगे ।

दैनिक जीवन मे अग्नि का बहुत महत्त्व है । वैदिक ऋषि अग्नि के विविध उत्पत्ति–स्थलो से अभिज्ञ थे । एक मन्त्र[1] मे उन्होने उसे यज्ञीय दिवसो मे उत्पन्न होने वाला, सर्वत्र दीप्यमान, जलो से वैद्युताग्नि या वडवानल के रूप मे उत्पन्न होने वाला, मेघ या पत्थरो से उत्पन्न होने वाला, वनो से दावानल के रूप मे उत्पन्न होने वाला तथा औषधियो से वैश्वानर के रूप मे उत्पन्न होने वाला कहा है । इस प्रकार उन्होने अग्नि को भी एक अलौकिक शक्ति के रूप मे जाना तथा उसे देवता मानते हुए उसकी स्तुतियाँ की ।

यद्यपि ऋषियो ने विविध प्राकृतिक उपादानो की पूजा की, किन्तु यदि सूक्ष्म दृष्टि से विचार किया जाए तो ज्ञात होता है कि उन्होने स्थूल रूप से उन उपादानो की पूजा न करके उनके अन्दर निहित शक्तियो को अपनी आराधना का विषय बनाया । उन्होने न तो सूर्य की किरणो, न वृष्टि करने वाले अन्तरिक्ष, न वेदी मे प्रदीप्त अग्नि, न नदी के जलो और न चन्द्रमा के प्रकाश की आराधना की, बल्कि इन सभी के अन्दर निहित शक्ति को पूजा, जिसके द्वारा ये सभी उपादान क्रियाशील होते है । प्राकृतिक शक्तियो का ही वैदिक देवता के रूप मे मानवीकरण होना उनके नामो से ही स्पष्ट हो जाता है । इन नामो से एक साथ ही वह विशेष भौतिक पदार्थ तथा उसके अन्दर की निहित अदृष्ट शक्ति, दोनो ध्वनित हो जाते है । जैसे – अग्नि एक द्रव्य तथा देवता दोनो का ही नाम है, जिसे ऋषियो ने अदृष्ट शक्ति के रूप मे पूजा । इसी प्रकार सूर्य, उषा तथा वायु भी वैदिक देवता तथा भौतिक पदार्थ दोनो के ही नाम है ।

(ग) एकाधिदेववाद (HENOTHEISM)

यह शब्द अग्रेजी के "हीनोथीज्म" का हिन्दी अनुवाद है । बहुसख्यक विद्वानो[2] ने इस

---

1 त्वमग्ने द्युभिस्त्वमाशुशुक्षणिस्त्वमद्भ्य त्वमश्मनस्परि ।
त्व वनेभ्यस्त्वमोषधीभ्य त्व नृणा नृपते जायसे शुचि ।। (ऋ 2 1 1)

(क) उपाध्याय, बलदेव – वैदिक साहित्य और सस्कृति, पृष्ठ 484

(ख) देवराज, न कि – दर्शनशास्त्र का इतिहास, पृष्ठ 46

(ग) शर्मा, गणेशदत्त, ऋग्वेद मे दार्शनिक तत्त्व, पृष्ठ 7 एव 86

शब्द को मूल रूप मे ही प्रयुक्त किया है । हिरियन्ना ने इसका अनुवाद "एकाधिदेववाद" किया है ।[1] प्रो ब्लूमफील्ड ने इसे "अवसरवादी एकेश्वरवाद"[2] (Opportunist-Monotheism) की सञ्ज्ञा दी है, जिसका अनुसरण हिरियन्ना[3] एव डॉ देवराज[4] ने भी किया है । हीनोथीज्म शब्द की उत्पत्ति ग्रीक भाषा के दो शब्दो – हीनोस (Henos) और थीयोस (Theos) के योग से हुई है, क्रमश जिनका अर्थ "एक" और "ईश्वर" होता है ।[5] सर्वप्रथम इस शब्द का प्रयोग प्रो मैक्समूलर ने किया । इसी अर्थ मे उन्होने एक अन्य शब्द कथेनोथीज्म (Kathenotheism) का भी प्रयोग किया है, जो ग्रीक भाषा के ही कथ हेना (Kath'hena) शब्द से निष्पन्न हुआ है, जिसका अर्थ, "क्रमश " (One by one)[6] होता है । वस्तुत मैक्समूलर ने इसका प्रयोग ऋग्वेद के देवताओ के एक विशेष पक्ष को प्रस्तुत करने के लिए किया । यह सामान्य रूप से दृष्टिगोचर होता है कि वेदो मे देवताओ को कई नामो से आहूत किया गया है, यथा – अग्नि, सूर्य, उषस्, मरुद्‌गण, पृथ्वी, आप नदी इत्यादि । कुछ देवता तो प्रकृति से नितान्त सम्बद्ध है, जैसे – वरुण, मित्र, इन्द्र, अदिति इत्यादि । प्रत्येक देवता को सत्य, सर्वोच्च और पूर्ण प्रतिपादित किया गया है । ये देव एक दूसरे के अधिकारो से सीमित नही किये गए है ।

वैदिक ऋषियो ने किसी भी देवता का आह्वान करते समय उसके गुणगान मे तन्मय होकर उसे पराकाष्ठा तक पहुँचा दिया । जैसे, यदि इन्द्र को ही लिया जाए तो एक स्थल पर ऋषि ने उसे देव तथा मानव जातियो का नायक कहा है।[7] अन्यत्र उसे ही सम्पूर्ण विश्व का एकमात्र राजा भी बताया गया है ।[8] वह सम्राट् के रूप मे भी निरूपित किया गया है ।[9] इसी प्रकार वरुण की स्तुति

---

1 हिरियन्ना, एम – भारतीय दर्शन की रूपरेखा (हिन्दी अनुवाद), पृष्ठ 37

2 डॉ ब्लूमफील्ड एम – द रिलीजन ऑफ द वेद, पृष्ठ 189

3 हिरियन्ना एम – भारतीय दर्शन की रूपरेखा (हिन्दी अनुवाद), पृष्ठ 37

4 देवराज, न.कि – दर्शनशास्त्र का इतिहास, पृष्ठ 47

5 यूसा, मिचिको, दि एनसाइक्लोपीडिया ऑप रिलीजन, वाल्यूम 6, पृष्ठ 266

6 वही, पृष्ठ 266

7 इन्द्र क्षितीनामसि मानुषीणा विशा दैवीनामुतपूर्वयावा । (ऋ 3 34 2)

8 एको विश्वस्य भुवनस्य राजा । (ऋ 3 46 2)

9 भुव सम्राडिन्द्र सत्ययोनि । (ऋ 4 19 2)

के समय उसे भी सम्पूर्ण ससार के राजा के पद पर प्रतिष्ठित किया गया है ।[1] एक स्थल पर अग्नि को ही विभिन्न स्थितियो मे वरुण, मित्र और इन्द्र के रूप मे तथा यहाँ तक कि सभी देवताओ को उसमे ही निहित बताया गया है ।[2] यही स्थिति अन्य देवो की भी है ।

ऋग्वेद की उपर्युक्त प्रवृत्ति को ही मैक्समूलर ने "हीनोथीज्म" कहा है । उनके अनुसार इसका अर्थ है – "कुछ समय के लिए अन्य समस्त देवताओ को भुलाकर इन्द्र, अग्नि एव वरुण आदि मे से किसी भी एक देवता का एकमात्र दिव्य सत्ता के रूप मे आह्वान करना ।"[3] उन्होने अन्यत्र इस शब्द की उपयोगिता सिद्ध करते हुए कहा है कि यह छोटा सा शब्द दो विचारधाराओ के भेद को निश्चित रूप से स्पष्ट करने मे पूर्णत समर्थ है, जिनमे प्रथम "मोनोथीज्म" अर्थात् "एकमात्र देवता की आराधना करना" (The worship of only one God) और द्वितीय "हीनोथीज्म" अर्थात् "किसी एक देवता की आराधना करना" (Worship of single Gods) है ।[4] उन्ही के शब्दो मे इसे इस प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है – "प्रथम प्रकार का एकत्व वह है, जो बहुत्व की भावना को पृथक् नही करता है (हीनोथीज्म) और दूसरे प्रकार का एकत्व वह है जो बहुत्व की भावना को पृथक् करता है (मोनोथीज्म) ।[5]

ऋग्वेद मे विभिन्न देवताओ को अन्य देवताओ के अधीन भी निरूपित किया गयाहै । जैसे – वरुण और सूर्य इन्द्र के अधीन है ।[6] वरुण और अश्विन् को विष्णु के समक्ष नतमस्तक बताया गया है ।[7] एक अन्य मन्त्र के अनुसार इन्द्र, मित्र, वरुण, अर्यमा तथा रुद्र, सविता के नियमो का

---

1 तेन विश्वस्य भुवनस्य राजा । (ऋ 5 85 3)

2 त्वमग्ने वरुणो जायसे यत्त्व मित्रो भवसि यत्समिद्ध ।
त्वे विश्वे सहसस्पुत्र देवास्त्वमिन्द्रो दाशुषे मर्त्याय ।। (ऋ 5 3 1)

3 मैक्समूलर – द सिक्स सिस्टम्स ऑफ इन्डियन फिलॉसफी, पृष्ठ 40

4 मैक्समूलर – इन्डिया, ह्वाट कैन इट टीच अस ? पृष्ठ 146–147

5 There is one kind of oneness which does not exclude the idea of plurality (i.e.henotheism); there is another which does (i.e.monotheism).
मैक्समूलर – सेलेक्टेड एसेज ऑन लैगुएज, माइथोलॉजी एन्ड रिलीजन, भाग 2, पृष्ठ 415.

6 ऋ 1 101 3

7 ऋ 1 156 4

उल्लघन नही कर सकते ।[1] इस प्रकार वैदिक देवता पूर्णत स्वायत्त नही है । इसी आधार पर "हीनोथीज्म" के अन्तर्गत मैक्समूलर द्वारा किसी विशेष देवता की सर्वोच्चता के प्रतिपादन को मैक्डॉनल ने स्वीकार नही किया है । उनके अनुसार हीनोथीज्म केवल देखने मे ही लगता है, वह कोई वास्तविकता नही है ।[2]

यदि मैक्समूलर की विचारधारा का सूक्ष्म अध्ययन किया जाए तो पता चलता है कि "हीनोथीज्म" के अन्तर्गत "मोनोथीज्म" और "पोलीथीज्म" दोनो ही समाहित है । जब हीनोथीज्म "देवत्व" को "एक" के रूप मे प्रतिपादित करता है, तो वहाँ "मोनोथीज्म" की झलक दिखाई देती है और जब यह "देवत्व" को "ईश्वर" के रूप मे प्रतिपादित करते हुए देवी तथा देवताओ के रूप मे उनके बहुत्व को प्रतिपादित करता है तो वहाँ "पोलीथीज्म" स्पष्टत परिलक्षित होता है । यद्यपि इसके अन्तर्गत अनेक देवता दृष्टिगत होते है, किन्तु इसकी विशेषता यह है कि इसमे प्रत्येक देवता "सर्वोच्च" रूप मे प्रतिष्ठित है । "हीनोथीज्म" के इस स्वरूप को मानव-मन की, विभिन्नताओ को समेकित करने की स्वाभाविक प्रवृत्ति के परिणाम के रूप मे भी स्वीकार किया जा सकता है । यद्यपि यह कहना कठिन होगा कि यह एकता "एकत्ववादी" है या "एकदेववादी", तथापि चिन्तन को इसका आधार मानने पर इसे "एकत्ववादी" और भक्तिभावना पर आधारित मानने पर "एकदेववादी" कहा जा सकता है । इसमे देवता बदलते रहते है । एक के बाद दूसरा देवता आता है और उसका गुणगान होने लगता है । यहाँ तक कि पूर्व मे स्तुत देवता के गुण, प्रकृत मे भी आरोपित किये जाते है । इसके कारण केवल विशेषण के आधार पर कभी-कभी देवताओ को पहचान पाना कठिन हो जाता है । सम्भवत इसीलिए ब्लूमफील्ड ने "हीनोथीज्म" को परिपक्व "पोलीथीज्म" माना है, जो हमे "आवसरिक एकेश्वरवाद" की ओर ले जाता है, जिसमे प्रत्येक देवता राजपद प्राप्त करता है, किन्तु उनमे से कोई भी इसे लम्बे समय तक धारण नही कर पाता ।[3]

---

1 न यस्येन्द्रो वरुणो न मित्रो व्रतमर्यमा न मिनन्ति रुद्र । (ऋ 2 38 9)

2 मैक्डॉनल ए ए - वैदिक माइथोलॉजी, पृष्ठ 16-17

3 It is polytheism grown cold in service, and unnice in its distinctions, leading to an apportunist monotheism in which every god takes hold of the sceptre and none keeps it.
ब्लूमफील्ड एम , द रिलीजन ऑफ दी वेद, पृष्ठ 199

इस सम्बन्ध मे एक बात और यह कही जा सकती है कि "हीनोथीज्म" कोरी कल्पना या मात्र सम्भावना पर आधारित कोई धुधला स्वरूप नही है, बल्कि यह आराधक ऋषि की किसी देवता की उपस्थिति तथा उसके व्यक्ति-पक्ष की स्पष्ट अनुभूति का परिणाम है, जिसके प्रति वह समर्पित है । आराधक के विषय मे यह नही कहा जा सकता कि वह अन्य देवताओ को कम मानता है, बल्कि यही कहना उचित है कि वह प्रस्तुत देवता को अपेक्षाकृत अधिक मानता है । डॉ बोस ने "हीनोथीज्म" को "अनेक मे एक का विधान" माना है ।[1] साराश रूप मे यह कहा जा सकता है कि "हीनोथीज्म" मे "देवत्व" के प्रति एक सामान्य भक्तिभावपूर्ण मानसिकता है और वह देवताओ के बदल जाने पर भी परिवर्तित नही होती ।

(घ) एकदेववाद (MONOTHEISM)

"एकदेववाद" अग्रेजी के "मोनोथीइज्म" शब्द का हिन्दी अनुवाद है । यह ग्रीक भाषा के दो शब्दो - "मोनो (Mono) तथा "थीयोस" (Theos) के योग से बना है, जिनका अर्थ क्रमश 'एक ही' (Single) और "देवता" (God) होता है ।[2] यदि "सिगल" शब्द पर विचार किया जाए तो इसका अर्थ होगा - किसी एक देवता मे ही विश्वास करना । यह धर्म तथा दर्शन दोनो से जुडा हुआ है तथा इसके अनुसार ईश्वर को एक, पूर्ण, निर्विकार या अपरिवर्तनशील (Immutable), बिना किसी उपादान के ही जगत् का स्रष्टा, जगत् से भिन्न, पूरी शक्ति के साथ जगत् मे अन्तर्भूत (Involved), वैयक्तिक तथा समस्त सृष्टो के द्वारा पूज्य माना गया है ।[3] इस प्रकार एकदेववाद समस्त देवो की एकता के रूप मे एक ऐसे देव की प्रतिष्ठा करता है, जो अपनी इच्छा से सब कुछ उत्पन्न करता है

---

1 "The cult of the One in Many."
डॉ बोस, ए सी - द कॉल ऑफ दी वेदाज, पृष्ठ 24

2 लुडविग, थियोडोर एम - दी एनसाइक्लोपीडिया ऑफ रिलीजन, वाल्यूम 10, पृष्ठ 68

3 वही, पृष्ठ 69

तथा उस पर शासन करता है । इसके अतिरिक्त यह अनेक देवो के अस्तित्व का निषेध भी करता है। लुडविग[1] के अनुसार "मोनोथीज्म" एक ही देव को सर्वोच्च मानकर सबको इसकी अधीनता मे स्वीकार करता है ।

डॉ ए सी बोस[2] ने एकदेववाद के लिए आठ विशेषताओ का होना प्रतिपादित किया है, जो इस प्रकार है – एकदेववादी देव एक दैवी पुरुष है । उसे पुंलिङ्ग ही होना चाहिए । सृष्टि से उसका सम्बन्ध पिता के रूप मे होना चाहिए । वह न केवल पिता, अपितु पितर या आदिपुरुष के रूप मे प्रतिष्ठित होना चाहिए । उसका निवासस्थान स्वर्ग मे होना चाहिए । उसे सबका शासक होना चाहिए तथा सबके सम्राट् के रूप मे होना चाहिए । किसी आसुरी शक्ति को उसका स्वाभाविक शत्रु होना चाहिए । अन्तत सबका निर्विवाद रूप से पूर्ण सम्राट् होने के कारण सभी को उसकी इच्छा के बारे मे जानकर उसी के अनुसार अपना जीवन–यापन करना चाहिए । अपनी इच्छा को मानव तक सम्प्रेषित करने के लिए वह अपने दूत पृथ्वी पर भेजता रहता है ।

जहॉ तक ऋग्वेद का सम्बन्ध है, उसमे "एकदेववाद" के लिए बताई गई उपर्युक्त बातो मे से एक–दो बाते ही मिल सकती है । वस्तुत ये सारी विशेषताऍं यहूदी, ईसाई तथा मुस्लिम धर्म एव दर्शन को दृष्टि मे रखकर निर्धारित की हुई प्रतीत होती है, क्योकि ऋग्वेद का धर्म एव दर्शन इन सबसे प्राचीन होने के साथही साथ उन्नत विचारो से मण्डित भी है । उसमे देव-विषयक विचारो की कोई निश्चित विभाजक रेखा नही खीची गई है । हर ढग के विचार भिन्न–भिन्न स्थलो पर दृष्टिगोचर होते रहते है ।यहॉ तक कि जिन तत्त्वो को किसी विद्वान् ने "एकदेववादी" माना है, उन्ही को दूसरो ने एकत्ववादी माना है । जैसे – ऋग्वेद के एक प्रसिद्ध मन्त्र, "एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति"[3] को प्रो हिरियन्ना[4] ने एकदेववाद का उदाहरण माना है, जबकि इसे ही डॉ राधाकृष्णन्[5] ने

---

1 Monotheism universalizes the power and authority of the one God exclusively. -------- the one God has authority and power over all peoples, friends and enemies alike.
लुडविग, थियोडोर एम – दी एनसाइक्लोपीडिया ऑफ रिलीजन, वाल्यूम 10, पृष्ठ 72

2 बोस, ए सी – दी कॉल ऑफ दी वेदाज, पृष्ठ 17–21

3 ऋग्वेद, 1 164 46

4 हिरियन्ना एम – भारतीय दर्शन की रूपरेखा, पृष्ठ 38

5 डॉ राधाकृष्णन् – भारतीय दर्शन, प्रथम भाग, पृष्ठ 85

अद्वैतवाद के उदाहरण के रूप मे उद्धृत किया है । यहाँ कुछ मन्त्रो पर विचार किया जा रहा है, जो मेरी दृष्टि मे एकदेवतावादी विचारधारा को अपने अन्दर समाहित किये हुए है । ऋग्वेद के द्वितीय मण्डल मे विभिन्न देवताओ का अग्नि मे ही अन्तर्भाव कर के अग्नि को एकमात्रदेव के रूप मे प्रतिष्ठित किया गया है । उसे ही इन्द्र, विष्णु, ब्रह्मा, वरुण, मित्र, अर्यमा तथा अश के रूप मे स्वीकारा गया है ।[1] एक अन्य मन्त्र मे अदिति को द्युलोक कहा गया है । अदिति को ही अन्तरिक्ष भी कहा गया है । उसे माता, पिता तथा पुत्र के रूप मे भी निरूपित किया गया है । इसके अतिरिक्त उसे समस्त देवताओ तथा पञ्चजनो के रूप मे भी माना गया है । अन्तत उसे जाति (जन्म) तथा जनित्व (जनन-परम्परा) के रूप मे भी स्वीकार किया गया है ।[2] इस प्रकार अदिति मे ही न केवल सारे देव, अपितु समग्र सृष्टि भी अन्तर्भूत है । देवताओ की इस एकीकरण की परम्परा मे विश्वकर्मा का भी प्रमुख स्थान है । यह प्रारम्भ मे इन्द्र तथा सूर्य के विशेषण के रूप मे प्रयुक्त है, किन्तु आगे चलकर इसे न केवल एक स्वतन्त्र देव के रूप मे ही, अपितु एकमात्र देव के रूप मे प्रतिष्ठित किया गया है । इसे दो सूक्त[3] समर्पित किये गए है । शाब्दिक रूप से भी विश्वकर्मा का अर्थ "सबको बनाने वाला" होता है । वह सर्वद्रष्टा है । उसकी आँखे सब तरफ है, उसके मुख सब जगह है, उसकी भुजाएँ तथा पैर सब तरफ है । वह द्युलोक और पृथिवीलोक को अपनी विशाल भुजाओ तथा पखो से उत्पन्न करता है ।[4] इस प्रकार वह एकमात्र देव के रूप मे प्रतिष्ठित है । एक अन्य मन्त्र मे यह कहा गया है कि वह विश्वकर्मा हम सबका रक्षक एव पिता है । वह सबका स्रष्टा एव देवताओ को नाम

---

1 (क) त्वमग्न इन्द्रो वृषभ सतामसि त्व विष्णुरुरुगायोनमस्य ।
त्व ब्रह्मा रयिविद्ब्रह्मणस्पते त्व विधर्त सचसे पुरध्या ।। (ऋ 2 1 3)
(ख) त्वमग्ने राजा वरुणो धृतव्रतस्त्व मित्रो भवसि दस्म ईड्य ।
त्वमर्यमा सत्पतिर्यस्य सभुज त्वमशो विदथे देव भाजयु ।। (ऋ 2 1 4)

2 अदितिर्द्यौरदितिरन्तरिक्षमदितिर्माता स पिता स पुत्र ।
विश्वेदेवा अदिति पञ्चजना अदितिर्जातमदितिर्जनित्वम् ।। (ऋ 1 89 10)

3 ऋग्वेद10 81 तथा 82

4 विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतो मुखो विश्वतो बाहुरुत विश्वतस्पात् ।
स बाहुभ्यां धमति सं पतत्रैर्द्यावाभमी जनयन्देव एक ।। (ऋ 10 81 3)

प्रदान करने वाला है, वह एक है तथा सभी जिज्ञासा शान्त करने हेतु उसके पास जाते है ।[1]

ऋग्वेद की एकेश्वरवादी प्रवृत्ति के अन्तर्गत हिरण्यगर्भ का महत्वपूर्ण स्थान है । प्रजापति के साथ इसकी एकरूपता भी प्रतिपादित की गई है ।[2] वस्तुत यह प्रकृति की सर्जनात्मक शक्ति का पुरुषीकृत स्वरूप है । उसे प्राणिमात्र का अद्वितीय स्वामी तथा द्युलोक एव पृथिवी को धारण करने वाला बताया गया है ।[3] आगे चलकर उसे सर्वोच्च देव के रूप मे प्रतिष्ठित करते हुए कहा गया है कि – हे प्रजापति । तुम्हारे अतिरिक्त कोई दूसरा देव इन समस्त उत्पन्न पदार्थो को व्याप्त नही किया है।[4]

ऋग्वेद का पुरुष सूक्त[5] अपनी दार्शनिक एव याज्ञिक महत्ता के लिए विश्व-विश्रुत है । उसमे पुरुष को ही समस्त उत्पन्न हो चुके तथा भविष्य मे उत्पन्न होने वाले पदार्थों के रूप मे देखा गया है । उसे अमरता अर्थात् देवो के स्वामी के रूप मे भी स्वीकार किया गया है ।[6] इस प्रकार पुरुष एकमात्र देव के रूप मे निरूपित है । वह प्रकृति से अभिन्न है । वह सृष्टि के कण-कण मे व्याप्त है । सम्भवत पुरुष के इसी स्वरूप के कारण कुछ विद्वानो[7] ने इसे सर्वेश्वरवाद का प्रतीक माना है । ब्लूमफील्ड[8] ने पुरुषसूक्त मे एकदेववादी सर्वेश्वरवाद (Monotheistic Pantheism)

---

1 यो नः पिता जनिता यो विधाता धामानि वेद भुवनानि विश्वा ।
यो देवाना नामधा एक एव त सप्रश्न भुवना यन्त्यन्या ।। (ऋ 10 82 3)

2 तैत्तिरीय सहिता – 5 5 1 2

3 हिरण्यगर्भ समवर्तताग्रे भूतस्य जात पतिरेक आसीत् ।
स दाधार पृथिवी द्यामुतेमा कस्मै देवाय हविषा विधेम ।। (ऋ 10 121 1)

4 प्रजापते न त्वदेतान्यन्यो विश्वा जातानि परि ता बभूव । (ऋ 10 121 10)

5 ऋग्वेद 10 90

6 पुरुष एवेद सर्व यद्भूत यच्च भव्यम् ।
उतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनातिरोहति ।। (ऋ 10 90 2)

7 (क) हिरियन्ना एम – भारतीय दर्शन की रूपरेखा, पृष्ठ 38
(ख) उपाध्याय बलदेव – वैदिक साहित्य और सस्कृति, पृष्ठ 484

8 ब्लूमफील्ड मोरिस – द रिलीजन ऑफ द वेद, पृष्ठ 242

का सिद्धान्त माना है । सूक्त मे पुरुष को एक देवता के रूप मे प्रतिपादित करते हुए उसे सम्पूर्ण सृष्टि मे अनुस्यूत बताया गया है । इसीलिए मैने इसे एकदेववादी प्रवृत्ति के चरम निदर्शन के रूप मे स्वीकार किया है । हाँ, इतना अवश्य कहा जा सकता है कि यह सूक्त हमें अन्य देवो या सूक्तो की अपेक्षा एकत्ववाद या अद्वैतवाद के अधिक निकट ले जाता है ।

प्रकृत एकेश्वरवादी प्रवृत्ति हमे इन्द्र को समर्पित सूक्तो मे भी उपलब्ध होती है । एक स्थान[1] पर कहा गया है कि इन्द्र अपनी शक्तियो के द्वारा नाना रूपो को धारण कर लेते है । उन्ही मे समस्त देवता निहित है । कुछ सूक्तो[2] मे बृहस्पति को भी एकमात्र देव के रूप मे स्वीकार किया गया है । उपर्युक्त विवेचन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि ऋग्वैदिक काल मे ही आर्यों ने अपने बहुदेववादी सिद्धान्त को एकदेववाद मे परिणत कर लिया था । इसी स्वरूप को मैक्डॉनेल[3] ने बहुदेववादी एकेश्वरवाद (पॉलीथीइस्टिक मोनोथीइज्म) की सञ्ज्ञा दी है । म्योर ने अपनी पुस्तक मे एम पिक्टेट के मत को उद्धृत करते हुए लिखा है – आर्य धर्म का आरम्भिकतम रूप एकेश्वरवादी था जो बाद मे अनेकदेवतावादी बन गया ।[4] वस्तुत विभिन्न देववादी प्रवृत्तियाँ विकास का प्रतिफल नही है,बल्कि एक ही समय मे भिन्न–भिन्न ऋषियो की पृथक्–पृथक् दृष्टि की परिचायक है । इन सिद्धान्तो मे भेद पूर्णता या परिपक्वता की मात्रा के आधार पर न होकर पद्धति के आधार पर है । सभी वाद, विचार की विभिन्न प्रणालियो का प्रतिनिधित्व करते है ।

(ङ.) वैदिक अद्वैतवाद (VEDIC ADVAITISM OR MONISM)

ऋग्वेद की चरम देवात्मक प्रवृत्ति को पाश्चात्य विचारको ने "मोनीज्म" की सञ्ज्ञा दी है । डॉ राधाकृष्णन्[5] एव आचार्य बलदेव उपाध्याय[6] ने इसे "अद्वैतवाद" तथा हिरियन्ना[7] ने "एकवाद"

---

1 इन्द्रो मायाभि पुरुरूप ईयते । (ऋ 6 47 18)

2 ऋग्वेद 10 71 तथा 72

3 मैक्डॉनेल – वैदिक माइथॉलोजी, पृष्ठ 16

4 म्योर – ओरिजिनल सस्कृत टेक्स्ट, वाल्यूम 5, पृष्ठ 412–420

5 राधाकृष्णन् – भारतीय दर्शन, भाग – 1, पृष्ठ 81 एव 84

6 उपाध्याय, बलदेव – वैदिक साहित्य और सस्कृति, पृष्ठ 484

7. हिरियन्ना – भारतीय दर्शन की रूपरेखा, पृष्ठ 39

और गणेशदत्त शर्मा[1] ने "एकत्ववाद" कहा है । "मोनीज्म" शब्द का प्रयोग विचारको के उस वर्ग अथवा उन दार्शनिक प्रणालियो के लिए किया जाता है, जो सत्य की एकता पर बल देती है ।[2] वस्तुत ऋग्वेद मे हमे जो एकत्व दृष्टिगत होता है वह देवताओ को लेकर है । उसके अनुसार एक ही देवता मे सभी देवताओ का अस्तित्व स्वीकार किया गया है । अर्थात् देवता अनेक है, किन्तु उनका देवत्व एक है । उनके माध्यम से स्तोता परम तत्व की स्तुति करता है । आचार्य शङ्कर के अद्वैतवाद मे मात्र देवता का ही एकत्व नही प्रतिपादित किया गया है, बल्कि उसमे पूरी सत्ता को एक बताते हुए जगत् का मिथ्यात्व निरूपित किया गया है । उसी से भेद बताने के लिए यहाँ "वैदिक अद्वैतवाद" इस सञ्ज्ञा को रखा गया है ।

वैदिक अद्वैत को दो दृष्टिकोणो से देखा जा सकता है । पहला दृष्टिकोण आत्मगत हो सकता है, इसे हम विषयीगत भी कह सकते है । इसमे हम स्तोता ऋषि की मनोवृत्ति पर विचार करते है, जिससे पता चलता है कि प्रत्येक ऋक् एक आध्यात्मिक और विनम्र मानसिकता से अनुप्राणित है । यह मनोवृत्ति तथा भावना उस समय भी परिवर्तित नही होती, जब कि विषय या देवता बदल जाता है । यही मनोवैज्ञानिक तत्व हमे एकत्व की ओर ले जाता है । दूसरा दृष्टिकोण विषयगत या वस्तुगत हो सकता है । यदि हम स्तोता की मनोवृत्ति पर विचार किये बिना उसके स्तुति के विषयो पर विचार करे तो हमे सामान्य रूप से बहुदेवात्मक प्रवृत्ति के दर्शन होते है । यहाँ यह भी विचारणीय है कि देवो के उस बहुत्व मे भी उनकी स्तुति–प्रक्रिया भिन्न नही है । तात्पर्य यह है कि प्रत्येक देवता सद्गुणो से ओतप्रोत है । स्तुतियो मे उसे शुभ, हितकारी तथा नैतिक मानदण्डो के अनुसर्ता के रूप मे चित्रित किया गया है । अत इस दृष्टिकोण से विचार करने पर भी हमे एकत्ववाद की ही स्पष्ट प्रतीति होती है, न कि बहुदेववाद की ।

---

1 शर्मा,गणेशदत्त – ऋग्वेद मे दार्शनिक तत्त्व, पृष्ठ 88

2 "Monism ıs a term applıed to a group of thinkers or to phılosophıcal systems that emphasize the oneness or unıty of realıty."
द एनसाइक्लोपीडिया ऑफ रिलीजन, वाल्यूम 10, पृष्ठ 57

वस्तुत ईश्वर–सम्बन्धी किसी भी विचारधारा के निष्कर्ष के रूप मे हमे एकत्ववाद पर जाकर अनिवार्य रूप से रुकना पडेगा । इसका मुख्य कारण यह है कि परम सत्ता केवल एक ही हो सकती है । यदि अनेक सत्ताओ को माना जाएगा, तो उसमे से कुछ को किसी के अधीन भी मानना ही पडेगा, फलत एक सत्ता का ही अस्तित्व हमारे समक्ष उपस्थित होगा । ज्यो–ज्यो जगत् की आन्तरिक कार्य–प्रणाली तथा उसके स्वामी ईश्वर के स्वरूप की प्रक्रिया आगे बढ़ती है, अनेक देवता एक ईश्वर मे प्रविष्ट हो जाते है । ऋग्वेद मे ऋत की अवधारणा मे जिस एकता के भाव का ज्ञान हुआ, वह भी अद्वैतवादी प्रवृत्ति का ही समर्थन करता है । यदि प्रकृति की अनेकविध और भिन्न–भिन्न घटनाओ के कारण अनेक देवो की कल्पना की जाती है, तो प्रकृति के भीतर स्थित एकता की भावना के आधार पर ही ईश्वर के एकत्व को भी स्वीकार करना चाहिए । इसी दृष्टिकोण से वैदिक ऋषियो का अभिनिवेश विश्व के एक ऐसे आदिकारण का अन्वेषण करने की ओर था, जो एकमात्र स्रष्टा हो, स्वयम्भू हो तथा साथ ही अनश्वर हो । इसी दिशा मे विचार करते हुए उन्होने जिज्ञासा की कि "प्रथम उत्पन्न देव को किसने देखा ? उसे किसने देखा जो स्वय अस्थिहीन होते हुए भी अस्थिधारियो को उत्पन्न करने वाला है । जानने वाले विद्वान् के पास कौन यह पूछने गया ?"[1]

ऋषियो ने उस आदिकारण को नपुसकलिड् ग मे रखा तथा सत्-स्वरूप माना । इससे प्रतीत होता है कि परम तत्त्व लिड् ग की भावना से परे है । यही वे एकदेववादी प्रवृत्ति से आगे बढ जाते हैं, जिसमे मूल तत्व को एक व्यक्ति या पुरुष के रूप मे चित्रित करने का प्रयास किया गया है । ब्लूमफील्ड ने भी इसे स्वीकार करते हुए कहा है कि उपनिषदो के पूर्व वैदिक चिन्तन मे एकदेववादी प्रवृत्ति ने एकत्ववादी धारणाओ, जैसे – "तत्", "एकम्" इत्यादि के साथ–साथ शान्तिपूर्वक विकास प्राप्त किया ।[2] उन्होने ऋग्वेद के 1 164 46 तथा 10 129 2 पर टिप्पणी

---

1 ऋग्वेद 1 164 4

2 "A strong monotheistic tendency which seemed to develop simultaneously and peacefully along with the monistic ideas, such as the "That", the "Only", the "Being".

ब्लूमफील्ड – द रिलीजन ऑफ द वेद, पृष्ठ 270

करते हुए लिखा है कि इन दोनो मन्त्रो मे अद्वैतवाद है, कही भी द्वैत नही है । यहाँ तक कि ये उपनिषदो के ब्रह्म तथा आत्मा और परवर्त्ती वेदान्त दर्शन के पूर्व चरण है ।[1] इस पर विचार करने हेतु सर्वप्रथम वह सुप्रसिद्ध मन्त्र लिया जा रहा है जिसमे कहा गया है कि लोग उसे इन्द्र, मित्र, वरुण एव अग्नि कहते है तथा वह दिव्य सुन्दर पखो वाला गरुत्मान् है, विप्र लोग उस एक ही सत् को बहुत प्रकार से कहते है, वे इसे अग्नि, यम और मातरिश्वा भी कहते है ।[2] इस मन्त्र मे आए "एकम" तथा "सत्" ये दोनो पद विचारणीय है । इन विशेषणो द्वारा उस परम सत्ता को लिङ्गातीत प्रतिपादित किया गया है । वह कुछ भी हो, उसी का तत्त्व अन्य देवताओ मे व्याप्त है ।

एक अन्य मन्त्र मे कहा गया है कि विप्र एव कवि लोग एक ही सुपर्ण को अपनी वाणियो द्वारा अनेक प्रकार से कल्पित करते है ।[3] इससे भी यही प्रमाणित होता है कि परम सत्ता एक ही है । सारी अनेकताओ के होते हुए भी यहाँ तत्त्व की एकता प्रतिपादित की गई है ।

आचार्य यास्क ने भी देवताओ की वास्तविक एकता को प्रतिपादित करते हुए कहा है - देवता की बडी महिमा के कारण एक ही आत्मा अनेक प्रकार से स्तुत होता है । अन्य सभी देवता एक ही आत्मा के पृथक्-पृथक् अङ्ग है ।[4]

---

1 "They herald monism; they claim that there is but one essence, one true thing: it is but a step from such ideas to the pantheistic, absolute, without a second, Brahman-Atman of the Upnishads and the later Vedanta philosophy."
ब्लूमफील्ड - द रिलीजन ऑफ द वेद, पृष्ठ 211

2 इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्य स सुपर्णो गरुत्मान् ।
एक सद् विप्रा बहुधा वदन्त्यग्नि यम मातरिश्वानमाहु ।। (ऋ 1 164 46)

3 सुपर्ण विप्रा कवयो वचोभिरेक सन्त बहुधा कल्पयन्ति । (ऋ 10 114.5)

4 माहाभाग्याद्देवताया एक एवात्मा बहुधा स्तूयते ।
एकस्यात्मनोऽन्ये देवा प्रत्यङ्गानि भवन्ति ।। (निरुक्त - 7 4)

वैदिक अद्वैतवाद का सर्वोत्कृष्ट निदर्शन हमे नासदीय सूक्त[1] मे उपलब्ध होता है, जिसे "भारतीय विचारधारा का पुष्प" और "विश्व साहित्य की वस्तु" कहा गया है ।[2] इस सूक्त मे ऋषि ने दार्शनिक कारणता के सिद्धान्त को स्पष्ट रूप से स्वीकार किया है । इस सूक्त के अनुसार प्रारम्भ मे "असत्" और "सत्" दोनो का निषेध किया गया है । यद्यपि प्रारम्भिक अवस्था नितान्त "असत्" की नही हो सकती, क्योकि सूक्त मे ही कहा गया है कि एक "तत्त्व" अकेले अपनी शक्ति से वायु के बिना भी श्वास ले रहा था ।[3] वस्तुत "सत्" और असत्" परस्पर अन्योन्याश्रित शब्द हैं, जिनका प्रयोग उस महान् "एक" तत्त्व के लिए नही किया गया है, क्योकि वह सभी प्रकार के विरोधो से परे है । असत् का तात्पर्य मात्र इतना ही है कि जो इस समय हमारी दृष्टि मे वर्तमान है, उस समय उसकी सत्ता प्रकट रूप मे नही थी । मन्त्र मे विद्यमान "तत्" तथा "एकम्" पद विशेष महत्व के है। इन दोनो नपुसक लिङ्ग मे प्रयुक्त पदो से उस परम तत्त्व की भावात्मकता तथा एकात्मकता का प्रतिपादन होता है ।

अब तक जिन उद्धरणो पर विचार किया गया वे सभी ऋग्वेद के प्रथम और दशम मण्डल से सम्बद्ध है, जिन्हे इतिहासविद् अपेक्षाकृत बाद मे उपनिबद्ध किया गया बताते है । यदि अन्य मण्डलो मे भी इस अद्वैती प्रवृत्ति का अन्वेषण किया जाय, तो हमे निराश नही होना पडेगा । इस दृष्टि से तृतीय मण्डल के उस मन्त्र को उद्धृत किया जा सकता है, जिसमे यह कहा गया है कि एक ही, जो विश्व अर्थात् सब कुछ है, इस चराचर तथा उडने वाले समस्त जगत् का स्वामी है ।[4] इस मन्त्र मे भी दो पद – "एकम्" और "विश्वम्" दृष्टि आकृष्ट करते है । इनसे यह स्पष्टत परिलक्षित होता है कि वह मूल तत्त्व "एक" भी है तथा "सबकुछ" वही है । इसके अतिरिक्त तृतीय मण्डल मे ही एक पूरा 22 मन्त्रो का सूक्त[5] है, जिसमे प्रत्येक मन्त्र के चतुर्थ चरण मे यह ध्रुवपद आया है –

---

1 ऋग्वेद – 10 129

2 हिरियन्ना – भारतीय दर्शन की रूपरेखा, पृष्ठ 41–42

3 आनीदवातं स्वधया तदेकम् । (ऋ. 10 129 2)

4 एजद्ध्रुव पत्यते विश्वमेक चरत्पतत्रि विषुण विजातम् । (ऋ 3 54 8)

5 ऋग्वेद – 3 55 पूरा सूक्त

"महद्देवानामसुरत्वमेकम्" । इसका अर्थ है कि देवताओ के अन्दर विद्यमान असुरत्व अर्थात् बल या सामर्थ्य एक ही है । इस प्रकार यह पूरा सूक्त ही देवताओ के एकत्व को प्रतिपादित करता है ।

ऋग्वेद मे कुछ ऐसे मन्त्र भी उपलब्ध होते है, जिनमे परम तत्त्व को एक साथ ही – पुलिङ् ग, स्त्रीलिङ् ग एव नपुसकलिङ् ग मे अभिव्यक्त किया गया है । उदाहरण के रूप मे एक मन्त्र को लिया जा सकता है, जिसका अर्थ है – एक ही अग्नि सर्वत्र दीप्त होता है, एक ही सूर्य सर्वत्र प्रादुर्भूत है, एक ही उशा समस्त जगत् को प्रकाशित करती है, अत एक ही तत्त्व है, जो सबके रूप मे अवस्थित है ।[1] यहाँ तत्त्व को "अग्नि" एव "सूर्य" के रूप मे पुंलिङ् ग, "उषा" के रूप मे स्त्रीलिङ् ग तथा अन्तत "एकम्" के रूप मे नपुसकलिङ् ग मे व्यक्त किया गया है । इससे यह भी प्रमाणित होता है कि मूल तत्त्व को नपुसकलिङ् ग मे ही रखना अच्छा है, यद्यपि पुंलिङ् ग तथा स्त्रीलिङ् ग मे रखने से भी कोई व्याघात नही है । निष्कर्षत यही कहा जा सकता है कि गहन चिन्तन–जन्य अनुभव को किसी भी रूप मे व्यक्त किया जा सकता है । मैक्समूलर ने भी सत्ता की "एकता" को ही स्वीकार किया है । उनका कहना है – "ऋग्वेदसंहिता के सङ्ग्रह की समाप्ति का चाहे जो भी काल रहा हो, उस काल के पहले इस विचार के विश्वास की जड जम गई थी कि एक ही अद्वितीय सत्ता है, जो न पुरुष है, न स्त्री, एक ऐसी सत्ता जो दैहिक एव मानुषिक प्रकृति की सब अवस्थाओ और बन्धनो से उन्मुक्त और बहुत ऊँची श्रेणी की है, किन्तु तब भी वही सत्ता इन्द्र, अग्नि, मातरिश्वा और यहाँ तक कि प्रजापति अर्थात् प्राणिमात्र का स्वामी आदि विविध नामो से पुकारी जाती है ।"[2]

डॉ चन्द्रधर शर्मा ने वैदिक देववाद के विकास–क्रम को अस्वीकार करके केवल एकत्ववाद को माना है । उनके अनुसार "ऋग्वेद के प्रथम मन्त्र से लेकर अन्तिम उपनिषदो के भाग तक बहुदेववाद, एकदेववाद और अद्वैतवाद का विकास न होकर केवल अद्वैतवाद की उद्भावना की गई

---

1 एक एवाग्निर्बहुधा समिद्ध एक सूर्यो विश्वमनुप्रभूत ।
एकैवोषा सर्वमिद वि भात्येक वा इद वि बभूव सर्वम् ।। (ऋ 8 58 2)

2 मैक्समूलर – सिक्स सिस्टम्स ऑफ इन्डियन फिलोसॉफी, पृष्ठ 51, 52

है ।"[1] यहाँ सूक्ष्म विचार करने से यह ज्ञात होता है कि "देवत्व" एक तत्त्वमीमासीय बिन्दु है, क्योकि उसे "एक सत्" के रूप मे नपुराकलिड् ग मे प्रयुक्त किया गया है । वैदिक ऋषियो का यह कोई आकस्मिक सिद्धान्त नही है, बल्कि जैसा कि हम पीछे के विवेचन मे देख आए है, ऐसी बाते अनेकत्र उपलब्ध होती है । वस्तुत यह वैदिक आस्तिकता का तत्त्वमीमासीय आधार है । सबसे बडी बात यह है कि इस प्रकार की भावना मे हम किसी ऐसे सिद्धान्त पर नही पहुँचते, जिसमे किसी ऐसे देवता के "एकत्व" की बात की गई हो, जो किसी विशेष स्थान पर रहता है, अपितु एक "दैवी अस्तित्व" के "एकत्व" की बात की गई है, जिसे तत्त्वमीमासा की दृष्टि से समझा जा सकता है तथा जो सबको व्याप्त किये हुए है । एक ही तत्त्व को ऋषि तत्त्वमीमासा की दृष्टि से बताते हुए नपुसक लिड् ग के एकवचन मे रखते है तथा काव्यात्मक दृष्टि से पुंलिड् ग, स्त्रीलिड् ग तथा द्वैत या बहुत्व के रूप मे कल्पित करते है, जबकि इन भावनाओ मे कही भी विरोध की स्थिति नही बनती । एकदेववाद एक ऐसे देवता की स्थापना करता है, जो सब पर शासन करने वाला है, किन्तु वैदिक अद्वैतवाद इससे भी आगे बढकर है, क्योकि इसमे एक को बहुतो मे और बहुतो को एक मे समाविष्ट बताया गया है । साधारण दार्शनिक अधिक से अधिक अद्वैतवाद के उस बिन्दु तक पहुँच सकते है, जिसमे एक "सत्" तथा अन्य सबकुछ "असत्" बताया गया है, किन्तु वैदिक अद्वैतवाद एक रहस्यात्मक अनुभूति पर आधारित है, जिसमे "एक" तो "सत्" है ही, "अनेक" भी "सत्" हैं । इसके अतिरिक्त "अनेक", उस "एक" मे अपनी "एकता" का अनुभव करते है । इन भावनाओ को अपने अन्दर रखे हुए अनेक मन्त्रो को पीछे उद्धृत किया गया है । इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि ऋग्वेद मे आस्तिकता की भावना मात्र साधारण धार्मिक विचारो तक ही सीमित नही है, अपितु यह गम्भीर आध्यात्मिक अनुभूति से ओतप्रोत है ।

---

1 "There is no development from polytheism through monotheism to monism, but only of monism from the first Mantra portion to the last Upanishadic portion."

शर्मा, चन्द्रधर – ए क्रिटिकल सर्वे ऑफ इन्डियन फिलॉसफी, पृष्ठ 16

[च] त्रितत्त्ववाद

वैदिक अद्वैतवाद के अन्तर्गत यह सुस्पष्ट किया गया है कि देवत्व एक है और वही सर्वत्र व्याप्त है । अब प्रश्न जगत् तथा जीवो को लेकर है कि क्या ये सत्य है तथा यदि सत्य है, तो इनका सम्बन्ध क्या है ? स्वामी दयानन्द सरस्वती ने वेद मे एक यथार्थवादी दर्शन का प्रतिपादन किया है । उनके अनुसार इसके अनतर्गत ईश्वर, जीव और प्रकृति को यथार्थ रूप मे स्वीकार किया जाता है ।[1] वे परमात्मा की सत्ता को शाश्वत और सर्वोत्कृष्ट मानते हुए जीव और जगत् को भी अनादि मानते है, अत ये दोनो भी यथार्थ है । "यद्यपि ईश्वर के साथ उनका व्याप्य-व्यापक सम्बन्ध है, किन्तु किसी भी प्रकार वे अपनी यथार्थता के लिए ईश्वर के आश्रित नही है ।"[2] ये तीनो तत्त्व अलग-अलग सर्वथा सत्य और यथार्थ है ।

ऋग्वेद मे हमे कोई ऐसा मन्त्र उपलब्ध नही होता,जिसमे जगत् की सत्ता को अस्वीकार किया गया हो । अत तात्त्विक दृष्टि से ईश्वर, जीव तथा जगत् तीनो ऋग्वेद के इष्ट प्रतीत होते है इस सम्बन्ध मे हमे सुप्रसिद्ध अस्यवामीय सूक्त मे एक मत्र उपलब्ध होता है, जिसमे कहा गया है कि दो समान योग वाले, मित्र, सुन्दर पखो वाले पक्षी एक ही वृक्ष पर आश्रय ग्रहण किये हुए है । इनमे से एक स्वादिष्ट पिप्पल सञ्ज्ञक फल खाता है तथा दूसरा फल न खाते हुए सबको देखता है ।[3] इस मन्त्र मे बताए गए दोनो पक्षी वस्तुत जीवात्मा तथा परमात्मा है । अपने कर्मो के अनुसार फल का भोग करने वाला पक्षी जीवात्मा है तथा दूसरा आप्तकाम होने के कारण भोक्तृत्वविहीन पक्षी परमात्मा है । दोनो का आश्रय वृक्ष अर्थात् ससार है । आचार्य सायण[4] एव आत्मानन्द[5] ने वृक्ष का अर्थ "शरीर" भी किया है । इस प्रकार यह प्रमाणित होता है कि ऋग्वेद मे परमात्मा, आत्मा और जगत् तीनो तत्त्वो का अस्तित्व स्वीकार किया गया है । यह मन्त्र विभिन्न उपनिषदो मे उद्धृत है तथा सम्भवत इसी के आधार पर आचार्य रामानुज ने तीनो तत्त्वो को स्वीकार करते हुए परमात्मा को शेष दोनो से विशिष्ट मानकर विशिष्टाद्वैतवाद की स्थापना की ।

---

1 वेदालङ्कार जयदेव – वैदिक दर्शन, पृष्ठ 39

2 वही, पृष्ठ 87

3. द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समान वृक्ष परि षस्वजाते ।
तयोरन्य पिप्पल स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति ।। (ऋ 1 164 20)

4 उपर्युक्त मन्त्र पर सायण भाष्य

5 उपर्युक्त मन्त्र पर आत्मानन्द भाष्य

अध्याय – 3

ऋग्वेद में दर्शन के परिनिष्ठित रूप की गवेषणा

(क) ऋग्वेद मे तत्त्वमीमासा

- (1) ऋग्वेद मे "जगत्" – विचार
- (2) ऋग्वेद मे "माया"
- (3) ऋग्वेद मे "आत्मा"
- (4) ऋग्वेद मे "ब्रह्म"
- (5) ऋग्वेद मे "मोक्ष" और "अमृतत्व"
- (6) ऋग्वेद मे "ऋत"

(ख) ऋग्वेद मे ज्ञानमीमासा

- (1) ज्ञानमीमासा का सामान्य स्वरूप
- (2) ऋग्वेद मे "प्रमा" शब्द
- (3) ऋग्वेद मे "प्रत्यक्ष", "अनुमान" और "शब्द" प्रमाणो के सड्केत
- (4) ऋग्वेद मे शब्दात्मिका "वाणी" का आविर्भाव

(ग) ऋग्वेद मे आचारमीमासा

- (1) यज्ञीय आचारमीमासा
- (2) लौकिक आचारमीमासा
  - (अ) सत्याचरण
  - (ब) अहिसा
  - (स) एकता एव लोककल्याण

प्राय सभी भारतीय एव पाश्चात्त्य विचारको ने उत्तरकालीन भारतीय विचारो को ऋग्वेद से ही पल्लवित माना है । यद्यपि उसमे इन दार्शनिक तत्त्वो का सूक्ष्म विवेचन नही किया गया है, तथापि कही न कही इनके निर्देश अवश्य उपलब्ध होते है । यहाँ विचारणीय है कि दर्शन के आधुनिक आयामो मे विवेचित तत्त्व ऋग्वेद मे कहाँ और किस रूप मे अवस्थित है ? इस दृष्टि से इन्हे तत्त्वमीमासा, ज्ञानमीमासा तथा आचारमीमासा की परिधि मे निबद्ध कर इनकी समीक्षा की जा सकती है।

(क) ऋग्वेद मे तत्त्वमीमासा –

तत्त्वमीमासा के अन्तर्गत सृष्टि के विभिन्न तत्त्वो की व्याख्या की जाती है । भारत के विभिन्न दार्शनिक सम्प्रदायो मे भिन्न–भिन्न तत्त्वो की विवेचना की गई है । यहाँ ऋग्वेद मे आए हुए जगत्, माया, आत्मा, ब्रह्म, मोक्ष तथा ऋत की अवधारणाओ पर विचार करना अपेक्षित है ।

(1) ऋग्वेद में "जगत्" – विचार – ऋग्वेद मे विभिन्न विभक्तियो और रूपो मे "जगत्" शब्द का 44 बार प्रयोग किया गया है ।[1] जगत् की उत्पत्ति को लेकर लगभग छ सूक्त उपलब्ध होते है ।[2] विश्वकर्मा को प्रलयकाल मे जगत् का सहारक तथा पुन सिसृक्षा होने पर इसका कर्त्ता भी कहा गया है ।[3] एक मन्त्र मे आया है – विश्वकर्मा ने सर्वप्रथम जल को उत्पन्न किया, तत्पश्चात् जल मे इधर–उधर चलने वाले द्यावापृथिवी को ।[4] इस प्रकार विश्वकर्मा को जगत्स्रष्टा के रूप मे प्रतिष्ठित किया गया है ।

ऋग्वेद के सुप्रसिद्ध पुरुषसूक्त (ऋग्वेद 10 90) मे आदिपुरुष से ही सारी सृष्टि का उद्भव बताया गया है । उसमे सर्वप्रथम पुरुष का स्वरूप बताकर उससे विराट् की उत्पत्ति बताई गई

---

1 ऋग्वेद–सहिता–पञ्चम भाग, सूची–खण्ड, पृष्ठ 220–221

2 ऋग्वेद 10.81, 82, 90, 121, 129 तथा 190

3 ऋग्वेद 10 81.1 पर सायण-भाष्य

4 चक्षुष पिता मनसा हि धीरो घृतमेने अजनन्नम्नमाने ।
यदेदन्ता अददृहन्त पूर्व आदिद्द्यावापृथिवी अप्रथेताम् ।। ऋग्वेद 10 82 1

है । विराट् से ब्रह्माण्डाभिमानी देवतात्मा जीव की उत्पत्ति तथा उसके द्वारा पशु, पक्षी, मनुष्यो, सूर्य, चन्द्रमा इत्यादि की सृष्टि का विस्तृत वर्णन किया गया है ।[1] इस सूक्त की दार्शनिक समीक्षा आगे पुरुषसूक्त से सम्बद्ध अध्याय 5 मे की गई है ।

ऋग्वेद का "हिरण्यगर्भ सूक्त"[2] सृष्टि की उत्पत्ति से सम्बद्ध सूक्तो मे महत्त्वपूर्ण है । इसमे हिरण्यगर्भ को प्राणिमात्र का स्वामी तथा पृथिवी और द्युलोक का धारक बताया गया है ।[3] उसकी उत्पत्ति विशाल जलराशि से बताई गई है ।[4] उसे पृथ्वी, द्युलोक तथा आह्लादकारी जल का स्रष्टा कहा गया है ।[5] इस प्रकार हिरण्यगर्भ से ही सृष्टि की उत्पत्ति बताई गई है । इस सूक्त की समीक्षा अध्याय 6 मे की गई है ।

ऋग्वेद मे जगत् के सम्बन्ध मे दार्शनिक विचारो से मण्डित सुप्रसिद्ध "नासदीय सूक्त"[6] है। अनेक भारतीय एव पाश्चात्त्य विद्वानो ने इस सूक्त के अन्तर्गत अनुस्यूत विचारो की भूरि–भूरि प्रशसा की है । इस सूक्त की तीन आरम्भिक ऋचाओ मे सृष्टि से पूर्व की अवस्थाओ का वर्णन किया गया है । उनमे सत्, असत्, अन्तरिक्ष, उसके ऊपर स्थित आकाश, मृत्यु, अमृत, रात–दिन के ज्ञापक चिह्न इत्यादि सभी तत्त्वो के अस्तित्व का निषेध किया गया है ।[7] वस्तुत नासदीय सूक्त के अभिप्रेत कथ्य को समझना नितान्त दुष्कर है । अनेक विद्वानो ने अपने–अपने ढग से इस सूक्त की व्याख्या की है। इसका आलोचनात्मक परिशीलन अध्याय 8 मे किया गया है ।

---

1 ऋग्वेद 10 90 पर सायण–भाष्य

2 ऋग्वेद 10 121

3 ऋग्वेद 10 121.1

4 ऋग्वेद 10 121 7

5 ऋग्वेद 10 121 9

6 ऋग्वेद 10 129

7 ऋग्वेद 10 129 1, 2 तथा 3

ऋग्वेद के अन्तर्गत सृष्ट्युत्पत्ति से सम्बद्ध अन्तिम सूक्त "अघमर्षण सूक्त"[1] है । उसमे कहा गया है – प्रज्वलित तप से ऋत और सत्य उत्पन्न हुए । इसके बाद दिन–रात तथा जल से पूर्ण समुद्र की उत्पत्ति हुई । समुद्र से सवत्सर उत्पन्न हुआ तथा ईश्वर ने समस्त प्राणियो की सृष्टि की । पूर्वकाल की सृष्टि के समान ही इसमे भी सूर्य, चन्द्रमा, स्वर्ग, पृथ्वी और अन्तरिक्ष की सृष्टि हुई ।[2]

इन सूक्तो के अतिरिक्त अन्यत्र भी सविता[3], त्वष्टा[4], धाता[5] इत्यादि को भी जगत् का स्रष्टा कहा गया है । कुछ मन्त्रो मे सूर्य को मनुष्यो को उत्पन्न करने वाला बताया गया है ।[6] एक अन्य मन्त्र मे अग्नि के लिए कहा गया है कि उसने मानवीय प्रजाओ की सृष्टि की ।[7] इसके अतिरिक्त आकाश और पृथिवी को सबके माता–पिता के रूप मे स्वीकार किया गया है ।[8]

इस प्रकार ऋग्वेद मे सृष्टि को लेकर अनेक स्थानो पर विभिन्न प्रकार के विचार व्यक्त किये गए है । अलग–अलग स्थानो पर अन्यान्य देवताओ को जगत् का स्रष्टा कहा गया है । एक

---

1. ऋग्वेद 10 190
2. ऋतञ्च सत्य चाभीदात्तपसोऽध्यजायत ।
   ततो रात्र्यजायत तत समुद्रो अर्णव । ऋग्वेद 10 190 1
   समुद्रादर्णवादधि सवत्सरो अजायत ।
   अहोरात्राणि विदधद्विश्वस्य मिषतो वशी ।। ऋग्वेद 10 190 2
   सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत् ।
   दिव च पृथिवी चान्तरिक्षमथो स्व ।। ऋग्वेद 10 190 3
3. ऋग्वेद 5 81 5, 4 53 3 इत्यादि
4. ऋग्वेद 3 55 19, 10 10 5, 110 9, 5 31 4 इत्यादि
5. ऋग्वेद 10 82 2
6. ऋग्वेद 7 63 2 तथा 3
7. इमा प्रजा अजनयन्मनूनाम् । ऋग्वेद 1 96 2
8. ऋग्वेद 1 160 1

सूक्त को तो डॉ सी के राजा ने "सृष्टि की पहेली" ही कहा है ।[1] उस सूक्त के जगत् सम्बन्धी विचारो को चतुर्थ अध्याय मे विवेचित किया गया है । वस्तुत देवो द्वारा जगत् की रचना का विचार ऋग्वैदिक देववाद के साथ ही विकसित होता गया । जैसे – बहुदेववादी युग मे सविता, इन्द्र, विष्णु, सूर्य, त्वष्टा आदि को सृष्टिकर्त्ता माना गया है । एकदेववाद के समय हिरण्यगर्भ या पुरुष को स्रष्टा बताया गया है । आगे चलकर एकत्ववादी प्रवृत्ति होने पर विश्व को परम सत्ता के ही विकसित रूप मे स्वीकार किया गया है ।

(2) ऋग्वेद मे "माया" – ऋग्वेद मे "माया" शब्द विभिन्न विभक्तियो और रूपो मे कुल मिलाकर 102 बार प्रयुक्त हुआ है ।[2] यह अनेक अर्थों का अभिधायक है । ऋग्वेद के कई मन्त्रो मे "माया" शब्द प्रज्ञा या बुद्धि के अर्थ मे प्रयुक्त हुआ है । एक स्थान पर आए "माया" शब्द की व्याख्या सायण ने बुद्धि के अर्थ मे की है ।[3] एक और मन्त्र द्रष्टव्य है, जिसमे "मायिन्" शब्द का प्रयोग "प्राज्ञ" या "प्रज्ञावान्" के अर्थ मे किया गया है ।[4] इनके अतिरिक्त अनेक स्थलो पर यह शब्द प्रज्ञा के अर्थ मे ही प्रयुक्त है ।[5]

ऋग्वेद के कई मन्त्रो मे "माया" शब्द का प्रयोग शक्ति के अर्थ मे किया गया है । एक मन्त्र मे कहा गया है – इन्द्र ने माया अर्थात् अपनी शक्ति से अहि को अभिभूत किया ।[6] इसी मन्त्र मे आए "मायिन्" का अर्थ आचार्य सायण ने 'कपटवान्' किया है ।[7] इससे यह ज्ञात होता है कि माया

---

1 राजा, डॉ सी के – अस्यवामस्य हिम (दि रिडिल ऑफ द यूनिवर्स), ऋग्वेद 1 164

2 ऋग्वेद–सहिता–पञ्चम भाग, सूचीखण्ड, पृष्ठ 446–447

3 मायाविनो ममिरे अस्य मायया । ऋग्वेद 9 83 3
माया प्रज्ञा । प्रज्ञावन्तो देवा अस्य सोमस्य मायया प्रज्ञया ममिरे निर्मान्ति । उक्त मन्त्र पर सायण-भाष्य

4 महिषसो मायिनश्चित्रभानव । ऋग्वेद 1 64 7, द्रष्टव्य-सायण-भाष्य

5 ऋग्वेद 1 144 1, 151 9, 159 4, 160 3, 2 17 5, 3 27 7, 60 1, 4 30 12, 5 31 7, 48.1, 6 48 14, 7 28 4, 8 76 1, 10 88 6, 147 5 इत्यादि

6 मायाभिर्मायिन सक्षदिन्द्र । ऋग्वेद 5 30 6

7 उक्त मन्त्र पर सायण-भाष्य

का अर्थ "कपट" भी है । एक अन्य मन्त्र मे भी यह शब्द कपट के अर्थ मे ही प्रयुक्त है ।[1] यहाँ सायण ने "मायिनम्" का अर्थ "नानाविधकपटोपेतम्" और "मायाभि " का "तत्प्रतिकूलै कपटविशेषै " किया है ।[2] एक मन्त्र के भाष्य मे सायण ने माया को ज्ञानवाचक मानते हुए इसका अर्थ आत्मीय सङ्कल्प किया है – "मायाभि । ज्ञाननामैतत् । ज्ञानै आत्मीयै सङ्कल्पै ।"[3]

ऋग्वेद मे "आसुरी माया" के अर्थ मे भी माया शब्द का प्रयोग किया गया है ।[4] इसके अतिरिक्त एक अन्य स्थान पर आए हुए माया शब्द का अर्थ भी सायण ने आसुरी माया से किया है – "मायिना मायोपेतानामसुराणा सम्बन्धिनी माया " ।[5] इसके अतिरिक्त कई अन्य स्थलो पर भी "माया" शब्द का प्रयोग आसुरी माया के लिए किया गया है ।[6]

ऋग्वेद के कुछ मन्त्रो मे माया शब्द का प्रयोग "कर्म" के अर्थ मे किया गया है ।[7] इसके अतिरिक्त दो स्थलो पर इसका प्रयोग जीव के हृदय मे मोह उत्पन्न करने वाली त्रिगुणात्मिका शक्ति के अर्थ मे किया गया है । प्रथम स्थल[8] पर आचार्य सायण ने इसका अर्थ – "स्वाश्रयमव्यामोहयन्ती परास्तु तथा कुर्वती मायेत्युच्यते" किया है ।[9] दूसरे स्थल[10] पर उन्होने "मायया"

---

1 मायाभिरिन्द्र मायिन त्व शुष्णमवातिर । ऋग्वेद 1 11 7

2 वही, सायण-भाष्य

3 इन्द्रो मायाभि पुरुरूप ईयते । ऋग्वेद 6 47 18, द्रष्टव्य सायण-भाष्य

4 ऋते सप्तथस्य माया । ऋग्वेद 10 99 2

5 मायिनाममिना प्रोत माया । ऋग्वेद 1 32 4, द्रष्टव्य – सायण-भाष्य

6 ऋग्वेद 1 117 3, 3 20 3, 34 3, 5 2 9, 44 2, 6 18 9, 22 9, 7 1 10, 98 5, 99 4, 8.23.14, 41.8 इत्यादि

7 वरुणस्य मायया।ऋग्वेद 9 73 9, "वरुणस्य मायया कर्मणा" – सायण-भाष्य, द्रष्टव्य – ऋग्वेद 1 33 10, 8 41 3, 10 53 9 इत्यादि

8 स्वर्भानोरप माया अघुक्षत् । ऋग्वेद 5 40 8

9 वही, सायण-भाष्य

10. पतगमक्तमसुरस्य मायया । ऋग्वेद 10 177 1

का अर्थ "त्रिगुणात्मिकया" किया है । वही वैकल्पिक अर्थ प्रस्तुत करते हुए उन्होने कहा है – माययाक्तं जीवरूपेणाभिव्यक्तमात्मानम् ।[1] इस प्रकार उनका माया का वैकल्पिक अर्थ जीव के रूप मे अभिव्यक्त परमात्मा से है ।

इन सभी अर्थों के अतिरिक्त ऋग्वेद मे एक स्थान पर "माया" शब्द का प्रयोग 'मिथ्या" के अर्थ मे किया गया है । उसकी व्याख्या करते हुए सायण ने लिखा है – "ते तव गति मायैव । मृषेत्यर्थ ।"[2]

इस प्रकार हम देखते है कि ऋग्वेद मे आए "माया" शब्द को भिन्न–भिन्न अर्थों मे प्रयुक्त किया गया है । जहाँ तक दार्शनिक क्षेत्र का प्रश्न है, उसमे अन्तिम तीन अर्थ ही सङ्गत हो सकते है । यह भी कहा जा सकता है कि आचार्य शङ्कर के मन मे माया की धारणा अन्तिम उद्धृत मन्त्र के आधार पर ही बनी होगी ।

(3) ऋग्वेद मे "आत्मा" – ऋग्वेद मे ऐसे अनेक शब्द उपलब्ध होते है, जो शरीर से भिन्न किसी तत्त्व का निर्देश करते है । उनमे से कुछ तो सीधे आत्मा को ही इङ्गित करते है तथा कुछ किसी न किसी रूप मे आत्म–तत्त्व से सम्बद्ध प्रतीत होते है । कुछ विद्वानो[3] ने असु, प्राण, मनस्, अजोभाग इत्यादि शब्दो द्वारा भी आत्मा का ही निर्देश स्वीकार किया है । यदि ध्यानपूर्वक देखा जाए तो आत्मा के ही अर्थ मे कुल नव शब्दो का प्रयोग किया गया है । वे इस प्रकार है – अजोभाग, असु, सत्य, प्राण, मनस्, सुपर्ण, जीव, त्मन् एव आत्मन् । इन शब्दो द्वारा अभिप्रेत अर्थों को जानने के लिए प्रत्येक पर विचार करना आवश्यक है ।

(1) अजोभाग – यह सयुक्त पद है तथा ऋग्वेद मे मात्र एक बार[4] प्रयुक्त है ।

---

1 ऋग्वेद 10.177 1, सायण-भाष्य

2 मायेत्सा ते यानि युद्धान्याहु । ऋग्वेद 10 54 2, द्रष्टव्य – सायण-भाष्य

3 (क) मैक्डानेल, ए ए. – वैदिक माइथोलॉजी, पृष्ठ 166

(ख) मूर, जे – ओरिजिनल सस्कृत टेक्स्टस, वाल्यूम 5, पृष्ठ 313

(ग) दासगुप्ता, एस एन – ए हिस्ट्री ऑफ इण्डियन फिलॉसफी, वाल्यूम 1, पृष्ठ 26.

4 ऋग्वेद 10 16 4

इसका पूर्वभाग "अज" आठ बार प्रयुक्त है और प्राय इसका अर्थ "अनुत्पन्न" किया गया है । ऋग्वेद के सुप्रसिद्ध "अस्यवामीय सूक्त" के भी एक मन्त्र[1] मे यह आया है तथा वहाँ आचार्य सायण ने इसका अर्थ "जननादिरहित"[2] किया है । सयुक्त पद के रूप मे आए हुए भी इसका[3] अर्थ सायण ने "जननरहित" किया है । इसके अतिरिक्त उन्होने "भाग" का अर्थ – शरीर, इन्द्रिय इत्यादि भागो से पृथक् आन्तरिक पुरुष के लक्षण का भाग किया है ।[4] ग्रिफिथ ने प्रकृत स्थल पर इसका अर्थ – 'अज' (बकरा) किया है ।[5] यदि सायण के अर्थ पर विचार किया जाए, तो ज्ञात होता है कि 'अज' का एक भाग मृत्यु होने पर भी नष्ट नही होता । इससे यह भी ध्वनित होता है कि मृत्यु जीवन का अन्त नही है और यह प्राणी के शरीर मात्र को नष्ट करता है, अजोभाग (आत्मा) को नही, क्योंकि यह न तो जन्म लेता है और न नष्ट होता है । वैदिक ऋषियो की यही भावना आगे चलकर उपनिषत्काल मे और प्रौढ हुई ।

(2) असु – ऋग्वेद मे "असु" शब्द दस बार स्वतन्त्र रूप से तथा आठ बार सयुक्त रूप से उपलब्ध होता है ।[6] इसका प्रयोग प्राय "जीवन" या प्राण के अर्थ मे किया गया है । पूरे ऋग्वेद मे "असु" एव "मनस्" का बडा महत्त्वपूर्ण स्थान है । इनमे से पहला शारीरिक चेतना का द्योतक है, तो दूसरा विचारणा शक्ति का । ऋग्वेद के एक मन्त्र[7] मे कहा गया है कि असुरहित

---

1 अजस्य रूपे किमपि स्विदेकम् । ऋग्वेद 1 164 6

2 अजस्य जननादिरहितस्य । उपर्युक्त मन्त्र पर सायण-भाष्य

3 अजोभागस्तपसा त तपस्व । ऋग्वेद 10 16 4.

4. अज जननरहित शरीरेन्द्रियादिभागव्यतिरिक्तोऽन्तरपुरुषलक्षणो य भाग अस्ति । उपर्युक्त मन्त्र पर सायण-भाष्य.

5 ग्रिफिथ, आर टी एच – द हिम्स ऑफ द ऋग्वेद, पृष्ठ 540

6 ऋग्वेद 1 113 16, 140 8, 164 4, 182 3, 2 22 8, 10 12 1, 14 12, 15.1, 18.8 इत्यादि स्थलो पर स्वतन्त्र रूप से प्रयुक्त है
10 12 4, 15 14, 16 2, 59 5, 59 6, 82 7, 87 14 इत्यादि स्थलो पर संयुक्त रूप से प्रयुक्त है

7. ऋग्वेद 10.18.8.

व्यक्ति मृत हो जाता है । इसी प्रकार एक अन्य स्थल[1] पर कहा गया है – "उठो हमारा "असु" आ गया है ।" इसका भाष्य करते हुए सायण ने "जीव" को विशेष्य और "असु " को विशेषण माना है तथा "असु " का अर्थ "शरीरस्य प्रेरयिता" और "जीव " का अर्थ "जीवात्मा" किया है ।[2] इसके विपरीत स्कन्दस्वामी ने "जीव " को विशेषण तथा "असु " को विशेष्य मानते हुए इसका भाष्य "जीवितस्थानीया असु " किया है ।[3] उन्होने "असु " को प्राण के अर्थ मे लिया है । स्कन्दस्वामी के समान ही वेङ्कट माधव ने भी इसका भाष्य "जीवयिता प्राण "[4] किया है । इन तीनो भारतीय आचार्यो के विपरीत मूर ने दोनो पदो को पृथक्–पृथक् मानते हुए "जीव " का अर्थ जीवन तथा "असु " का अर्थ श्वास किया है ।[5] ग्रिफिथ ने भी दोनो को अलग मानकर "असु " का अर्थ "प्राण" और "जीव" का अर्थ "जीवन" किया है ।[6]

सायण ने एक स्थान पर सयुक्त रूप से आए हुए "असु" का अर्थ "प्रज्ञा" किया है ।[7] यास्क ने "असु" को "प्राण" एव "प्रज्ञा" दोनो का वाचक माना है ।[8] पुनश्च सायण ने सयुक्त रूप से आए हुए "असुनीतिम्" पद का अर्थ "प्राणो को ले जाना" या "प्राणो को प्रेरित करना" किया है ।[9] इसके अतिरिक्त सम्बोधन के रूप मे आए हुए "असुनीते" पद का अर्थ उन्होने एक जगह "प्राणो को ले जाने वाली" (असूना नेत्रि)[10] तथा दूसरी जगह प्राणदायिनी (असुनीते प्राणदायिनि)[11] किया है ।

---

1 उदीर्ध्व जीवो असुर्न आगात् । ऋग्वेद 1 113 16

2 ऊपर उद्धृत मन्त्र पर सायण-भाष्य

3 उक्त मन्त्र पर स्कन्दस्वामी का भाष्य

4 सन्दर्भित मन्त्र पर वेङ्कट माधव-भाष्य

5 मूर, जे – ओरिजिनल सस्कृत टेक्स्ट, भाग 5, पृष्ठ 190

6 ग्रिफिथ – द हिम्स ऑफ द ऋग्वेद, पृष्ठ 75.

7 "असु प्रज्ञा । तया नीयत इत्यसुनीति स्तुति ।" ऋग्वेद 10 12 4 पर सायण-भाष्य.

8 "असुरिति प्राणनाम"। निरुक्त – 3 8, "असुरिति प्रज्ञानाम"। निरुक्त 10 34

9 "असुनीति प्राणस्य नयन प्राणप्रेरणम्"। ऋग्वेद 10 16 2 पर सायण-भाष्य

10 ऋग्वेद 10 59 5 पर सायण भाष्य.

11 ऋग्वेद 10 59 6 पर सायण भाष्य

ऋग्वेद मे ही एक स्थल पर "असु " और "आत्मा" दोनो पदो को साथ-साथ प्रयुक्त किया गया है ।[1] सायण ने "असु " को प्राण से उपलक्षित "सूक्ष्म शरीर" तथा "आत्मा" को चेतन तत्त्व के रूप मे माना है ।[2]

यद्यपि ऊपर किये गए विवेचन से "असु' तथा आत्मा दोनो पृथक् तत्त्वो के रूप मे हमारे सम्मुख आते है, तथापि "असु' "आत्मा" से कम महत्त्वपूर्ण नही है । यह जीवन का प्रमुख आधार है ।

(3) सत्य - ऋग्वेद मे "सत्य" शब्द कर्त्ताकारक के रूप मे इक्यावन बार तथा करण कारक के रूप मे पाँच बार आया है ।[3] इसके अतिरिक्त सयुक्त रूप मे भी इसके प्रयोग उपलब्ध होते है । आचार्य सायण ने एक मन्त्र[4] मे आए हुए "सत्येन" पद की व्याख्या करते हुए यह स्पष्ट किया है कि सत्य का तात्पर्य "ब्रह्मन्" से है । आगे उन्होने उसे "अनन्तात्मा" का बोधक भी माना है ।[5] विल्सन ने भी सायण का अनुगमन करते हुए उसे ब्रह्मवाचक माना है ।[6] ग्रिफिथ ने इस स्थल पर "सत्य" को "ऋत" का पर्याय माना है, जो इस जगत् के विधान के रूप मे है ।[7]

यद्यपि सायण की इस व्याख्या को विद्वानो ने स्वीकार नही किया है, तथापि सत्य का ब्रह्मपरक अर्थ उपनिषत्काल मे तो हमे दृष्टिगोचर होता ही है । अत इसे असङ्गत नहीं कहा जा सकता । उक्त मन्त्र द्वारा वैदिक ऋषि की यह मनोभावना प्रतीत होती है कि इस जगत् का नियामक सत्य-स्वभाव वाला है । बृहदारण्यक उपनिषद् मे भी ब्रह्म को सत्स्वरूप माना गया है ।[8]

---

1 ऋग्वेद 1 164 4

2 "असु प्राण तदुपलक्षित सूक्ष्मशरीरम् । आत्मा तै सम्बद्ध चेतन ।"
उपर्युक्त मन्त्र पर सायण भाष्य

3 ऋग्वेद-संहिता-पञ्चम भाग, सूची खण्ड, पृष्ठ 604-5

4 "सत्येनोत्तभिता भूमि सूर्येणोत्तभिता द्यौ ।" ऋग्वेद 10 85 1

5. "सत्येन ब्रह्मणाऽनन्तात्मना । ब्रह्मा खलु देवाना मध्ये सत्यभूत । ऋ 10 85 1 सायणभाष्य

6 विल्सन, एच एच - ऋग्वेद संहिता, भाग 6, पृष्ठ 276

⦅4⦆ प्राण – ऋग्वेद मे "प्राण" शब्द विभिन्न रूपो मे आठ बार प्रयुक्त हुआ है ।[1] एक स्थान पर "प्राणनम्"[2] तथा अन्यत्र "प्राणीत्"[3] प्रयोग भी दृष्टिगत होते है । प्राय इसका अर्थ "प्राणवायु" किया गया है, जो अस्तित्व के लिए अनिवार्य है । यास्क ने भी इसका अर्थ प्राणवायु ही किया है ।[4] सायण ने मात्र दो स्थानो पर इसका अर्थ "चेष्टा" किया है ।[5] ऋग्वेद मे ही एक स्थान पर अग्नि का वर्णन करते हुए उसे प्राण के समान साक्षात् आयु के रूप मे बताया गया है ।[6] सायण ने अपनी व्याख्या मे प्राण को जीवन का आधार माना है ।

इस प्रकार ऋग्वेद मे प्राण को एक जीवनदायी तत्त्व के रूप मे स्वीकार किया गया है । आगे चलकर ब्राह्मणो तथा उपनिषदो मे यह विचारधारा और भी पल्लवित हुई है, यहॉं तक कि इसका सम्बन्ध आत्मा से भी स्थापित किया गया है ।[7]

⦅5⦆ मनस् – ऋग्वेद मे "मनस्" शब्द दो सौ से भी अधिक बार प्रयुक्त हुआ है ।[8] सामान्यत इसका प्रयोग "मन" के अर्थ मे ही दिखाई देता है । इसके अतिरिक्त कम से कम पॉंच बार यह "प्रज्ञा" या "बुद्धि" के अर्थ मे प्रयुक्त है ।[9] कही–कही मन को चित्त[10] एव हृदय[11] से भी

---

1 ऋग्वेद 1 66 1, 101 5, 3 53 21, 10 59 6, 90 13, 121 3, 125 4, 182 2

2 ऋग्वेद 1 48 10

3 ऋग्वेद 10 32 8

4 निरुक्त 8 22 तथा 10 8

5. ऋग्वेद 1 48 10 तथा 10 32 8.

6 आयुर्न प्राण । ऋग्वेद 1.66 1, द्रष्टव्य, इस मन्त्र पर सायण-भाष्य

7 द्रष्टव्य – बृहदारण्यक उपनिषद्, 2 1

8 ऋग्वेद–संहिता – पञ्चम भाग, सूची खण्ड, पृष्ठ 429–30

9 ऋग्वेद 10 71 2, 121 6, 177 2, 181 3, 183 1

10 ऋग्वेद 10 191 3.

11 ऋग्वेद 10 10 13

जोडा गया है । आचार्य सायण ने एक मन्त्र[1] की व्याख्या करते हुए मन को शुभ सङ्कल्पो से जोडा है ।[2] एक मन्त्र मे मन द्वारा दर्शन करने की बात की गई है ।[3]

एक सूक्त[4] मे मृतक के विभिन्न स्थानो पर गए हुए मन को वापस लाने की प्रार्थना की गई है । वास्तविकता यह है कि मृत्यु होने पर आत्मा, शरीर छोडकर चला जाता है । इसी कारण से ग्रिफिथ ने इस सूक्त मे आत्मा को पुन बुलाए जाने की बात कही है तथा "मन " का अनुवाद स्पिरिट (Spirit) किया है ।[5] इस प्रकार "मनस्", "आत्मा" से भी सम्बद्ध हो जाता है । यह सम्भव है कि जब उपनिषत्कालीन ऋषियो ने आत्मा को "चित्" के रूप मे अनुभव किया, तो उन्हे ऋग्वेद मे आए हुए "मनस्" के प्रज्ञा या बुद्धि–रूप से प्रेरणा मिली हो, क्योंकि प्रज्ञा का सम्बन्ध चिन्तन से है और चिन्तन कोई चेतन तत्त्व ही कर सकता है । वैदिक ऋषियो का "मनस्" के रूप मे स्थित यही चेतन तत्त्व उपनिषदो के युग मे आते–आते शुद्ध आत्मतत्त्व बन गया ।

(6) सुपर्ण – ऋग्वेद में "सुपर्ण" शब्द विभिन्न विभक्तियो मे पैतीस बार से भी अधिक आया है ।[6] प्राय सायण ने सर्वत्र इसका अर्थ सूर्य की किरणो से लिया है ।[7] एक स्थान[8] पर

---

1 भद्रं नो अपि वातय मन । ऋग्वेद 10 25 1

2 भद्र कल्याण वातय गमय । अस्माक मन शुभसङ्कल्प कुर्वित्यर्थ ।
उक्त मन्त्र पर सायण-भाष्य

3 अपश्य त्वा मनसा चेकितानम् । ऋग्वेद 10 183 1

4 ऋग्वेद 10 58

5 "The hymn is addressed to recall the fleeting spirit of a man at the point of death."
ग्रिफिथ – द हिम्स ऑफ द ऋग्वेद, पृष्ठ 572

6 ऋग्वेद–संहिता – पञ्चम भाग, सूची खण्ड, पृष्ठ 644

7 ऋग्वेद 1 35 7, 1 79 2, 10 73 11 इत्यादि पर सायण-भाष्य

8 दिव आजाता दिव्या सुपर्णा । ऋग्वेद 4 32 3 4 43-3
द्रष्टव्य – सायण-भाष्य

उन्होने इसका अर्थ सुन्दर गमन वाला किया है । इसी प्रकार अन्यत्र[1] उन्होने इसका अर्थ यजमान और उसकी पत्नी या यजमान और ब्रह्मा (पुरोहित) किया है । वही पर एक अन्य अर्थ – जीव और परमात्मा भी किया है । इसी प्रकार एक मन्त्र का भाष्य करते समय उन्होने इसका अर्थ जीव या क्षेत्रज्ञ और परमात्मा किया है ।[2] इस मन्त्र से एक बात और स्पष्ट होती है कि ऋग्वेद के ऋषि यह पूर्णत जानते थे कि जीवात्मा अपने कृत कर्मों का फल भोगता है, जबकि परमात्मा इस प्रकार के बन्धन से मुक्त है । इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि ऋग्वेद मे सुपर्ण "आत्मा" के लिए भी प्रयुक्त है, चाहे वह जीवात्मा हो या परमात्मा, इससे कोई अन्तर नही पडता ।

(7) जीव – ऋग्वेद मे "जीव" शब्द विभिन्न विभक्तियो, क्रियापदो, समास इत्यादि मे कुल मिलाकर लगभग 93 (तिरानवे) बार प्रयुक्त हुआ है ।[3] इसमे से 23 बार स्वतन्त्र रूप से तथा दस बार समस्त पद के रूप मे आया है । आचार्य सायण के अनुसार यह तीन बार "जीवात्मा"[4] के अर्थ मे, तेरह बार "जीवन" या "जीवयिता"[5] के अर्थ मे, सोलह बार "प्राणिजात"[6] के अर्थ मे और दो बार "पुत्र–पौत्रादि"[7] के अर्थ मे प्रयुक्त हुआ है । ग्रिफिथ ने प्राय सर्वत्र "जीव" का अर्थ "जीवन" या जीवित (लिविङ्ग) किया है ।[8] उक्त सभी सन्दर्भों मे से प्रसङ्गानुसार तीन विवेच्य है ।

---

1 तस्या सुपर्णा वृषणा निषेदु । ऋग्वेद 10 114 3
सुपर्णा सुपर्णौ सुपतनौ जायापती यजमानब्रह्माणौ वा ।
यद्वा सुपर्णा सुपर्णौ जीवपरमात्मानौ । सायण–भाष्य

2 द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समान वृक्ष परिषस्वजाते ।
ऋग्वेद 1 164 20, द्रष्टव्य – सायण-भाष्य

3 ऋग्वेद-संहिता, पञ्चम भाग, सूची-खण्ड, पृष्ठ 233–34

4 ऋग्वेद 1 113 8, 16 तथा 164 30 पर सायण–भाष्य

5 ऋग्वेद 5 44 5, 78 9, 10 57 5 पर सायण-भाष्य

6 ऋग्वेद 1 92 9, 4 51 5, 7 77 1, 8 8 23 इत्यादि पर सायण–भाष्य

7 ऋग्वेद 10 18 4 तथा 8 पर सायण भाष्य

8 उपरिलिखित सभी सन्दर्भों पर ग्रिफिथ का अनुवाद एव टिप्पणी

ऋग्वेद 1 113 8 मे कहा गया है कि उषा "जीव" को अर्थात् "जीवात्मा" को जगाकर पुन उसे चेतन बनाती है ।[1] इसी प्रकार इसी सूक्त के अन्य मन्त्र[2] मे जीव को "जीवात्मा" तथा "असु" को शरीर का प्रेरयिता मानते हुए सायण ने यह अर्थ किया है – 'हे मनुष्यो । शयन का परित्याग करके उठ जाओ, हमारे शरीर को प्रेरित करने वाला जीवात्मा आ गया है, अन्धकार दूर चला गया है तथा ज्योति आ रही है ।' इस मन्त्र मे यह बताया गया है कि सारे प्राणी, जो रात मे विश्राम कर रहे होते हैं, सूर्योदय होने पर सूर्य की किरणो से प्रेरित होकर जग जाते हैं तथा उनमे जीवन्तता आ जाती है । अत "जीवो असुर्न आगात्" ऋषि के इस कथन का भाव यही है कि प्रात·काल की मधुर वेला ने जीव को क्रियाशील बना दिया । यहाँ निश्चित रूप से "जीव" का तात्पर्य शरीर मे रहने वाले जीवनदायी क्रियाशील तत्त्व से है । कठोपनिषद् मे सम्भवत इस प्रकार के मन्त्रो के प्रभाव से ही रूपकात्मक शैली मे आत्मा को रथी तथा शरीर को रथ कहा गया है ।[3]

ऋग्वेद मे जीवात्मा को अविनाशी माना गया है । इसी आशय के एक मन्त्र[4] मे कहा गया है – तीव्रगामी अविनाशी जीवात्मा, श्वास लेता हुआ गृहो के मध्य मे निवास करता है । वह अमर्त्य (जीव) मर्त्य (शरीर) के साथ समान उत्पत्ति स्थान वाला होकर "स्वधा" के द्वारा स्वेच्छानुसार विचरण करता है । मन्त्र के उत्तरार्द्ध मे एक ऐसे अमर्त्य तत्त्व का निर्देश किया गया है, जो स्वधापूर्वक दिये गए अन्न से अपना निर्वाह करता है । यहाँ जीव को ही शरीर का जीवनदायी तत्त्व माना गया है । इस मन्त्र की टिप्पणी मे ग्रिफिथ ने प्रथम भाग का विषय अग्नि को तथा द्वितीय भाग का विषय सोम को माना है, जो मृतक को दी गई यज्ञीय आहुतियो से प्रवृद्ध होता है ।[5] इसके

---

1 व्युच्छन्ती जीवमुदीरयन्त्युषा मृत क चन बोधयन्ती । ऋग्वेद 1 113 8
जीव प्राणिना जीवात्मानम् उदीरयन्ती शयनादूर्ध्वं प्रेरयन्ती । सायण-भाष्य

2 उदीर्ध्व जीवो असुर्न आगादप प्रागात्तम आ ज्योतिरेति । ऋ 1 113 16, द्रष्टव्य सायणभाष्य

3 "आत्मान रथिन विद्धि शरीर रथमेव तु" । कठोपनिषद् – 3 3

4 अनच्छये तुरगातु जीवमेजद्ध्रुव मध्य आ पस्त्यानाम् ।
जीवो मृतस्य चरति स्वधाभिरमर्त्यो मर्त्येना सयोनि ।। ऋग्वेद 1.164 30

5 ग्रिफिथ – द हिम्स ऑफ द ऋग्वेद, उपर्युक्त मन्त्र का अनुवाद एव पाद टिप्पणी, पृष्ठ 112

विपरीत सायण ने मन्त्र के पूर्वार्द्ध तथा उत्तरार्द्ध दोनो स्थानो पर एक ही पूर्ण तथा परस्पर सम्बद्ध तत्त्व को प्रतिपादित माना है । उनके अनुसार इस मन्त्र मे शरीर की असारता तथा उसमे रहने वाले जीव की नित्यता प्रतिपादित की गई है ।[1] इस दृष्टि से पूर्वार्द्ध का तात्पर्य होगा कि जब तक शरीर मे जीव था, वह नाना प्रकार के कार्यों को करने मे व्यापृत था, किन्तु जीव के चले जाने के बाद वह निष्क्रिय हो गया । इसी प्रकार उत्तरार्द्ध मे बताया गया है कि शरीर का परित्याग करने के बाद जीव स्वधा के द्वारा विचरण करता रहता है । इससे यह स्पष्ट होता है कि वैदिक ऋषियो ने जीवात्मा को न केवल शरीर का नियामक या सारतत्त्व ही माना है, अपितु उन्होने इसे एक शाश्वत–नित्य तत्त्व माना है, जो शरीर के नष्ट होने पर भी बना रहता है ।

(8) त्मन् – वस्तुत "त्मन्", "आत्मन्" शब्द का ही लघु रूप है । यह पूरे ऋग्वेद मे विभिन्न विभक्तियो तथा रूपो मे अठहत्तर बार प्रयुक्त है ।[2] इसका प्रयोग कही निजवाचक सर्वनाम[3] तथा कही क्रिया–विशेषण के रूप मे किया गया है ।[4] एक स्थान पर सायण ने "त्मनम्" का अर्थ "जीवम्" किया है ।[5] इसके अतिरिक्त यह अन्य स्थलो पर प्राय आत्मा, प्राण इत्यादि के अर्थ मे प्रयुक्त हुआ है ।[6]

(9) आत्मन् – ऋग्वेद मे "आत्मन्" शब्द विभिन्न विभक्तियो तथा रूपो मे कुल मिलाकर छब्बीस बार आया है ।[7] इसकी निष्पत्ति "अत्" + मनिन् प्रत्यय के योग से होती है ।[8] निरुक्त मे यह दस बार आया है तथा यास्क ने सर्वत्र इसका अर्थ "आत्मा" किया है ।[9] विन्टर नित्ज

---

1 अनेन देहस्य असारता जीवस्य नित्यत्व च प्रतिपाद्यते । ऋ 1 164 30 पर सायण भाष्य

2 ऋग्वेद–संहिता, पञ्चम भाग, सूची-खण्ड, पृष्ठ 261

3 ऋग्वेद 1 30 14, 41 6, 54 4, 79 6, 104 3 इत्यादि

4 ऋग्वेद 4.4 9, 9 86 1, 103 7 इत्यादि

5 त्मनूमूर्जं न विश्वध क्षरध्यै । ऋग्वेद 1 63 8
"त्मनम् आत्मान जीवम् " सायण-भाष्य

6 उद्धृत सभी मन्त्र तथा उन पर सायण-भाष्य

7 ऋग्वेद–संहिता, पञ्चम भाग, सूची-खण्ड, पृष्ठ 100

8 आप्टे, वामन शिवराम – सस्कृत–हिन्दी कोश, पृष्ठ 144

9 यास्क – निरुक्त, 12 29, 30, 32

ने इसे श्वास लेने के अर्थ वाली "अन्" धातु से निष्पन्न मानते हुए जर्मन शब्द "अथ्मेन" (Athmen) से सम्बद्ध माना है । उनके अनुसार ऋग्वेद मे इसका प्रयोग निजवाचक सर्वनाम के रूप मे भी हुआ है ।[1] सामान्यत यह सारतत्त्व, आनन्ददायक, नियामक, प्राणवायु, देह, चेतन सत्ता तथा आत्मभूत या स्वरूपभूत के अर्थ मे प्रयुक्त दिखाई देता है ।

ऋग्वेद (8 3 24) मे "आत्मा" शब्द का प्रयोग निजवाचक सर्वनाम के रूप मे किया गया है ।[2] एक अन्य स्थल पर भी सायण ने इसे इसी रूप मे प्रयुक्त माना है ।[3]

सामान्यत आत्मा किसी वस्तु, विशेष रूप से मनुष्य के आन्तरिक स्वरूप (सारतत्त्व) को प्रकट करता है । अवान्तरकालीन भारतीय दर्शन–परम्परा के "इदन्ता" शब्द के साथ इसे सम्बद्ध किया जा सकता है । एक स्थल पर कहा गया है कि ओषधियो से यक्ष्म-रोग का आत्मा नष्ट होता है ।[4] यहाँ निश्चित रूप से "आत्मा" शब्द का प्रयोग रोग के सारतत्त्व के लिए किया गया है । सारतत्त्व का अभिप्राय आत्मभूत या स्वरूपभूत तत्त्व से भी लिया जा सकता है । सूर्य को सम्बोधित एक मन्त्र मे उसे जड़्गम तथा स्थावर का आत्मा कहा गया है ।[5] यहाँ आचार्य सायण ने आत्मा का अर्थ "स्वरूपभूत" किया है । उसे सबका प्रेरक परमात्मा तथा प्राणिजात का जीवात्मा कहा है ।[6] वस्तुत जड़्गम तथा स्थावर सबका प्रेरक होने से सूर्य सबका सारतत्त्व है । इसी प्रकार दो स्थलो[7]

---

1 विण्टरनित्ज – हिस्ट्री ऑफ इण्डियन लिटरेचर, पृष्ठ 249

2 आत्मा पितुस्तनू । ऋग्वेद 8 3 24

3 आत्मेन्द्रस्य भवसि धासिरुत्तम । ऋग्वेद 9 85 3
आत्मा स्वयमेव उत्तम त्वम् इन्द्रस्य धासि अन्न भवसि । सायण-भाष्य

4 आत्मा यक्ष्मस्य नश्यति पुरा जीवगृभो यथा । ऋग्वेद 10 97 11

5 सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च । ऋग्वेद 1 115 1

6 सूर्य अन्तर्यामितया सर्वस्य प्रेरक परमात्मा जगत जड़्गमस्य तस्थुष स्थावरस्य च आत्मा स्वरूपभूत । स्थावरजड़्गमात्मकस्य सर्वस्यप्राणिजातस्य जीवात्मा । उदिते हि सूर्ये मृतप्राय सर्व जगत् पुनश्चेतनयुक्त सदुपलभ्यते । सायण-भाष्य

7 आत्मा यज्ञस्य पूर्व्य । ऋग्वेद 9 2 10 तथा आत्मा यज्ञस्य । ऋग्वेद 9 6 8

पर सोम को यज्ञ के आत्मा के रूप मे माना गया है । उक्त दोनो स्थानो पर आत्मा का तात्पर्य आत्मभूत तत्त्व या सारतत्त्व ही है ।

ऋग्वेद मे हमे "आत्मा" का आनन्ददायक स्वरूप भी दृष्टिगोचर होता है । अग्नि को समर्पित एक मन्त्र मे उपमा के द्वारा उससे आत्मा के समान आनन्ददायक तथा सभी के द्वारा धारणीय होने की प्रार्थना की गई है ।[1] आचार्य सायण ने यहाँ परमप्रेमास्पद होने से आत्मा को निरतिशयानन्द स्वरूप मानते हुए उसे सबको सुख देने वाला बताया है ।[2] ग्रिफिथने इसका अनुवाद "श्वास के समान आनन्ददायक" किया है ।[3] सम्भवत ग्रिफिथ के मत मे श्वास को आनन्ददायक मानने का कारण यह है कि उसी से जीवन प्रवर्तित होता है । वस्तुत यहाँ "आत्मा" का वास्तविक अर्थ ही ग्रहणीय है । विल्सन ने तो इस मन्त्र का अनुवाद करते समय आत्मा को आनन्द का स्रोत माना है ।[4] आगे चलकर उपनिषदो मे "निरतिशयानन्दस्वरूपत्व" को आत्मा का स्वभाव माना गया है । इसका बीज हमे उक्त मन्त्र मे दृष्टिगत होता है ।

सबके धारयिता के रूप मे "आत्मा" ऋग्वेद मे मात्र एक बार आया है ।[5] सायण ने उसकी व्याख्या करते हुए कहा है – हे वरुण । तुम्हारे द्वारा अन्तरिक्ष मे प्रेरित किया जाता हुआ वायु सभी प्राणियो का आत्मा अर्थात् प्राण के रूप मे धारयिता है ।[6] इस प्रकार ऋग्वेद मे आत्मा को सबके आधार के रूप मे माना जा सकता है ।

---

1 आत्मेव शेवो दिधिषाय्यो भूत् । ऋग्वेद 1 73 2

2. परमप्रेमास्पदतया निरतिशयानन्दस्वरूप आत्मा यथा सर्वान् सुखयति । सायण-भाष्य

3 Like breath joy - giving. उक्त मन्त्राश का ग्रिफिथ द्वारा अनुवाद.

4 Like soul, is the source of happiness.
वही विल्सन का अनुवाद

5 आत्मा ते वातो रज आ नवीनोत् । ऋग्वेद 7 87 2

6 ते त्वदीयस्त्वयान्तरिक्षे प्रेर्यमाण वात वायु आत्मा सर्वस्य प्राणिजातस्य प्राणरूपेण धारयिता । सायण-भाष्य

ऋग्वेद मे अनेक स्थानो पर "आत्मा" शब्द का प्रयोग श्वास या प्राणवायु के लिए किया गया है । एक मन्त्र मे अश्विनो को सम्बोधित करते हुए कहा गया है – हे रथ के स्वामी अश्विनो! तुम तीन प्रकार की वेदियो मे उसी प्रकार जाओ, जिस प्रकार प्राणियो का आत्मभूत प्राणवायु उनके शरीरो मे प्रवेश करता है ।[1] एक अन्य मन्त्र मे "आत्मा" शब्द को वायु के विशेषण के रूप मे प्रयुक्त किया गया है ।[2] इसी प्रकार एक स्थान पर वायु को देवताओ का आत्मा कहा गया है ।[3] इन उदाहरणो से यह स्पष्टत प्रतीत होता है कि ऋग्वेद मे "आत्मा" शब्द का प्रयोग श्वास या प्राणवायु के अर्थ मे भी किया जाता रहा है ।

ऋग्वेद मे शरीर के अर्थ मे भी "आत्मा" शब्द का अनेक बार प्रयोग किया गया है । एक मन्त्र मे ऋषि अश्व देवता की स्तुति करते हुए कहता है – हे अश्व, देवताओ के प्रति जाते समय तुम्हे "आत्मा" सन्तप्त न करे ।[4] सायण ने यहाँ "आत्मा" शब्द का अर्थ "देह" किया है ।[5] अगले सूक्त (1 163) मे पुन अश्व को सम्बोधित करते हुए कहा गया है – हे अश्व । मै पृथ्वी से आदित्य की ओर जाते हुए तुम्हारे आत्मा को अपने मन द्वारा दूर से ही जानता हूँ ।[6] यहाँ भी "आत्मा" शब्द का प्रयोग शरीर के लिए ही किया गया है, क्योंकि ऋषि की दृष्टि का विषय अश्व का शरीर ही हो सकता है । पुनश्च एक मन्त्र मे, पर्जन्य मे जड़्गम और स्थावर सबके "आत्मा" को स्थित बताया गया है ।[7] सायण के अनुसार यहाँ आत्मा शब्द का अर्थ देह है ।[8] विल्सन ने इसका अर्थ "जीवनशक्ति" (वाइटलिटी)[9], ग्रिफिथ ने जीवन (लाइफ)[10] तथा मूर ने आत्मा (सोल)[11] किया है।

---

1 तिस्रो नासत्या रथ्या परावत आत्मेव वात स्वसराणि गच्छतम् । ऋग्वेद 1 34 7

2 आत्मान वस्यो अभिवातमर्चत । ऋग्वेद 10 92 13

3 आत्मा देवाना भुवनस्य गर्भ । ऋग्वेद 10 168 4

4 मा त्वा तपत्प्रिय आत्मापियन्तम् । ऋग्वेद 1 162 20

5 प्रिय आत्मा भोगायतनत्वात् तव प्रियतरो देह । सायण-भाष्य

6 आत्मान ते मनसारादजानामवो दिवा पतयन्त पतड़्गम् । ऋग्वेद 1 163 6

7 तस्मिन्नात्मा जगतस्तस्थुषश्च । ऋग्वेद 7 101 6

8 आत्मा देहो वर्तते । वही, सायण-भाष्य

9 वही, विल्सन का अनुवाद तथा टिप्पणी

0 वही, ग्रिफिथ का अनुवाद

1 मूर – ओरिजिनल सस्कृत टेक्स्ट, भाग 5, पृष्ठ 142

वस्तुत पर्जन्य ही वृष्टि द्वारा सबको सिञ्चित करता है, अत उसी पर सबका शरीर निर्भर है । शरीर भी बिना जीवन या चेतन तत्त्व के नही रह सकता, अत प्रकृत स्थल पर "आत्मा" का अर्थ "शरीर" या जीवन दोनो किया जा सकता है । एक अन्य स्थल पर पुरुष की आत्मा को अपने सामर्थ्यरूपी धन देने की इच्छा वाली ओषधियो द्वारा बल प्रदान करने की बात कही गई है ।[1] यह सर्वविदित है कि ओषधियो द्वारा शरीर स्वस्थ होता है । अत यहाँ "आत्मा" का अर्थ "शरीर" ही है। इसके अतिरिक्त ऋग्वेद के यक्ष्मरोगनाशक सूक्त (10 163) मे ऋषि रोगी से कहता है – मै तेरे सम्पूर्ण आत्मा से उस यक्ष्म रोग को पृथक् करता हूँ ।[2] सायण ने यहाँ भी "आत्मा" का अर्थ "शरीर" ही किया है[3], जो नितान्त उचित है ।

इस प्रकार ऋग्वेद मे हमे "शरीर" के अर्थ मे "आत्मा" शब्द का प्रयोग अनेकत्र उपलब्ध होता है ।

वैदिक ऋषि आत्मा के "चैतन्य" (चिदात्मकता) से परिचित थे । ऋग्वेद के एक सुप्रसिद्ध मन्त्र मे कहा गया है – सर्वप्रथम उत्पन्न होने वाले को किसने देखा ? जो अस्थिहीन अस्थिवान् को धारण किए हुए था । पार्थिव, प्राण, शोणित तथा आत्मा कहाँ थे ? इस तथ्य को पूछने के लिए विद्वान् के पास कौन गया ?[4] इस मन्त्र की व्याख्या करते समय आचार्य सायण ने "भूम्या " का अर्थ पार्थिव स्थूल शरीर, "असु " का अर्थ प्राण अर्थात् तदुपलक्षित सूक्ष्म शरीर, "असृक्" का अर्थ शोणित और आत्मा का अर्थ इनसे सम्बद्ध चेतन तत्त्व किया है ।[5] यहाँ पर यह बात स्पष्टत परिलक्षित होती है कि

---

1 धनं सनिष्यन्तीनामात्मानं तव पूरुष । ऋग्वेद 10 97 8

2 यक्ष्मं सर्वस्मादात्मनस्तमिदं वि वृहामि ते । ऋग्वेद10.163 5–6

3 त यक्ष्म सर्वस्मादात्मन कृत्स्नादेव ते तव शरीरात् वि वृहामि । वही, सायण-भाष्य

4 को ददर्श प्रथमं जायमानमस्थन्वन्तं यदनस्था बिभर्ति ।
भूम्या असुरसृगात्मा क्व स्वित्को विद्वांसमुप गात्प्रष्टुमेतत् । ऋग्वेद 1 164 4

5 भूम्या सम्बन्धि पार्थिव स्थूलशरीर असु प्राण तदुपलक्षित सूक्ष्मशरीर असृक् शोणितम् ।
आत्मा तै सम्बद्धश्चेतन । वही, सायण-भाष्य

ऋषि स्थूल तत्त्वो के अतिरिक्त एक सूक्ष्म चेतन तत्त्व से भी परिचित है और उसे "आत्मा" शब्द के द्वारा अभिहित किया है । इस प्रकार इस मन्त्र के आधार पर "आत्मा" को वैदिक ऋषि की दृष्टि मे पञ्चभूतात्मक शरीर से सम्बद्ध चेतन तत्त्व के रूप मे जाना जा सकता है, जो स्थूल तत्त्वो से सम्बद्ध होते हुए भी प्रत्यक्ष का विषय नही है ।

ऋग्वेद मे कम से एक स्थान पर "आत्मा" को ज्ञाता के रूप मे बताया गया है । मन्त्र मे कहा गया है – दक्षिणा अन्न प्रदान करती है, जिसके कारण हमारा जो आत्मा है,वह सब कुछ जानते हुए दक्षिणा को कवचयुक्त बनाता है ।[1] इस मन्त्र मे आया हुआ "विजानन्" पद महत्त्वपूर्ण है तथा "आत्मा" का विशेषण है । सायण ने भी ऐसा ही माना है ।[2] ग्रिफिथ ने इसका अनुवाद करते हुए लिखा है – दक्षिणा अन्न प्रदान करती है, जो हमारा जीवन और आत्मा है ।[3] इस प्रकार उन्होने अन्न को ही "जीवन" या "आत्मा" माना है । डॉ गणेशदत्त शर्मा ने भी ग्रिफिथ का ही अनुगमन करते हुए अन्न को आत्मा माना है ।[4] विल्सन ने सायण का अनुगमन किया है और "विजानन्" को आत्मा का विशेषण माना है ।[5]

वस्तुत उक्त मन्त्र मे "अन्नम्" को "य " के साथ जोडना उचित नही प्रतीत होता, क्योंकि "अन्नम्" नपुसक लिङ्ग मे है, जबकि "य " पुलिङ्ग मे होते हुए आत्मा का विशेषण है । मन्त्र के अन्तिम पाद का "कर्त्ता" भी आत्मा ही है, अत उसका विशेषण "विजानन्" (पुलिङ्ग) को मानना

---

1 दक्षिणान्नं वनुते यो न आत्मा दक्षिणां वर्म कृणुते विजानन् । ऋग्वेद 10 107 7

2 न अस्मदीय य आत्मा अस्ति स वर्म विजानन् कवच यथायुधाना निवारक तद्वद्दुरितानि वारयतीति कवचमिति विजानन् दक्षिणाम् अश्वादिदानशीला कृणुते । सायण-भाष्य

3 Guerdon gives food which is our life and spirit.
वही, ग्रिफिथ का अनुवाद

4 शर्मा, गणेशदत्त – ऋग्वेद मे दार्शनिक तत्त्व, पृष्ठ 96

उचित है । इस प्रकार इस मन्त्र से यह ज्ञात होता है कि ऋग्वेद का ऋषि "आत्मा" के "ज्ञातृत्व" से परिचित है, जैसा कि उपनिषत्काल तथा और आगे के दार्शनिक प्रस्थानो मे भी आत्मा को "ज्ञाता" के रूप मे माना गया है ।

यहाँ एक बात और विचारणीय है कि आत्मा का परिमाण क्या है ? परवर्ती दार्शनिक विचारधारा मे आत्मा के दो परिमाण माने गए है – अणु और परम महत् । अणु परिमाणात्मक आत्मा सर्वत्र विचरण कर सकता है, किन्तु परममहत्परिमाणात्मक नही कर सकता । यद्यपि ऋग्वेद मे आत्मा के परिमाण को लेकर कोई चर्चा नही दृष्टिगत होती है, तथापि यथाकथञ्चित् कुछ सूत्र उपलब्ध हो सकते है । एक मन्त्र मे कहा गया है – वह अमर्त्य (जीवात्मा) मरणधर्मा (शरीर) के साथ समान स्थान वाला होकर स्वधा के द्वारा विचरण करता है ।[1] इस मन्त्र मे आत्मा को विचरणशील बताया गया है । अत यह कहा जा सकता है कि ऋग्वेद के ऋषि आत्मा को अणुपरिमाणात्मक मानने के पक्ष मे थे ।

आत्मा के स्वरूप पर विचार करने के अनन्तर यह भी जानना प्रसङ्गप्राप्त है कि क्या वैदिक ऋषि आत्मा के पुनर्जन्म को मानते थे ? कुछ पाश्चात्त्य विचारको का यह मानना है कि "ऋग्वेद" मे "पुनर्जन्म" जैसा कोई "प्रत्यय" नही है । वस्तुत आशावादी विचारधारा को मानने वाले ऋषि पुनर्जन्म को नही मान सकते । वे अपने वर्तमान जीवन से पूर्णत सन्तुष्ट थे । उनकी स्तुतियो का प्रयोजन केवल अमरता अथवा स्वर्गप्राप्ति ही नही था, अपितु उन्होने देवताओ से अच्छी प्रजाएँ, वीर पुत्र, धन का स्वामित्व तथा सौ से भी अधिक वर्षो तक अच्छे जीवन की कामना की थी ।[2]

ब्लूमफील्ड ने पुनर्जन्म के बीज को ब्राह्मणकालीन विचारधारा मे भारत के आदिवासी तथा

---

1 जीवो मृतस्य चरति स्वधाभिरमर्त्यो मर्त्येना सयोनि । ऋग्वेद 1 164 30

2 (क) वय त इन्द्र विश्वह प्रियास सुवीरासो विदथमा वदेम । ऋग्वेद 2.12 15

(ख) बृहस्पते सुप्रजा वीरवन्तो वय स्याम पतयो रयीणाम् । ऋग्वेद 4 50.6.

(ग) पश्येम शरद शत जीवेम शरद शतम् । ऋग्वेद 7 66.16

अनार्य जातियो से आया हुआ माना है ।[1] इस प्रकार वे ऋग्वेद मे पुनर्जन्म-सम्बन्धी किसी निर्देश को नही मानते । यदि सूक्ष्मता पूर्वक विचार किया जाए, तो निश्चित रूप से हमे ऋग्वेद मे भी कुछ ऐसे तत्त्व मिल सकते है, जिनके आधार पर आगे चलकर पुनर्जन्म–सम्बन्धी धारणा का पल्लवन हुआ ।

हमे ऋग्वेद मे कुछ ऐसे मन्त्र उपलब्ध होते है, जिनसे ज्ञात होता है कि मृतक के आत्मा किसी दूसरे लोक मे विद्यमान रहते है । एक मन्त्र मे अग्नि से प्रार्थना की गई है कि वह अपने साथ रहने वाले तुर्वश, यदु, नववास्तु, बृहद्रथ तथा तुर्वीति नामक राजर्षियो को लेकर यहाँ आए ।[2] उन पितरो की तीन श्रेणियाँ भी बताई गई हैं – उत्तम, मध्यम और अधम ।[3] एक मन्त्र मे अग्नि को सम्बोधित करते हुए कहा गया है – हे अग्नि । इस प्रेत को मत जलाओ । इसे शोकयुक्त मत करो। इसकी त्वचा को इधर–उधर मत फेको । इसके शरीर को भी इतस्तत निक्षिप्त मत करो । हे अग्नि। जब तुम इसे भलीभाँति दग्ध कर दोगे, तब पितरो के समीप भेज देना ।[4] ऋग्वेद के एक सम्पूर्ण सूक्त (10 58) मे विभिन्न स्थानो पर गए हुए मन को पुन जीवन धारण करने के लिए वापस आने को कहा गया है । सायण का कहना है कि इस सूक्त मे सुबन्धु के देह से इन्द्रियो के साथ निकले हुए मन को वापस लाने के लिए बन्धु आदि ऋषियो ने प्रार्थना की है ।[5]

---

1 "The germs of the belief in transmigration are very likely to have filtered into the Brahmanical consciousness from below, from popular sources, possibly from some of the aboriginal, non-Aryan tribes of India." ब्लूमफील्ड – द रिलीजन ऑफ द वेद, पृष्ठ 254

2 अग्निना तुर्वश यदु परावत उग्रादेव हवामहे ।
अग्निर्नयन्नववास्त्व बृहद्रथ तुर्वीति दस्यवे सह ।। ऋग्वेद 1 36 18

3 उदीरतामवर उत्परास उन्मध्यमा पितर सोम्यास । ऋग्वेद 10 15 1

4 मैनमग्ने विदहो माभि शोचो मास्य त्वच चिक्षिपो मा शरीरम् ।
यदा शृत कृणवो जातवेदोऽथेमेन प्र हिणुतात्पितृभ्य ।। ऋग्वेद 10 16 1

5 उक्त सूक्त पर सायण-भाष्य की भूमिका तथा पूरा सूक्त

प्रो मूर ने यहाँ "मनस्" शब्द को आत्मा के लिएप्रयुक्त माना है ।[1] इनके अतिरिक्त ग्रिफिथ की मान्यता है कि यह सूक्त मृत्यु के समय दूर गए हुए मानव–आत्मा को पुन बुलाने के लिए सम्बोधित है ।[2] पुनश्च असुनीति को सम्बोधित एक मन्त्र मे उन्ही बन्धु इत्यादि ऋषियो ने मन को पुन स्थापित करने की प्रार्थना की है ।[3] यहाँ भी ग्रिफिथ ने "मन" का अनुवाद "आत्मा" (Spirit) किया है ।[4] इसी सूक्त के अगले मन्त्र मे ऋषियो ने पुन चक्षु, प्राण एव भोगो का आधान करने की प्रार्थना की है ।[5]

ऋग्वेद मे ही हमे कुछ ऐसे मन्त्र उपलब्ध होते हैं, जिनसे यह ज्ञात होता है कि मरने के अनन्तर आत्मा प्राकृतिक तत्त्वो तथा ओषधियो मे भी चला जाता है । एक स्थल पर प्रेतात्मा को सम्बोधित करते हुए कहा गया है – तुम्हारी चक्षु सूर्य मे चली जाए तथा आत्मा वायु मे चला जाए । तुम अपने सुकृत के द्वारा द्युलोक, पृथिवी अथवा जल मे चले जाओ । यदि वहाँ तुम्हारा हित हो, तो अपने शरीर के अङ्गो द्वारा ओषधियो मे प्रतिष्ठित हो जाओ ।[6] मैकडॉनेल ने इस प्रकार की धारणाओ मे पुनर्जन्म का बीज निहित माना है ।[7] इस मन्त्र द्वारा यह भी प्रतिपादित होता है कि वैदिक ऋषि पेड–पौधो मे जीव की स्थिति मानने के पक्ष मे थे । इसके अतिरिक्त इस मन्त्र द्वारा कर्म के अनुसार फल भोगने का भी सङ्केत प्राप्त होता है ।

---

1 मूर – ओरिजिनल सस्कृत टेक्स्ट, भाग 5, पृष्ठ 313

2 "The hymn is an address to recall the fleeting spirit of a man at the point of death."
उद्धृत सूक्त पर ग्रिफिथ की टिप्पणी

3 असुनीते मनो अस्मासु धारय । ऋग्वेद 10 59 5

4 वही, ग्रिफिथ का अनुवाद

5 असुनीते पुनरस्मासु चक्षु पुन प्राणमिह नो धेहि भोगम् । ऋग्वेद 10 59 6

6 सूर्य चक्षुर्गच्छतु वातमात्मा द्या च गच्छ पृथिवी च धर्मणा ।
अपो वा गच्छ यदि तत्र ते हितमोषधीषु प्रति तिष्ठा शरीरे । ऋग्वेद 10 16 3

7 मैकडॉनेल – वैदिक माइथॉलोजी, पृष्ठ 166

एक मन्त्र मे गर्भस्थ ऋषि वामदेव ने अपने पूर्वजन्मो का वर्णन किया है – मै मनु हुआ, मै सूर्य हुआ । मै कक्षीवान् ऋषि हूँ । मै कुत्स हूँ तथा उशना नामक ऋषि भी मै ही हूँ ।[1]

ऊपर विवेचित सभी प्रसङ्गो से यह ज्ञात होता है कि यद्यपि ऋग्वेद के ऋषि पुनर्जन्म के वास्तविक स्वरूप से तो परिचित नही थे, किन्तु उनके मन मे कही न कही इस प्रकार के विचार सूक्ष्म रूप मे अवश्य विद्यमान थे, जो अवसर प्राप्त करके बाद की दार्शनिक विचारधारा मे पल्लवित हुए ।

यहॉ आत्मा की अमरता पर भी विचार करना अपेक्षित है । एक मन्त्र मे अग्नि को सम्बोधित करते हुए कहा गया है – हे अग्नि ! तुम अपने सेवक मर्त्य को अमर्त्य बनाते हो ।[2] इसी प्रकार मरुतो से अमर बनाने की प्रार्थना की गई है ।[3] मित्र और वरुण से भी अमर बनाने की याचना की गई है ।[4] एक अन्य स्थल पर ऐसा सङ्केत प्राप्त होता है कि मूलत देवता भी अमर नही थे, उन्हे सवितृ ने अमर बनाया ।[5] इसी प्रकार एक दूसरे मन्त्र से यह भाव प्रकट होता है कि देवताओ ने अमरत्व प्राप्त किया, किन्तु कहॉ से पाया ? यह ज्ञात नही है ।[6]

ऋग्वेद मे "सोम" अमृत पेय के रूप मे माना जाता था । एक मन्त्र मे कहा गया है – हमने सोम का पान कर लिया है । अब हम अमर हो गए है, प्रकाश तक पहुँच चुके है । हमने देवताओ को प्राप्त कर लिया है । अब शत्रु हमारा क्या करेगे ? हे अमर सोम ! मनुष्य का हिंसक भी हमारा क्या करेगा ?[7]

---

1 अह मनुरभव सूर्यश्चाह कक्षीवॉ ऋषिरस्मि विप्र ।
अह कुत्समार्जुनेय न्यृञ्जेह कविरुशना पश्यता मा ।। ऋग्वेद 4 26 1

2 त्व तमग्ने अमृतत्व उत्तमे मर्त दधासि श्रवसे दिवेदिवे । ऋग्वेद 1 31.7

3 उतो अस्मॉ अमृतत्वे दधातन । ऋग्वेद 5 55.4

4 वृष्टि वा राधो अमृतत्वमीमहे । ऋग्वेद 5 63 2

5 देवेभ्यो हि प्रथम यज्ञियेभ्योऽमृतत्व सुवसि भागमुत्तमम् । ऋग्वेद 4 54 2

6 सतो नून कवय स शिशीत वाशीभिर्याभिरमृताय तक्षथ ।
विद्वास पदा गुह्यानि कर्तन येन देवासो अमृतत्वमानशु ।। ऋग्वेद 10 53 10

7 अपाम सोमममृता अभूमागन्म ज्योतिरविदाम देवान् ।
कि नूनमस्मान् कृणवदराति किमु धूर्तिरमृत मर्त्यस्य ।। ऋग्वेद 8 48 3

उक्त सभी सन्दर्भों मे या तो अमर होने की प्रार्थना की गई है या अमरता प्राप्त कर लेने का उद्घोष किया गया है । अब प्रश्न यह है कि क्या कुछ लोगो द्वारा अमृततत्त्व प्राप्त कर लेने से सारे आत्मा अमर माने जा सकते है ? इसका उत्तर निश्चित रूप से नही होगा, किन्तु उन अशो के आधार पर, जिनमे मृतक के आत्मा को यमलोकादि मे निवास करने वाला बताया गया है[1], निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि ऋग्वेद के ऋषि यह जानते थे कि आत्मा अमर है ।

इस विवेचन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि मृत्यु मानव का अन्त नही है, वह केवल भौतिक शरीर को नष्ट करता है तथा आत्मा शरीर के नष्ट होने पर भी बना रहता है और उस शरीरधारी द्वारा कृत कर्मों का फल भोगता है । धर्मात्मा लोगो का आत्मा स्वर्ग मे सुख प्राप्त करता है ।[2] वस्तुत शरीर छोडने के बाद आत्मा दूसरे लोक मे चला जाता है तथा वहाँ अपने कर्मों का फल भोगने के उपरान्त वह पुन इस पृथ्वी पर जन्म ग्रहण करता है । इस सारी प्रक्रिया के मूल मे उसके द्वारा कृत कर्म ही है । अन्तत यह कहा जा सकता है कि ऋग्वेद के ऋषि "आत्मा" के सम्बन्ध मे निम्नलिखित धारणाओ एव विचारो से परिचित थे –

1 आत्मा शरीर से भिन्न है, तथा इसके नष्ट होने पर भी नष्ट नही होता ।

2 यह अविनाशी है । न तो इसका जन्म होता है और न मृत्यु ।

3 यह शरीर का सारतत्त्व है और इसका नियामक भी है ।

4 यह शरीर द्वारा किये गए कर्म का फल भोगता है ।

5 यह "सत्", "चित्" और "आनन्द" तीनो से युक्त है ।

---

1 इद पितृभ्यो नमो अस्त्वद्य ये पूर्वासो य उपरास ईयु ।
ये पार्थिवे रजस्यानिषत्ता ये वा नून सुवृजनासु विक्षु ।। ऋग्वेद 10 15 2.
द्रष्टव्य – ऋग्वेद 10 15 1, 13, 1 36.18, 10 16 1, 59 6, 16 3, 4 26 1 इत्यादि

2 ऋग्वेद 1 115 2 तथा 154 5

[4] ऋग्वेद मे "ब्रह्म" – आत्मा पर विचार करने के उपरान्त अब "ब्रह्म" पर भी विचार कर लेना अपेक्षित है । ऋग्वेद मे "ब्रह्म" शब्द विभिन्न विभक्तियो तथा रूपो मे कुल मिलाकर 354 बार प्रयुक्त है ।[1] इसका प्रयोग पुल्लिड् ग तथा नपुसकलिड् ग दोनो रूपो मे किया गया है । मूर ने नपुसकलिड् ग मे प्रयुक्त "ब्रह्म" को सूक्त या आत्मा के अर्थ मे तथा पुल्लिड् ग मे प्रयुक्त को उस सूक्त अथवा प्रार्थना के प्रणेता या उसका पाठ करने वाले के अर्थ मे माना है ।[2] ड्यूसन ने ऋग्वेद मे प्रयुक्त "ब्रह्म" शब्द को ऊपर उठाने वाली तथा आध्यात्मिकता का सञ्चार करने वाली प्रार्थना की शक्ति के अतिरिक्त और किसी अर्थ मे नही स्वीकार किया है ।[3] भारतीय भाष्यकार आचार्य सायण ने नपुसकलिड् ग के रूप मे प्रयुक्त "ब्रह्म" शब्द को प्राय सूक्त अथवा स्तोत्र[4] और पुल्लिड् ग के रूप मे प्रयुक्त को स्तुतिगायक ब्राह्मण[5] तथा ब्रह्मा नामक पुरोहित[6] का अभिधायक माना है ।

इन अर्थो के अतिरिक्त इस शब्द को कई बार नपुसकलिड् ग मे अन्न या हविष्[7] तथा महान् या शक्तिशाली[8] और पुल्लिड् ग मे स्रष्टा या प्रजापति के लिए प्रयुक्त किया गया है ।[9] विल्सन ने भी सायण का अनुगमन करते हुए "ब्रह्म" शब्द को उक्त अर्थों मे ही लिया है ।[10] ग्रिफिथ ने

---

1 ऋग्वेद–संहिता–पञ्चम भाग, सूची खण्ड, पृष्ठ 407–408

2 मूर – ओरिजिनल सस्कृत टेक्स्ट, प्रथम भाग, पृष्ठ 241

3 ड्यूसन – सिस्टम ऑफ वेदान्त, पृष्ठ 49

4 "नव्य नूतन ब्रह्म एतत्सूक्तरूप स्तोत्रम् अतक्षत्" । ऋग्वेद 1 62 13, सायण-भाष्य इसके अतिरिक्त ऋग्वेद – 1 75 2, 2.20 5, 34 7, 3 41 3, 4 6 11, 5 29 15, 6 17 3 तथा 10 61 1 इत्यादि मन्त्रो पर सायण-भाष्य द्रष्टव्य

5 ऋग्वेद 1 80 1, 4 50.8, 5 40 8, 8 7 20, 9 112 1, 10 85 34 इत्यादि मन्त्रो पर सायण-भाष्य. द्रष्टव्य

6 ऋग्वेद 2 1 2, 4 9.4, 9 96 6, 10 52 2 तथा 71.11 पर सायण-भाष्य द्रष्टव्य

7 ऋग्वेद 1.10 4, 2 41 18, 3 8 2, 4.22 1, 6 16 36, 7 31 11, 8 3 9, 10 4 7 इत्यादि पर सायण-भाष्य द्रष्टव्य

8 "मरुता ब्रह्माण महान्तम्" । ऋग्वेद 10 77 1 पर सायण-भाष्य

9 ब्रह्माण स्रष्टार करोमि । ऋग्वेद 10 125 5 पर सायण-भाष्य
ब्रह्माण प्रजापतिम् । ऋग्वेद 10 141 3 पर सायण भाष्य
उक्त सभी सन्दर्भो पर विल्सन का अनुवाद.

प्राय सर्वत्र नपुसकलिङ्ग मे आए "ब्रह्म" शब्द को प्रार्थना तथा पुल्लिङ्ग मे आए हुए को ब्राह्मण या पुरोहित के अर्थ मे ही लिया है ।[1]

जहाँ तक दार्शनिक दृष्टिकोण का सम्बन्ध है, उसके अनुसार नपुसकलिङ्ग मे आए "ब्रह्म" शब्द का ही ग्रहण करना उचित है, क्योकि परमतत्त्व को निर्दिष्ट करने का सबसे अच्छा ढग उसे लिङ्गातीत रखना ही है । वह पुरुष है या स्त्री इस विवाद मे न पडकर उसे "तत्" पद द्वारा ही गृहीत करना चाहिए । ऋग्वेद मे भी परमतत्त्व को "तदेकम्" कहा गया है ।[2]

कुछ स्थलो पर "ब्रह्म" शब्द महत्ता के आधायक के रूप मे भी प्रयुक्त है । एक मन्त्र मे इन्द्र के लिए कहा गया है – ब्रह्म अथवा स्तोत्र जिस इन्द्र की वृद्धि करता है ।[3] इस मन्त्र से यह ज्ञात होता है कि इन्द्र की महत्ता "ब्रह्म" या स्तोत्र के कारण ही है । अन्य मन्त्रो मे भी इन्द्र के अतिरिक्त अग्नि, सोम, अश्विन् तथा ब्रह्मणस्पति को स्तोत्र द्वारा वृद्धिङ्गत बताया गया है ।[4]

ऋग्वेद मे देवताओ को विश्व की महान् शक्ति के रूप मे निरूपित किया गया है । उनसे भी बढकर उनकी महत्ता या महिमा है, क्योकि उसी के प्रभाव से वे सब कुछ करते है ।[5] उनकी महिमा भी स्तोत्र के ही अधीन है, क्योकि यदि उसका ख्यापन न किया जाए तो उस देव के वास्तविक स्वरूप का ज्ञान नही प्राप्त हो सकेगा । एक पूरे सूक्त मे इन्द्र की महिमा बताते हुए लोगो को उसकी शक्ति एव स्वरूप से परिचित कराया गया है ।[6] इस प्रकार देवो की महत्ता के आधायक "ब्रह्म" या "स्तोत्र" को "परमतत्त्व" के अभिधायक बीज के रूप मे माना जा सकता है ।

---

1 उद्धृत सभी सन्दर्भों पर ग्रिफिथ का अनुवाद

2 आनीदवात स्वधया तदेकम् । ऋग्वेद 10 129 2

3 यस्य ब्रह्म वर्धनम् । ऋग्वेद 2 12 14

4 ऋग्वेद 3 34 1, 1 93 5, 6, 5 73 10, 2 24 3, 10 50 4 इत्यादि

5 यश्चिदापो महिना पर्यपश्यत् । ऋग्वेद 10 121 8

6 ऋग्वेद 2 12 सम्पूर्ण सूक्त

ऋग्वेद के एक महत्वपूर्ण सूक्त मे परमात्मा के साथ तादात्म्य का अनुभव करती हुई वाणी ने स्वय अपनी महत्ता प्रकट की है ।[1] आचार्य सायण ने वाक् को ब्रह्मविदुषी तथा सबका अधिष्ठान माना है ।[2] ग्रिफिथ ने इसे "आत्मा" के प्रतीक "परमात्मा", सर्वोच्च या विश्वात्मा के रूप मे भी स्वीकार किया है ।[3] "शतपथ ब्राह्मण" ने तो वाणी को साक्षात् "ब्रह्म" के रूप मे ही माना है ।[4]

इस प्रकार हम देखते है कि ऋग्वेद मे यद्यपि "ब्रह्म" शब्द का प्रयोग परमतत्त्व के लिए तो नही किया गया है, तथापि इससे निर्दिष्ट देव स्तोत्र या शक्ति हमे उपनिषत्कालीन "ब्रह्म" की ओर जाने मे निश्चित रूप से सहायक प्रतीत होते है ।

(5) ऋग्वेद में "मोक्ष" और "अमृतत्व" – भारतीय सस्कृति के वैशिष्ट्यभूत चार पुरुषार्थों – धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष मे मोक्ष को चरम लक्ष्य के रूप मे निरूपित किया गया है । भारतीय दर्शन मे भी मोक्ष उसी प्रकार प्रतिष्ठित है । ऋग्वेद मे हमे "मोक्ष" दार्शनिक रूप से विकसित नही दृष्टिगत होता, तथापि ऋषियो द्वारा देवताओ से की गई दु ख एव बन्धनो से मुक्ति की प्रार्थनाओ मे इसके बीज देखे जा सकते है । पूरे ऋग्वेद मे मात्र एक स्थान पर "मुमुक्षु" शब्द का प्रयोग किया गया है ।[5] सायण ने इसका अर्थ "मोक्ष प्राप्त करने की इच्छा वाली" से ही लिया है ।[6]

ऋग्वेद मे भूरिश आया हुआ "अमृतत्व" शब्द मोक्ष का ही द्योतक प्रतीत होता है । एक मन्त्र मे मरुतो से अमर बनाने की प्रार्थना की गई है ।[7] वस्तुत अमर बनने से जन्म–मृत्यु के बन्धन से मुक्ति मिलती है । एक मन्त्र मे कहा गया है – हे परमेश्वर । हम आपकी कृपा से मृत्यु के बन्धन से उसी प्रकार मुक्त हो जाएँ, जिस प्रकार खरबूजा पकने पर लता के बन्धन से मुक्त

---

1 ऋग्वेद 10 125

2 द्रष्टव्य उक्त सूक्त पर सायण-भाष्य

3 ग्रिफिथ का सन्दर्भित सूक्त पर अनुवाद एव टिप्पणी

4 "वाग्वै ब्रह्म" । शतपथ ब्राह्मण – 2 1 4 10

5 मुमुक्ष्वो मनवे मानवस्यते । ऋग्वेद 1 140 4

6 "मुमुक्ष्व मुमुक्षव आहुतिद्वारा यजमान मोक्तुमिच्छन्त्य ब्रह्मलोक प्रापयन्त्य ।"
वही, सायण-भाष्य

7. स्तोता वो अमृत स्यात् । ऋग्वेद 1 38 4.

हो जाता है, किन्तु हमे अमृत से दूर मत करे ।[1] सायण ने "मामृतात्" की व्याख्या "मा" और "आमृतात्" इस रूप मे विच्छेद करते हुए "सायुज्यतामोक्षपर्यन्त" किया है ।[2] उनका भाव यह है कि मोक्ष प्राप्त होने तक हमे मृत्यु या ससार से मुक्त रखे । इसी पद का दूसरा अर्थ, उन्होने "चिरकालीन जीवन या स्वर्ग, से दूर मत करे", यह भी किया है ।[3] एक मन्त्र मे सोम को सम्बोधित करते हुए कहा गया है – हे सोम ! मुझे उस अमृतलोक मे अमर बना दो, जहॉ अविनश्वर प्रकाश है तथा आदित्य नामक ज्योति निहित है ।[4] ऋग्वेद मे ही विष्णु के आनन्दमय परमधाम का उल्लेख करते हुए उसे प्राप्त करने की इच्छा व्यक्त की गई है ।[5] विष्णु का परमपद या परमधाम मोक्ष ही हो सकता है । एक अन्य मन्त्र मे कहा गया है – मै विष्णु के उस प्रिय स्थान को प्राप्त करूँ, जहॉ देवकामी जन प्रसन्न होते है । विशाल गतिशील विष्णु के परमपद मे मधु का निष्यन्द है, इस प्रकार वह सबका बन्धु है ।[6] सायण ने यहॉ "पाथ " का अर्थ, "अविनश्वर ब्रह्मलोक" किया है । उन्होने "परमपद" का वर्णन करते हुए उसे केवल सुखात्मक, भूख–प्यास, जरा–मरण तथा पुनरागमन इत्यादि के भय से रहित और सङ्कल्पमात्र से ही अमृतकुल्यादिभोगो के प्राप्ति–स्थान के रूप मे बताया है।[7] विष्णु का प्रिय स्थान विष्णुलोक है, जिसे सायण ने ब्रह्मलोक कहा है । वस्तुत उन्होने उस स्थान की जो विशेषताएँ बताई हैं, उनसे यह प्रतीत होता है कि जन्म–मरण के बन्धन से मुक्त होने के बाद आत्मा वही निवास करता है । विष्णु का वह परमपद सबका काम्य है, अत ऋग्वेदीय युग मे उसे प्राप्त करना सबका चरम लक्ष्य रहा होगा । वही चरम लक्ष्य अवान्तरकालीन दर्शन मे "मोक्ष" के नाम से अभिहित किया गया प्रतीत होता है ।

---

1 उर्वारुकमिव बन्धनान्मृत्योर्मुक्षीय मामृतात् । ऋग्वेद 7 59 12

2 कि मर्यादीकृत्य । आमृतात् । सायुज्यतामोक्षपर्यन्तमित्यर्थ । वही, सायण-भाष्य

3 अमृताच्चिरजीवितात् स्वर्गादेर्वा मा मुक्षीय । वही, सायण-भाष्य

4 यत्र ज्योतिरजस्र यस्मिँल्लोके स्वर्हितम् ।
तस्मिन् मा धेहि पवमानामृते लोके अक्षित इन्द्रायेन्दो परिस्रव ।। ऋग्वेद 9 113 7

5 तद्विष्णो परम पद सदा पश्यन्ति सूरय । ऋग्वेद 1 22 20

6 तदस्य प्रियमभिपाथो अश्या नरो यत्र देवयवो मदन्ति ।
उरुक्रमस्य स हि बन्धुरित्था विष्णो पदे परमे मध्व उत्स । ऋग्वेद 1 154 5

7 वही, सायण-भाष्य

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि ऋग्वेद मे यद्यपि मोक्ष–सम्बन्धी धारणा उस रूप मे उपलब्ध नही होती, जैसी परवर्ती दर्शनो मे है, तथापि उसके बीज उपर्युक्त मन्त्रो मे देखे जा सकते है।

(6) ऋग्वेद मे "ऋत" – "ऋत" वैदिक ऋषियो की अत्यन्त मौलिक धारणा है । इसके ऊपर सारी सृष्टि–व्यवस्था आधारित है । ऋग्वेद मे विभिन्न रूपो तथा विभक्तियो मे इसका प्रयोग लगभग छ सौ छियालीस बार किया गया है ।[1] वैदिक ऋषि इस तथ्य से भलीभाँति परिचित थे कि ऋत ही सम्पूर्ण जगत् का आदिकारण है । यह धरती, आकाश, सूर्य, अग्नि इत्यादि सबका उत्पादक एव नियन्ता है । ऋत अपने इस रूप मे परमतत्त्व के समकक्ष या परमतत्त्व ही प्रतीत होता है । इसीलिए इसे "तत्त्वमीमासा" के अन्तर्गत निविष्ट करके इस पर विचार किया जा रहा है ।

"ऋत" शब्द गत्यर्थक "ऋ" धातु से निष्पन्न है । इसका अर्थ क्रियाशीलता से भी लिया जा सकता है । यास्क ने इसका अर्थ "उदक", "सत्य", "यज्ञ" एव "रेतस्" किया है ।[2] सायण ने भी प्राय यास्क का ही अनुगमन किया है ।[3] उन्होने इसे "कर्मफल", "स्तोत्र" एव "गति" के अर्थ मे भी माना है ।[4] कभी–कभी तो एक ही मन्त्र मे दो बार आए हुए "ऋत" का अर्थ उन्होने भिन्न–भिन्न किया है । एक मन्त्र मे "ऋतस्य" का अर्थ "गतस्य"–"पलायितस्य" किया है, उसी मन्त्र के साथ पठित दूसरे मन्त्र मे "ऋतस्य यज्ञस्य अन्नस्य वा" ऐसा अर्थ करते हुए उन्होने भिन्न अर्थ प्रकट किया है।[5] एक अन्य मन्त्र मे "ऋत" शब्द चार बार आया है । सायण ने प्रथम, द्वितीय तथा चतुर्थ का अर्थ "स्तोत्र" एव तृतीय बार आए "ऋत" का अर्थ "उदक" किया है ।[6] अगले मन्त्र मे भी यह शब्द दो

---

1 ऋग्वेद–संहिता – पञ्चम भाग, सूची खण्ड, पृष्ठ 156 से 158 तक

2 ऋतमित्युदकनाम । निरुक्त – 2 25

सत्य वा यज्ञ वा । वही, 4 19

ऋतशब्देन रेत उच्यते । वही, 4 20

3 ऋग्वेद 1 2 8, 10 5 2, 5 3, 67 2, 85 1, 92 4 इत्यादि पर सायण-भाष्य द्रष्टव्य

4 ऋग्वेद 1 1 8, 68 5, 185 10, 10 5 7 इत्यादि पर सायण भाष्य द्रष्टव्य

5 ऋग्वेद 1 65 3–4 पर सायण-भाष्य

6 ऋग्वेद 5 12·2 पर सायण भाष्य द्रष्टव्य

बार आया है, जिनमे प्रथम का अर्थ "उदक" एव द्वितीय का "सत्य" किया है ।[1] इसी प्रकार एक साथ ही दो बार आए "ऋत" मे प्रथम का अर्थ "सत्यरूप अग्नि" तथा द्वितीय का "स्तोत्र" किया है ।[2] एक अन्य मन्त्र मे भी युगपत् आए इस शब्द का अर्थ सायण ने क्रमश "सत्यभूतमण्डल" और "उदक" किया है । "सत्यभूतमण्डल" का तात्पर्य भी "सूर्यमण्डल" से लिया है ।[3] इनके अतिरिक्त मित्रावरुण को सम्बोधित एक सूक्त मे उनके विशेषण के रूप मे आए हुए "ऋतावृध" और "ऋतावाना" पदो का अर्थ क्रमश "यज्ञस्योदकस्य वा वर्धयितारौ" और "गमनवन्तौ" किया है ।[4] यहाँ भी प्रथम बार उन्हे "यज्ञ" और "उदक" दो अर्थ तथा द्वितीय बार "गति" अर्थ इष्ट है ।

ग्रिफिथ ने ऋग्वेद मे आए "ऋत" शब्द को विश्व की व्यवस्था तथा उसके विधान का अभिधायक माना है । उन्होने सर्वत्र इसका अनुवाद "शाश्वत नियम" (इटर्नल लॉ) अथवा पवित्र नियम (होली आर्डर) किया है ।[5]

मोनियर विलियम्स ने "ऋत" को यज्ञ सम्बन्धी नियम, दैवी नियम तथा दैवी सत्य माना है।[6] रॉथ ने "ऋत" को प्रकृति का एक नियम माना है । उन्होने यज्ञ–सम्बन्धी नियम तथा मानव–जीवन के व्रत आदि को भी "ऋत" का अभिधायक कहा है ।[7]

डॉ मङ्गलदेव शास्त्री "ऋत" तथा "सत्य", इन दोनो को एक साथ जोड़ते हुए इन्हे "सम्पूर्ण विश्व मे व्याप्त नैतिक आधार" के रूप मे स्वीकार करते है ।[8]

---

1 ऋतयन् सर्वप्राणिना जीवन-हेतुकमुदक कुर्वन् कया केनापि ऋतेन सत्येन ।
ऋग्वेद 5 12 3 पर सायण-भाष्य

2 ऋत सत्यरूपमग्निम् ऋतेन स्तोत्रेण । ऋग्वेद 5 15 2 पर सायण-भाष्य

3 ऋग्वेद 5 62 1 पर सायण भाष्य

4 ऋग्वेद 5.65 2 पर सायण भाष्य

5 द्रष्टव्य – ऋग्वेद के "ऋत" शब्द पर सर्वत्र ग्रिफिथ का अनुवाद

6 मोनियर, विलियम्स – सस्कृत इग्लिश डिक्शनरी, पृष्ठ 223

7 एनल्स ऑफ भण्डारकर रिसर्च इन्स्टीट्यूट, भाग 35, पृष्ठ 27

8 शास्त्री, डॉ मङ्गलदेव – भारतीय सस्कृति का विकास, पृष्ठ 393

विल्सन ने प्राय सर्वत्र सायण के ही अर्थों का अनुगमन किया है ।[1] ब्लूमफील्ड ने "ऋत" का अर्थ – "ब्रह्माण्डीय नियम" या "विश्व का नियम" किया है ।[2]

श्री अरविन्द के अनुसार – "सब वस्तुओ का सारभूत पदार्थ "ऋत" है, भौतिक से आध्यात्मिक रूप मे परिवर्तन का कारण "ऋत" ही है । "ऋत" सूर्य, चन्द्र आदि का नियम दिखाई देता है, किन्तु वस्तुत यह आचरण का नियम है ।[3] श्री अरविन्द के ही अनुयायी आधुनिक विद्वान् पुराणी ने "ऋत" को "सत्यभूत चैतन्य" (ट्रुथ कान्शसनेस) मानते हुए इसे सम्पूर्ण चेतन प्राणिवर्ग का उत्पत्तिस्थान कहा है ।[4]

विभिन्न विद्वानो की उपर्युक्त धारणाओ से यह स्पष्ट होता है कि "ऋत" इस सृष्टि का प्रवर्तक विधान है । सभी वस्तुएँ ऋत के अधीन है तथा यह सम्पूर्ण नैतिक मूल्यो और नियमो काप्रेरक है । ब्लूमफील्ड ने "ऋत" के तीन पहलू स्पष्ट किए हैं – ब्रह्माण्डीय अनुक्रम, देवो की परिनिष्ठित उपासना पद्धति और मनुष्यो का नैतिक आचार ।[5] ब्रह्माण्डीय क्रम या नियम के रूप मे ऋत ससार तथा प्रकृति का नियमन करता है । प्रकृति तथा उसके द्वारा नियन्त्रित सम्पूर्ण पदार्थों की सतत गति के निश्चित क्रम का कारण यह "ऋत" ही है ।

ऋग्वेद का सारा धर्म और दर्शन यज्ञो पर आधारित है । जिस प्रकार प्रकृति की सारी व्यवस्था नियमित है, उसी प्रकार देवो की उपासना-पद्धति – यज्ञ भी नियमित है । ऋग्वेद के सुप्रसिद्ध

---

1 द्रष्टव्य – ऋग्वेद मे "ऋत" शब्द पर सर्वत्र विल्सन के अनुवाद एव टिप्पणियाँ

2 The word means "Cosmic Order" or "Order of the Universe." ब्लूमफील्ड – द रिलीजन ऑफ द वेद, पृष्ठ 12

3 श्री अरविन्द – वेदरहस्य, पृष्ठ 102 तथा 107

4 पुराणी, ए बी – स्टडीज इन वैदिक इन्टरप्रेटेशन, पृष्ठ 49 तथा 53

5 It presents itself under the threefold aspect of cosmic order, correct and fitting cult of the gods and moral conduct of man.
ब्लूमफील्ड – द रिलीजन ऑफ द वेद, पृष्ठ 126

पुरुष सूक्त[1] मे यज्ञ द्वारा ही सारी सृष्टि की कल्पना की गई है । उसमे विभिन्न ऋतुओ को यज्ञीय उपकरणो के रूप मे प्रकल्पित किया गया है ।[2]

मनुष्यो द्वारा विधीयमान कार्यों मे "ऋत" नैतिक नियम के रूप मे प्रवृत्त होता है । यज्ञो मे व्रत, अनुष्ठान,सदाचार इत्यादि नियमो का पालन करना आवश्यक था । ये सारी क्रियाएँ "ऋत" द्वारा नियमित होती थी । इसका विपरीतार्थक शब्द "अनृत" उपलब्ध होता है, जो असत्य के अर्थ मे प्रयुक्त होता रहा है । वस्तुत "अनृत", "सत्य" का विलोम बन गया । वरुण को इन दोनो का द्रष्टा अर्थात् निरीक्षक माना गया ।[3] यहाँ तक कि "ऋत" का रक्षक बनने की इच्छा करने वाले अग्नि को भी थोडी देर के लिए "वरुण" बनना आवश्यक बताया गया ।[4] "सत्य" और "अनृत" धीरे-धीरे उचित और अनुचित कृत्यो के अर्थ मे प्रयुक्त होने लगे । सुप्रसिद्ध यम-यमी सूक्त[5] मे यम ने यमी से स्पष्ट शब्दो मे कहा है – हम लोग "ऋत" अर्थात् सत्य बोलते हुए अनृत आचरण कैसे करेगे ?[6] यहाँ "ऋत" का तात्पर्य उचित और "अनृत" का अनुचित से है । वस्तुत यम कहना चाहता है कि जब हम अपने कार्य को "ऋत" अर्थात् "उचित कार्य" के रूप मे प्रतिपादित करेगे, तो निश्चित रूप से जानबूझकर "अनृत" अर्थात् अनुचित कर्म मे प्रवृत्त होगे । इस प्रकार "ऋत" नैतिकता के प्रतिमान के रूप मे प्रतिष्ठित दिखाई देता है ।

वैदिक ऋषियो ने अग्नि, सूर्य, उषा, मित्र, वरुण एव बृहस्पति आदि देवताओ को "ऋत" से उत्पन्न कहा है ।[7] एक मन्त्र मे अग्नि को ऋत का प्रथम पुत्र कहा गया है ।[8] उसे ऋत को बुलाने वाला भी माना गया है ।[9] उसे "ऋत" का ज्ञाता एव उसकी (जल की) धाराओ को काटने वाला भी कहा गया है ।[10]

---

1 ऋग्वेद 10 90
2. ऋग्वेद 10 90.6
3. यासां राजा वरुणो याति मध्ये सत्यानृते अवपश्यञ्जनानाम् । ऋग्वेद 7 49 3.
4 ऋग्वेद 10 8 5
5 ऋग्वेद 10.10.
6 कद्ध नूनमृता वदन्तो अनृत वदेम । ऋग्वेद 10 10 4
7 ऋग्वेद 1 113 12, 189 6, 2 23 15, 3 54 13, 4 40 5, 7 66 13 इत्यादि
8 अग्निर्हं न प्रथमजा ऋतस्य । ऋग्वेद 10 5 7
9 ऋग्वेद 10 61 14
10 ऋग्वेद 5 12 2

द्युलोक की पुत्री उषा "ऋत" के मार्ग का अनुसरण करती है ।[1] उषा और रात्रि को ऋत की माताएँ कहा गया है ।[2] इसका तात्पर्य यह है कि रात्रि और उषा साथ-साथ कार्य करती हुई लोगो मे "ऋत" की भावना को उत्पन्न करती है । उषा देवी "ऋत" के घर से प्रबुद्ध होकर यात्रा प्रारम्भ करती है ।[3] एक स्थान पर अदिति को "ऋतावरी" कहा गया है ।[4] "ऋत" की स्तुति करके ही बृहस्पति यज्ञ का पद प्राप्त किए ।[5] अङ्गिरसो ने "वल" को "ऋत" की शक्ति से ही नष्ट किया ।[6] सोम बार-बार "ऋत" के मार्ग को बताता है ।[7] वह "ऋत" अर्थात् सत्य वाणी द्वारा पवित्र होता है ।[8] एक मन्त्र मे कहा गया है - द्यावापृथिवी ऋत की योनि मे एक साथ निवास करते है ।[9] समस्त देवता "ऋत" के मार्ग का अनुसरण करते है ।[10] एक मन्त्र मे देवो मे देवतम अग्नि से यह कामना की गई है कि वह "ऋत" के मार्ग से देवताओ के लिए हमारे स्तोत्रों तथा हविष्यो को पहुँचाए ।[11] ऋग्वेद के अनेक मन्त्रो मे देवताओ को "ऋतज्ञ" अर्थात् "ऋत" का ज्ञाता कहा गया है।[12] इसके अतिरिक्त उन्हे "ऋतावृध" अर्थात् ऋत को बढाने वाला या ऋत के द्वारा वृद्धिङ्गत भी कहा गया है ।[13] देवता लोग "ऋत" की सहायता के बिना कुछ भी करने मे समर्थ नही है । एक

---

1 ऋतस्य पन्थामन्वेति साधु । ऋग्वेद 1 124 3

2. ऋग्वेद 5.5 6

3 ऋग्वेद 4 51.8

4 ऋग्वेद 8 25 3

5 ऋग्वेद 10 67 2

6 ऋग्वेद 10 62 2

7 ऋग्वेद 9 97 32

8 ऋग्वेद 9 113 2

9 ऋतस्य योना क्षयत समोकसा । ऋग्वेद 10 65 8

10 ऋतस्य देवा अनुव्रता गु । ऋग्वेद 1.65 3

11 ऋग्वेद 10 70 2

12 ऋग्वेद 7 35.15, 10 64 16 इत्यादि

13 ऋग्वेद 10 65 3, 66 1 इत्यादि

मन्त्र मे अङ्गिरसो के लिए कहा गया है कि उन्होने "ऋत" के द्वारा ही सूर्य को द्युलोक मे स्थापित किया तथा सबका निर्माण करने वाली पृथिवी माता को विस्तृत किया ।[1] मित्रावरुण को सम्बोधित करते हुए एक मन्त्र मे कहा गया है – तुम "ऋत" के द्वारा ही सम्पूर्ण ससार को प्रकाशित करते हो ।[2] यहाँ तक कि आदित्यो का अस्तित्व ही ऋत पर आधारित बताया गया है ।[3] यहाँ आदित्य का तात्पर्य अदिति के पुत्र समस्त देवताओ से है । एक स्थान पर "ऋत" का पालन करने से मनुष्यो द्वारा भी देवत्व-प्राप्ति की बात कही गई है ।[4]

ऋत सम्पूर्ण प्रकृति मे ओतप्रोत है । अनेक मन्त्रो मे उषा देवी को "ऋतावरी" कहा गया है ।[5] नदियो को भी "ऋतावरी" कहा गया है, यद्यपि उन स्थलो पर ऋत का अर्थ "उदक" है ।[6] एक स्थान पर सिन्धुओ अर्थात् नदियो को "ऋत" को प्रवाहित करने वाली कहा गया है ।[7] एक अन्य मन्त्र मे कहा गया है – जलरहित पृथिवी "ऋत" के जल से वर्षाकाल मे सिक्त होती है ।[8]

ऋग्वैदिक ऋषि वामदेव ने तो एक सूक्त के तीन मन्त्रो में ऋत का महत्त्व प्रतिपादित किया है ।[9] सायण ने उक्त तीनो मन्त्रो का वैकल्पिक देवता "ऋत" को ही माना है । यद्यपि उन्होने वहाँ "ऋत" का कोई सुनिश्चित अर्थ न करके उसे इन्द्र, आदित्य, सत्य या यज्ञ का वाचक माना है[10], तथापि उससे "ऋत" की महत्ता मे कोई व्याघात नही होता । ऋषि ने उक्त मन्त्रो मे यह बताया है कि ऋत की बुद्धि से पाप नष्ट हो जाते है, "ऋत" की स्तुतिरूपा वाणी मनुष्य के बहरे कानो तक चली गई है । "ऋत" के द्वारा स्तोता अत्यधिक अन्न प्राप्त करना चाहते है ।

---

1 य ऋतेन सूर्यमारोहयन् दिव्यप्रथयन् पृथिवी मातर वि । ऋग्वेद 10 62 3

2 ऋतेन विश्व भुवन विराजथ । ऋग्वेद 5 63 7

3 ऋतेनादित्यास्तिष्ठन्ति । ऋग्वेद 10 85 1.

4 ऋग्वेद 1 68 3

5 ऋग्वेद 3 2 13, 61 6, 4 56 2, 7 66 13 इत्यादि

6 ऋग्वेद 2 41.18, 3 33 5, 6 61 9 इत्यादि

7 ऋतमर्षन्ति सिन्धव । ऋग्वेद 1 115 12

8 ऋग्वेद 3.55 13

9. ऋग्वेद 4 23 8, 9 तथा 10, द्रष्टव्य – सायण-भाष्य

10 अत्र ऋतशब्देनेन्द्रो वादित्यो वा सत्य वा यज्ञो वोच्यते । वही, सायण-भाष्य

"ऋत" के द्वारा गाएँ "ऋत" मे प्रविष्ट हो गई है । "ऋत" (देवता) को स्तुति के द्वारा अपने वश मे करने वाला व्यक्ति ऋत को ही प्राप्त कर लेता है । "ऋत" की शक्ति अत्यन्त तीव्र है । विस्तृत तथा गम्भीर द्यावापृथिवी "ऋत" के लिए ही है । ये दोनो धेनुरूप मे "ऋत" के लिए ही दुग्ध प्रदान करती है ।[1]

ऋग्वेदीय ऋषि "ऋत" को राष्ट्रीय प्रतिष्ठा के स्तम्भ के रूप मे भी स्वीकार करता है । वह राजा वरुण से "ऋत" द्वारा "अनृत" को दूर कर राष्ट्र का अधिपति बनने की प्रार्थना करता है।[2]

"ऋत" का अनुसरण करने से पाप सर्वथा दूर रहता है और किसी प्रकार का कष्ट नही होता । एक मन्त्र मे आदित्यो से "ऋत" पर चलने वाले के मार्ग को सुगम तथा निष्कण्टक करने की प्रार्थना की गई है ।[3] दुराचारी लोग "ऋत" के मार्ग को पार नही कर सकते ।[4] इससे यह ज्ञात होता है कि उस समय सदाचार सबका काम्य था । एक मन्त्र मे कहा गया है – "ऋत" का आचरण करने वाले व्यक्ति के लिए वायु मधुर हो जाता है तथा नदियाँ या समुद्र भी मधुर जल प्रदान करते है ।[5] "ऋत" का आचरण करने से न केवल भौतिक उपलब्धियाँ ही प्राप्त होती है, अपितु इससे स्वर्ग भी प्राप्त होता है । एक स्थल पर मृत्यु के देवता यम से यह प्रार्थना की गई है कि वह मृतक को स्वर्ग मे ले जाय, जहाँ "ऋत" का आचरण करने वाले, ऋतयुक्त और ऋत से उत्कर्ष प्राप्त करने वाले पितर निवास करते है ।[6] "ऋत" के सम्बन्ध मे एक और महत्त्वपूर्ण बात यह ज्ञात होती है कि इसके द्वारा अमरता भी प्राप्त की जा सकती है । एक मन्त्र मे "ऋत" की नाभि से अमृत की उत्पत्ति बताई गई है ।[7]

---

1 ऋग्वेद 4 23 8, 9 तथा 10

2 ऋतेन राजन्ननृत विविञ्चन् मम राष्ट्रस्याधिपत्य मेहि । ऋग्वेद 10 124 5

3 सुग पन्था अनृक्षर आदित्यास ऋत यते । ऋग्वेद 1 41 4

4 ऋतस्य पन्था न तरन्ति दुष्कृत । ऋग्वेद 9 73 6

5 मधु वाता ऋतायते मधु क्षरन्ति सिन्धव । ऋग्वेद 1 90 6

6 ये चित्पूर्व ऋतसाप ऋतावान ऋतावृध ।
पितृन्तपस्वतो यम ताँश्चिदेवापि गच्छतात् । ऋग्वेद 10 154 4

7 ऋतस्य नाभिरमृत विजायते । ऋग्वेद 9 74 4

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्टत परिलक्षित होता है कि "ऋत" इस सृष्टि के मूल मे विद्यमान तत्त्व है । यह सम्पूर्ण जगत् का आदिकारण है तथा पृथ्वी, अन्तरिक्ष, सूर्य, अग्नि इत्यादि समस्त तत्त्वो का उत्पादक एव नियामक है । "ऋत" के अस्तित्व के कारण ही सर्वत्र विषमता के स्थान पर समता तथा अशान्ति के स्थान पर शान्ति प्रतिष्ठित है । यह सतत गतिशील है । अमूर्त होते हुए भी यह पूरी सृष्टि मे व्याप्त है । इसकी गतिशीलता इस शब्द की निष्पत्ति के मूल मे स्थित "ऋ" धातु मे ही निहित है, जो गति तथा क्रियाशीलता की ज्ञापक है । "ऋत" के महत्त्व को इसी के प्राय समान ध्वनि वाले शब्द "ऋतु" के परिप्रेक्ष्य मे भी देखा जा सकता है । "ऋतु" भी सदैव गतिशील है । भाष्यकारो द्वारा "ऋत" के किए गए उदक, यज्ञ, कर्मफल आदि अर्थ भी इसकी गतिशीलता को प्रतिपादित करते है । "ऋत" का अस्तित्व सभी स्वीकार करते है । इससे किसी का भी विरोध नही है । अत यदि इसे परम तत्त्व के रूप मे भी स्वीकार कर लिया जाय, तो कोई हानि नही है । ऋग्वेद मे किसी देव-विशेष को सभी ऋषियो ने परमतत्त्व नही माना है, बल्कि सबके मत मे यह भिन्न-भिन्न है[1], यद्यपि उसकी सत्ता सबने स्वीकार की है । "ऋत" एक ऐसा तत्त्व है, जिसे सबने स्वीकार किया है । इस प्रकार यह सार्वभौम है । ऋग्वेद मे "ब्रह्म" की अवधारणा भी स्पष्टत परमतत्त्व के रूप मे नही हो पाई है । वह स्तोत्र, स्तोता, ब्रह्मा इत्यादि के रूप मे ही प्राय व्याख्यात है । इसके अतिरिक्त वहाँ किसी भी परमतत्त्व का नामत उल्लेख नही है । जो भी स्तुतियाँ है, वे सभी तात्कालिक रूप से तत्तद्देवताओ को समर्पित की गई हैं । अत सम्भव है कि "तदेकम्"[2] से ऋषि "ऋततत्त्व" की ओर ही सङ्केत कर रहा हो । इसी सूक्त के अगले मन्त्र[3] मे "अप्रकेत सलिल" की चर्चा की गई है । इसके साथ "ऋत" का "उदक" अर्थ अनुस्यूत प्रतीत होता है । इसी मन्त्र के अन्तिम चरण मे उस परमतत्त्व को "तपस्" की महिमा से उत्पन्न बताया गया है ।[4] "ऋत" भी तपस् द्वारा ही उत्पन्न हुआ ।[5] अत निश्चित रूप से "ऋत को इस सृष्टि के परमतत्त्व के रूप मे स्वीकार किया जा सकता है ।

---

1 एक सद् विप्रा बहुधा वदन्ति । ऋग्वेद 1 164 46

2 आनीदवात स्वधया तदेकम् । ऋग्वेद 10 129 2

3 तम आसीत्तमसा गूळ्हमग्रेऽप्रकेत सलिल सर्वमा इदम् ।
तुच्छ्येनाभ्वपिहित यदासीत्तपसस्तन्महिनाजायतैकम् ।। ऋग्वेद 10 129 3.

4 ऋग्वेद 10 129 3

5 ऋत च सत्य चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत । ऋग्वेद 10 190 1

(ख) ऋग्वेद मे ज्ञानमीमासा –

"वेद" ज्ञानस्वरूप है । उनमे अखण्ड ज्ञान निहित है । यहाँ ऋग्वेद मे निहित ज्ञान–मीमासीय तत्त्वो पर विचार करना अपेक्षित है ।

(1) ज्ञानमीमांसा का सामान्य स्वरूप – ऋग्वेद की ज्ञानमीमासा की चर्चा करने के पूर्व "ज्ञानमीमासा" को समझना आवश्यक है । भारतीय दर्शन–परम्परा मे "ज्ञानमीमासा" शब्द का प्रयोग उपलब्ध नही होता । वहाँ इसी अर्थ मे "प्रमाण–मीमासा" का व्यवहार होता रहा है । वस्तुत "ज्ञानमीमासा" शब्द अग्रेजी के एपिस्टेमोलॉजी (Epistemology) का हिन्दी अनुवाद है । पाश्चात्त्य दर्शनो मे यह शब्द बहुश प्रयुक्त है । वहाँ इसका प्रयोग विभिन्न तत्त्वो के सम्बन्ध मे दिये गए तर्कों के लिए किया गया है । भारत मे प्रमाण–मीमासा के अन्तर्गत प्रत्यक्षादि प्रमाणो द्वारा प्राप्त ज्ञान, उसके स्रोत तथा प्रामाण्य–अप्रामाण्य आदि का विवेचन इष्ट रहा है । इस प्रकार भारतीय प्रमाण–मीमासा ही आधुनिक ज्ञान–मीमासा के विषयो को ग्रहण करती है । भारतीय दर्शन मे इसकी जितनी विशद एव विस्तृत विवेचना की गई है, अतनी अन्यत्र नही की गई है ।

(2) ऋग्वेद मे "प्रमा" शब्द :– भारतीय दर्शन मे "प्रमा", प्रमाण, "प्रमाता" और "प्रमिति" शब्दो का प्रयोग ज्ञानमीमासा के अन्तर्गत किया गया है । ये सभी शब्द "प्र" उपसर्गपूर्वक "माङ्" धातु से क्रमश अङ्, ल्युट्, तृच् और क्तिन् प्रत्ययो के योग से निष्पन्न होते है । "माङ्" धातु नापने के अर्थ मे होता है, अत सामान्यत जो मापे या जिसे मापा जाय वह प्रमा, जिससे मापा जाय, वह प्रमाण तथा जो मापे वह प्रमाता कहलाता है । "प्रमिति" शब्द का प्रयोग प्राय प्रमा के अर्थ मे ही किया जाता है । न्यायदर्शन मे यथार्थ अनुभव ज्ञान को प्रमा कहा जाता है ।[1] ऋग्वेद मे "प्रमा" शब्द का प्रयोग दो बार किया गया है ।[2] प्रथम बार प्रयुक्त इस शब्द का अर्थ सायण ने "प्रमाण" या "इयत्ता" किया है ।[3] द्वितीय बार भी उन्होने इसे उक्त अर्थ मे ही प्रयुक्त माना है ।[4]

---

1 "यथार्थानुभव प्रमा" – मिश्र केशव – तर्क भाषा, पृष्ठ 16

2 ऋग्वेद 10 130 3 तथा 7

3 कासीत्प्रमा प्रतिमा कि निदानम् । ऋग्वेद 10 130.3

प्रमा प्रमाणम् इयत्ता का कथभूता आसीत् । सायण-भाष्य

सहप्रमा ऋषय सप्त दैव्या । ऋग्वेद 10 130 7

सहप्रमा । प्रमिति प्रमा यज्ञस्येयत्तापरिज्ञानम् । सायण-भाष्य

यदि ऋग्वेद मे इसका अर्थ इयत्तापरिज्ञान भी माना जाय, तो इसके अवान्तरकालीन अर्थ से कोई विरोध नही प्रतीत होता, क्योंकि जब तक किसी वस्तु के बारे मे पूर्ण ज्ञान नही होगा, हम उसकी इयत्ता या सीमा नही बता सकते । इस प्रकार दर्शन मे प्रयुक्त "प्रमा" शब्द ऋग्वेद से ही लिया गया है ।

ऋग्वेद के ज्ञानसूक्त मे भी आपातत "प्रमा" शब्द का प्रयोग दृष्टिगत होता है, किन्तु पदच्छेद करने पर ऐसा नही है ।[1] सायण ने "यत् अरिप्रम् आसीत्", इस प्रकार अन्वय करते हुए "अरिप्र" का अर्थ – "पापरहित वेदार्थज्ञान" किया है ।[2] जयदेव वेदालङ्कार ने इस मन्त्र मे "प्रमा" शब्द को स्वतन्त्र मानकर इसका अर्थ – "वह ज्ञान का स्वामी सर्वप्रथम वाणी अर्थात् वेद की ऋचाओ मे इन प्रमा वाली नाना वस्तुओ के नाम देता है", किया है ।[3] उनके मन्त्रार्थ मे कही भी "अरि" का अर्थ नही दिया गया है, जबकि "प्रमा" को अलग पद मानने पर "यत् अरि–प्रमा आसीत्" इस प्रकार अन्वय और पदच्छेद करना पडेगा । अन्य किसी भी विद्वान् ने उक्त मन्त्र मे "प्रमा" को पृथक् पद के रूप मे स्वीकार नही किया है । अत "अरिप्रम् आसीत्" इस प्रकार का अन्वय करना ही उचित प्रतीत होता है ।

(3) ऋग्वेद में "प्रत्यक्ष", "अनुमान" और "शब्द" प्रमाणो के सङ्केत – वस्तुत प्रमाणो का प्रमाणत्व किसी भी वस्तु (पदार्थ) की ज्ञान–प्राप्ति के साधन के रूप मे ही है । किसी भी ज्ञान के प्रति साक्ष्य के रूप मे प्रत्यक्ष–अनुमानादि प्रमाणो को उपन्यस्त किया जाता है । ऋग्वेद मे हमे इन शब्दो का स्पष्ट प्रयोग तो उपलब्ध नही होता, किन्तु इनका भाव–फल अवश्य ही उक्त अर्थो मे ही दृष्टिगत होता है । एक मन्त्र मे आया है – प्रथम जायमान को किसने देखा ?[4] मन्त्र मे प्रयुक्त क्रियापद "ददर्श" तथा प्रष्टा के भाव से यह स्पष्टत परिलक्षित होता है कि ऋषि को न केवल "प्रत्यक्ष" का ही, अपितु "चाक्षुष प्रत्यक्ष" की धारणा का भी स्पष्ट ज्ञान है । इसी प्रकार एक अन्य

---

1 यदेषा श्रेष्ठ यदरिप्रमासीत् प्रेणा तदेषा निहित गुहावि । ऋग्वेद 10 71 1

2 यत् यच्च अरिप्र पापरहित वेदार्थज्ञानम् आसीत् । वही, सायण-भाष्य

3 वेदालङ्कार, जयदेव – वैदिक दर्शन, पृष्ठ 337

4 को ददर्श प्रथम जायमानम् । ऋग्वेद 1 164 4

मन्त्र मे प्रत्यक्ष, अनुमान एव शब्द तीनो प्रमाणो के बीज निकाले जा सकते है ।[1] यमी यम से कहती है – हम दोनो के इस प्रथमत होने वाले सम्बन्ध को कौन जान सकता है ? कौन इसे यहॉं देख रहा है ? तथा कौन आगे इसे बताएगा ? तात्पर्य यह है कि उनके सम्बन्ध का ज्ञान प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द, किसी भी प्रमाण से गम्य नही है । मन्त्र मे आए "क ईम् ददर्श" से प्रत्यक्ष प्रमाण का बोध होता है । "को अस्य वेद प्रथमस्याह्न " से यहॉं अनुमान प्रमाण का सङ्केत प्राप्त होता है । अनुमान की प्रसक्ति व्याप्ति–ज्ञान के पश्चात् ही हो सकती है । व्याप्ति के लिए लिङ्ग तथा लिङ्गी का साहचर्य–ज्ञान आवश्यक है । यह साहचर्य ज्ञान मात्र एक बार दोनो को साथ देखने से उपपन्न नही हो सकता । इसके अलए अनेक बार दोनो को एक साथ देखा जाना आवश्यक है । यम–यमी द्वारा क्रियमाण–सम्बन्ध प्राथमिक था, उसे कोई प्रत्यक्ष भी नही कर रहा था, अत अनुमान प्रमाण द्वारा उसका ज्ञान शक्य नही था । शब्द प्रमाण आप्त वाक्यो पर आधारित होता है ।[2] आप्त जन भी प्रत्यक्षादि के आधार पर ही वाक्य प्रस्तुत कर सकते है । जब यम–यमी के सम्बन्ध को प्रत्यक्ष और अनुमान के द्वारा नही जाना जा सकता था, तो आप्तो द्वारा वाक्य-रचना भी अशक्य थी । इसी को मन्त्र मे आए "क इह प्रवोचत्" द्वारा निर्दिष्ट किया गया है । प्रस्तुत मन्त्र पर सायण-भाष्य द्वारा भी उक्त प्रमाणो का निर्देश प्राप्त होता है ।[3] एक अन्य मन्त्र मे हमे अनुमान प्रमाण का स्पष्ट उपपादन दृष्टिगत होता है ।[4]

[4] **ऋग्वेद में शब्दात्मिका "वाणी" का आविर्भाव** – वेद, शब्द प्रमाण के सर्वोच्च निदर्शन है । जो तथ्य प्रत्यक्ष या अनुमान द्वारा ज्ञात नही हो सकते, उन्हे वेद द्वारा जाना जाता है । यही वेद का वेदत्व है ।[5] वेद और ज्ञान अभिन्न हैं । ऋग्वेद के दशम मण्डल का इकहत्तरवा सूक्त

---

1 को अस्य वेद प्रथमस्याह्न क ई ददर्श क इह प्रवोचत् । ऋग्वेद 10 10 6

2 आप्तवाक्य शब्द । मिश्र, केशव – तर्कभाषा, शब्द प्रमाण ।

3 प्रथमस्याह्न सम्बन्धि अस्य इदमन्योन्यसगमन क वेद जानाति । प्रथमेऽहनि यत्क्रियते तदनुमानमाश्रित्य न कश्चिदपि ज्ञातु शक्नोतीत्यर्थ । इह अस्मिन् प्रदेशे प्रत्यक्षत क ईम् इद सगमन ददर्श पश्यति क प्रवोचत् प्रख्यापयति । न कोऽपीत्यर्थ । वही, सायण भाष्य

4 शकमय धूममारादपश्य विषूवता पर एनावरेण । ऋग्वेद 1 164 43 तथा इस पर सायणभाष्य

5 प्रत्यक्षेणानुमित्या वा यस्तूपायो न विद्यते ।
एन विदन्ति वेदेन तस्माद्वेदस्य वेदता ।। सायण, तैत्तिरीय भाष्य-भूमिका

"ज्ञानसूक्त" के नाम से प्रसिद्ध है । इसके ऋषि आङ्गिरस बृहस्पति तथा देवता ज्ञान है । इसमे वाणी अर्थात् शब्द के प्राकट्य का विवेचन किया गया है । सूक्त के प्रथम मन्त्र मे मनुष्यो के प्रेम के कारण उनमे वाणी के आविर्भाव की चर्चा की गई है ।[1] डॉ मुशीराम शर्मा के अनुसार इस मन्त्र मे वाणी के परा तथा पश्यन्ती रूपो की विवेचना की गई है ।[2] वाणी के चार रूप होते है – परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी ।[3] पहला परा रूप अचिन्त्य है । सारा ज्ञान उसी मे समाविष्ट है, सारे नाम भी वही है । सृष्टि के प्रसङ्ग मे सर्वप्रथम महत् या बुद्धितत्त्व उत्पन्न होता है । वाणी का परा रूप भी इस बुद्धिरूपी गुहा के साथ पश्यन्ती रूप मे प्रकट हो जाता है । बुद्धितत्त्व मे सत्त्वगुण प्रधान रहता है अत वाणी का पश्यन्ती रूप भी सत्त्वप्रधान है । सत्त्वगुण प्रधान होने के कारण ही मन्त्र मे पश्यन्ती वाणी को श्रेष्ठ तथा निष्पाप ज्ञान कहा गया है ।

उद्धृत सूक्त के दूसरे मन्त्र मे भी वाणी के उक्त आविर्भाव को पल्लवित किया गया है ।[4] डॉ शर्मा ने इसमे मध्यमा रूप को उपपन्न किया है ।[5] महत् या बुद्धितत्त्व से अहङ्कार की उत्पत्ति होती है तथा अहङ्कार से मन की । वाणी का पश्यन्ती रूप बुद्धितत्त्व मे समेकित था, अब अहङ्कार द्वारा मध्यमा रूप का उदय मन मे हुआ । मन के साथ विश्लेषण की क्रिया जुडी रहती है। जिस प्रकार चलनी से सत्तू को साफ किया जाता है, उसी प्रकार धीर पुरुष मन मे वाणी को परिष्कृत करते है । वाणी के सखा यही वाणी की मैत्री को पहचान लेते है । भद्रालक्ष्मी इनकी वाणी मे निहित रहती है । यहाँ लक्ष्मी का तात्पर्य लक्षित कराने वाली शक्ति से है । मध्यमा वाणी मे ही अर्थ लक्षित होने लगते है । पश्यन्ती रूप मे तो अर्थों का दर्शन-मात्र उपलब्ध रहता है । इसीलिए उसमे सख्य नही होता । सख्यभाव के लिए द्वैत का होना आवश्यक है । यह पश्यन्ती की सगुणता के पश्चात् मध्यमा के रूप मे ही सम्भव है ।

---

1 बृहस्पते प्रथम वाचो अग्र यत्प्रैरत नामधेय दधाना ।
यदेषा श्रेष्ठ यदरिप्रमासीत् प्रेणा तदेषा निहित गुहावि । ऋग्वेद 10 71 1

2 शर्मा, मुशीराम – वेदार्थ–चन्द्रिका, पृष्ठ 203

3 ऋग्वेद 1 164 45

4 सक्तुमिव तितउना पुनन्तो यत्र धीरा मनसा वाचमक्रत ।
अत्रा सखाय सख्यानि जानते भद्रैषां लक्ष्मीर्निहिताधि वाचि । ऋग्वेद 10 71 2

5 शर्मा, मुशीराम – वेदार्थ–चन्द्रिका, पृष्ठ 204

सूक्त के तीसरे मन्त्र मे पूर्णत शब्द प्रमाण के उपन्यस्त होने का सड्केत प्राप्त होता है।[1] डॉ शर्मा ने इसमे वैखरी वाणी का वर्णन माना है ।[2] वाणी के मध्यमा रूप मे जो अर्थ लक्षित हो रहे थे, अब उनके प्रकट होने का समय आ गया । अब वे वैखरी वाणी के रूप मे सर्वसुलभ होंगे । वैखरी रूप प्राप्त करने का माध्यम यज्ञ ही है । अत यज्ञ द्वारा वाणी की इस पदवी को खोजा गया तथा उसे ऋषियो की मनोभूमि मे प्रविष्ट पाया गया । उस पवित्रवाणी को सभी तरफ से ग्रहण करके धीर पुरुषो ने अनेक स्थानो मे या अनेक रूपो मे विभक्त कर दिया । जो वाणी संहित रूप मे थी, वह विभक्त हो गई । जो एक तत्त्व था, वह चार भागो मे हो गया । ये गायत्री इत्यादि सात छन्द उसी वाणी की स्तुति करते है । यही वाणी, शब्दप्रमाण का मूल है । इसी के द्वारा हमे परोक्ष विषयो का भी ज्ञान प्राप्त होता है । वस्तुत वाणी अर्थात् शब्द और ज्ञान अन्योन्याश्रित है ।

इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन से यह सिद्ध होता है कि ज्ञानमीमासा या प्रमाणमीमासा के बीज भी हमे ऋग्वेद मे उपलब्ध होते है ।

(ग) ऋग्वेद मे आचारमीमासा –

आचार शास्त्र को भी दर्शन के अन्तर्गत ही स्वीकार किया जाता है । आधुनिक युग मे इसे नैतिक दर्शन (Moral Philosophy) के रूप मे पढाया जाता है । वस्तुत जब तक व्यक्ति सदाचार का पालन नही करेगा, उसके हृदय मे दर्शन के मूल तत्त्वो का उद्गम होना सम्भव नही है । अत यह शास्त्र भी दर्शन का अभिन्न अड्ग है । प्रकृत स्थल पर विचारणीय है कि ऋग्वेद मे आचारशास्त्र का क्या स्वरूप है ? इस दृष्टि से इसे दो भागो मे विभक्त कर विचार किया जा सकता है ।

(1) यज्ञीय आचारमीमासा – इसे कर्मकाण्डीय आचारमीमासा भी कहा जा सकता है, क्योंकि कर्मकाण्ड यज्ञ का ही क्रियापक्ष है । वस्तुत यज्ञ या कर्मकाण्ड धर्म का व्यावहारिक रूप है । यह वैदिक विचारधारा की आधारशिला है । यज्ञ मे प्रयुक्त होने वाले पदार्थ – प्रदीप्त अग्नि, आज्य का मधुर सुगन्ध, कुश, पकाया गया हविष्यान्न, निचोडा हुआ सोमरस तथा अन्य उपकरण भी यज्ञकर्त्ता,

---

1 यज्ञेन वाच पदवीयमायन् तामन्वविन्दन्नृषिषुप्रविष्टाम् ।
तामाभृत्या व्यदधु पुरुत्रा ता सप्त रेभा अभि स नवन्ते ।। ऋग्वेद 10 71 3

2 शर्मा, मुशीराम – वेदार्थ-चन्द्रिका, पृष्ठ 205

के मन और शरीर पर पवित्र प्रभाव डालते है । इसके अतिरिक्त पुरोहितो द्वारा क्रियमाण विभिन्न क्रियाएँ, मन्त्रो का गायन एव उनकी सङ्गीतात्मकता तथा यज्ञ के अन्तिम चरण मे सबका साथ–साथ भाग लेना आध्यात्मिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है । इन सभी तथ्यो को दृष्टिगत करते हुए ही यज्ञ को इस भुवन की नाभि या केन्द्रबिन्दु कहा गया है ।[1] जहाँ तक यज्ञीय आचारमीमासा का सम्बन्ध है, यह ऋग्वेद मे उपलब्ध नही होती । ऋग्वेद मे हमे मात्र विभिन्न देवताओ का आवाहन करके उनकी स्तुतियाँ तथा उनसे यज्ञो मे उपस्थित रहने की प्रार्थनाएँ ही उपलब्ध होती है । यज्ञ का स्वरूप, उसके नियम तथा पुरोहितो एव यजमानो द्वारा आचारणीय नियमो का सूक्ष्म एव विस्तृत वर्णन ब्राह्मण ग्रन्थो मे प्राप्त होता है ।

(2) **लौकिक आचारमीमांसा** – ऋग्वेद मे आदर्श लौकिक जीवन की उद्भावना की गई है । सूर्य–चन्द्रादि के मार्गों का अनुसरण करने की कामना की गई है । अनेक मन्त्रो मे आदर्श पुत्र प्राप्त करने की प्रार्थना इसलिए की गई है कि यज्ञ–परम्परा का उच्छेद न होने पाए ।[2] एक मन्त्र मे कहा गया है – जो यजमान इन्द्र के लिए हवि प्रदान करता है, सोम उसे धेनु प्रदान करता है । वह उसे शीघ्रगामी अश्व प्रदान करता है । वह उस यजमान को वीर, कर्मठ, गृहकार्य मे दक्ष, यज्ञयोग्य, सभेय तथा पिता को यश प्रदान करने वाला पुत्र देता है ।[3] ऋषियो ने देवो से कल्याणकारिणी बुद्धि की याचना की है, जिससे उनकी अनुकूलता बनी रहे ।[4] उन्होने कानो से अच्छा सुनने तथा आँखो से अच्छा देखते रहने की प्रार्थना करते हुए देवो की अपने दृढाङ्गो से स्तुति करते हुए उनके द्वारा निर्धारित आयु प्राप्त करने की इच्छा व्यक्त की है ।[5] ऋग्वेद मे उपलब्ध लौकिक आचार–संहिता को निम्नलिखित शीर्षको के अन्तर्गत देखा जा सकता है ।

---

1 अय यज्ञो भुवनस्य नाभि । ऋग्वेद 1 164 35

2 ऋग्वेद 2.12 15, 8 48 14 इत्यादि.

3 ऋग्वेद 1 91 20

4 ऋग्वेद 1 89 1

5

(अ) सत्याचरण – ऋग्वेद मे "ऋत" और "सत्य" का बडा महत्त्वपूर्ण स्थान है । एक मन्त्र मे मरुतो के लिए "ऋत" द्वारा "सत्य" को प्राप्त करने की बात कही गई है ।[1] यद्यपि सामान्य रूप से ऋत और सत्य को एक माना जाता है, किन्तु दोनो का अनेक स्थलो पर साथ–साथ प्रयोग होने से इनका पार्थक्य लक्षित होता है । "सत्य" की निष्पत्ति सत्तार्थक "अस्" धातु से होती है, अत इसका अर्थ हुआ "अस्तित्व या होने का भाव । "ऋत" गत्यर्थक "ऋ" धातु से बनता है, अत इसका अर्थ हुआ "गतिशीलता" । इसे "सत्य के प्रति गतिशील" भी कह सकते है, क्योकि सत्य स्थित है तथा ऋत क्रियाशील । डॉ गणेशदत्त शर्मा के शब्दो मे कहा जा सकता है कि "ऋत" अपने मे एक अलौकिकता एव दार्शनिक गम्भीरता लिये हुए है और "सत्य" लौकिक एव व्यावहारिक जगत् का आचार है, यद्यपि एक स्तर पर पहुँचकर सत्य भी दार्शनिक चिन्तन का विषय बन जाता है ।[2] मेरी दृष्टि मे तो "सत्य" सदैव दार्शनिक चिन्तन का विषय रहा है । वस्तुत सत्य का साक्षात्कार ही दर्शन है । भारतीय इतिहास के हर युग मे हम चिन्तको को "सत्य" के पीछे भागते देखते है तथा उन्हे इसके दार्शनिक एव आध्यात्मिक स्वरूप के अन्वेषण मे रत पाते है ।

ऋग्वेद मे देवताओ को सत्यस्वरूप माना गया है । एक मन्त्र मे अश्विनो को सम्बोधित करते हुए उन्हे जोडकर सत्यभूत तैतीस देवताओ को यज्ञ मे आने के लिए कहा गया है ।[3] ऋग्वेद के प्रथम सूक्त मे ही अग्नि को सत्य कहा गया है ।[4] इसी प्रकार एक अन्य स्थल पर इन्द्र को भी सत्य कहा गया है ।[5] सत्य की उत्कृष्टता के कारण ही वैदिक युग मे आस्तिकता तथा नास्तिकता का द्वन्द्व नही था, बल्कि हमे सत्य और असत्य का द्वन्द्व दिखाई देता है । एक मन्त्र मे कहा गया है – हम सत्यस्वरूप इन्द्र का स्तवन करे, न कि अनृत का ।[6] एक मन्त्र मे ऋषि अग्नि से

---

1 ऋतेन सत्यमृतसाप आयन् । ऋग्वेद 7 56 12

2 शर्मा, गणेशदत्त – ऋग्वेद मे दार्शनिक तत्त्व, पृष्ठ 170

3 युवा देवास्त्रय एकादशास सत्या सत्यस्य ददृशे पुरस्तात् । ऋग्वेद 8 57 2.

4 सत्यश्चित्रश्रवस्तम । ऋग्वेद 1.1 5

5 यच्चिद्धि सत्य सोमपा । ऋग्वेद 1 29 1

6 सत्यमिद्वा उ त वयमिन्द्र स्तवाम् नानृतम् । ऋग्वेद 8.62.12

स्पष्टीकरण देता है कि वह अनृतदेव अर्थात् असत्य देवताओ को मानने वाला नही है ।[1] सत्यकर्मा सोम से सत्य बोलते हुए इन्द्र के लिए द्रवित होने की प्रार्थना की गई है ।[2] इसी प्रकार हिरण्यगर्भ को भी सत्यधर्मा कहा गया है ।[3] एक मन्त्र मे द्यावापृथिवी को सत्य से युक्त होने के लिए कहा गया है ।[4] इस प्रकार देवो के आचार मे सर्वत्र सत्य की भावना प्राप्त होती है । देवो मे ऐसी भावना के उद्भावक ऋषि भी निश्चित रूप से सत्यमय होगे,क्योंकि सत्य के व्यापक स्वरूप से उनका उद्देश्य प्राणिमात्र को सत्यमय बनाना प्रतीत होता है ।

वैदिक ऋषियो ने सत्य को इतना अधिक महत्त्व दिया कि उसे विश्व के नियन्त्रक एव सञ्चालक के रूप मे स्वीकार किया । एक मन्त्र मे कहा गया है – सत्य के द्वारा ही पृथिवी स्थिर की गई है ।[5] इस मन्त्र द्वारा यह ज्ञात होता है कि ऋग्वैदिक काल मे सत्य को नैतिक प्रतिमान के रूप मे स्वीकार कर लिया गया था । सत्य बोलना उस समय पवित्र कार्य माना जाता होगा । एक मन्त्र मे ऋषि ने द्युलोक एव पृथिवीलोक को भी सत्यवादी बताया है ।[6]

ऋग्वेद मे सत्य के महत्त्व–प्रतिपादन के अतिरिक्त उसके प्रति गहरी निष्ठा भी व्यक्त की गई है । एक स्थल पर ऋषि ने अपने विचारो तथा हृदय को सत्ययुक्त होने के लिए कहा है ।[7] वैदिक ऋषि सत्य के प्रति आश्वस्त है कि सत्य की ही विजय होती है, असत्य पराजित हो जाता है। एक मन्त्र मे कहा गया है कि विद्वान् व्यक्ति यह भलीभाँति जानता है कि सत्य तथा असत्य वचन परस्पर स्पर्धा करते है । उनमे से जो ऋजुतम, अकुटिल सत्य है, सोमदेव उसकी रक्षा करते है तथा असत् को मार देते है ।[8] सम्भवत मुण्डकोपनिषद् के ऋषि को इसी मन्त्र से प्रेरणा मिली होगी, जब

---

1 ऋग्वेद 7 104 14

2 ऋत वदन्नृतद्युम्न सत्य वदन्त्सत्यकर्मन् । ऋग्वेद 9 113 4

3 ऋग्वेद 10 121 9

4 ऋग्वेद 3 54 3

5 सत्येनोत्तभिता भूमि । ऋग्वेद 10 85.1.

6 ऋतावरी रोदसी सत्यवाच. । ऋग्वेद 3 54 4

7 ऋग्वेद 10 128 4

8 सुविज्ञान चिकितुषे जनाय सच्चासच्च वचसी पस्पृधाते ।
तयोर्यत्सत्य यतरदृजीयस्तदित्सोमोऽवति हन्त्यासत् ।। ऋग्वेद 7.104.12

उसने कहा – सत्य की ही विजय होती है, अनृत (असत्य) की नही ।[1]

ऋग्वेद मे सत्याचरण द्वारा उत्कृष्ट पद प्राप्त करने के प्रसङ्ग भी दृष्टिगत होते है । एक मन्त्र मे सत्यधर्माओ को परम व्योम मे जाने को कहा गया है ।[2] यहाँ "परमव्योम" अवश्य ही स्वर्गलोक के लिए आया प्रतीत होता है । एक अन्य मन्त्र मे सत्यस्वरूप पितरो को इन्द्र के समान रथ धारण करने वाला बताया गया है ।[3]

ऋग्वेद मे सत्य की प्रतिष्ठा करने के साथ–साथ असत्याचरण की निन्दा भी की गई है । वैदिक ऋषियो का यह मन्तव्य था कि असत्यवादी तथा पापकर्मा लोग देवो के कृपापात्र नही बन सकते । ऐसे लोगो को देव कष्ट पहुँचाते है । एक मन्त्र मे कहा गया है – सोम राक्षस तथा असत्य बोलने वाले को मार डालता है ।[4] एक अन्य मन्त्र मे असत्यवादी व्यक्ति को पापी कहा गया है ।[5]

वस्तुत नैतिक दृष्टि से सत्य का तात्पर्य इसकी सार्वभौमिकता तथा अखण्डता से है । तत्त्वमीमासीय दृष्टि से सत्य यथार्थ को द्योतित करता है और "सत्" बन जाता है । "सत्य" का सम्बन्ध आचरण से है और "सत्" गवेषणा का विषय है । इसी से अनुप्राणित होकर उपनिषद् मे कहा गया है – मुझे असत् से सत् की ओर ले जाओ ।[6] यदि किसी व्यक्ति से "सत्" के बारे मे जिज्ञासा की जाय, तो वह मौन धारण कर सकता है, जैसा कि गौतम बुद्ध ने परम सत् के बारे मे किया था, किन्तु सत्य के विषय मे ऐसा नही है । यह हमारे जीवन के प्रत्येक क्षण मे अनुविद्ध है । स्वय वैदिक ऋषि ने सत् और असत् से परे स्थिति की कल्पना की है – उस समय न सत् था, न असत्।[7] इसके विपरीत सत्य की परम सत्ता स्वीकार की गई है । ऋषि कहता है – पृथ्वी सत्य के द्वारा ही

---

1 सत्यमेव जयते नानृतम् । मुण्डकोपनिषद् – 3 1 6

2 सत्यधर्माणा परमे व्योमनि । ऋग्वेद 5 63 1

3 ये सत्यासो हविरदो हविष्पा इन्द्रेण देवै सरथ दधाना । ऋग्वेद 10.15 10

4 हन्ति रक्षो हन्त्यासद्वदन्तम् । ऋग्वेद 7 104 13

5 पापास सन्तो अनृता असत्या । ऋग्वेद 4 5.5

6 असतो मा सद् गमय । बृहदारण्यकोपनिषद् – 1 3 28

7 ऋग्वेद 10 129 1

ऊपर स्थित की गई है ।[1] आगे चलकर सम्पूर्ण परवर्ती, साहित्य मे सत्य का महत्त्व स्वीकार किया गया है । यजुर्वेद का ऋषि भी यज्ञ करते समय कहता है – यह मै अनृत से सत्य की ओर जा रहा हूँ ।[2] सत्य के इस साम्राज्य का मूलाधार ऋग्वेद मे ही निहित है ।

(ब) अहिसा – सत्याचरण के अतिरिक्त अहिसा का भी लोक मे बडा महत्त्वपूर्ण स्थान है । यह अहिसा की भावना हमे ऋग्वेद मे उपलब्ध होती है । ऋषियो ने पितरो मे भी अहिसा की उपस्थिति स्वीकार करते हुए "अवृक" अर्थात् अहिसक पितरो से यज्ञ मे रक्षा करने की प्रार्थना की है।[3] एक अन्य मन्त्र मे भी पूर्वजो को हिसा से रहित, अनिन्द्य, पापरहित तथा स्तोता बताते हुए स्वय भी वैसा ही होने की प्रार्थना की गई है ।[4] एक मन्त्र मे यज्ञो को भी असुरो से "अदब्ध" अर्थात् अहिसित होने की प्रार्थना की गई है ।[5] देवताओ की अनुग्रहबुद्धि प्राप्त करने के लिए अहिसा की भावना से सवलित होना आवश्यक है । एक मन्त्र मे ऋषियो ने अहिसक होते हुए इन्द्र की कल्याणकारिणी बुद्धि मे स्थान प्राप्त करने की कामना की है ।[6]

देवताओ से धन की याचना करते समय भी ऋषियो ने यह आदर्श उपस्थित किया है कि उस धन से किसी की भी हिसा न हो । एक मन्त्र मे इन्द्र से ऐसे ही प्रभूत, सयत, कल्याणकारी तथा अहिसित धन की याचना की गई है, जो शत्रुओ को तारने के लिए हो ।[7] यही नही, ऋषियो ने हिसारहित बुद्धि की भी याचना की है, क्योकि बुद्धि द्वारा ही सारा व्यवहार सम्पन्न होता है । यदि बुद्धि हिसायुक्त हो जाएगी तो इससे विनाश के अतिरिक्त और कुछ भी नही हो सकेगा । इसीलिए अश्विनो को सम्बोधित करते हुए ऋषि ने अपनी बुद्धि को ऋजु, अहिसित तथा धनाभिलाषिणी बनाने की प्रार्थना की है ।[8]

---

1 ऋग्वेद 10 85 1

2 इदमहमनृतात्सत्यमुपैमि । शुक्लयजुर्वेद – 1 5

3 असु य ईयुरवृका । ऋग्वेद 10 15 1

4 यथा चित्पूर्वे जरितार आसुरनेद्या अनवद्या अरिष्टा । ऋग्वेद 6.19 4, द्रष्टव्य-सायणभाष्य

5 ऋग्वेद 1.89 1.

6 वय ते अस्या सुमतौ चनिष्ठा स्याम वरूथे अघ्नतो नृपीतौ । ऋग्वेद 7 20 8

7 आ सयतमिन्द्र ण स्वस्ति शत्रुतूर्याय बृहतीममृध्राम् । ऋग्वेद 6 22 10

8 ऋग्वेद 7 67.5

ऋग्वेद मे देवयान तथा पितृयान दो मार्गों को बताया गया है । देवयान इन दोनो मे श्रेष्ठ है । इसे प्राप्त करने के लिए भी अहिसा का होना आवश्यक है । एक मन्त्र मे ऋषि ने बताया है कि उसने अहिसित तथा तेजो से सस्कृत देवयान के मार्ग को देख लिया है ।[1] रुद्र उग्रस्वभाव वाला देव माना गया है । वह थोडी भी च्युति होने पर क्रुद्ध हो जाता है । ऋषि दो मन्त्रो द्वारा रुद्र की स्तुति करते हुए कहता है – हे रुद्र! आप हममे से न तो वृद्ध, न बालक, न युवक, न गर्भस्थ भ्रूण, न पिता, न माता तथा न तो हमारे प्रिय शरीरो को ही हिसित करे । हे रुद्र ! आप हमारे पौत्र तथा इनके अतिरिक्त अन्य मनुष्यो, गाय एव अश्वो को भी हिसित न करे । आप क्रुद्ध होकर हमारे वीरो को मत मारे । हम सदैव हविष्य से युक्त होकर आपको पुकारते है ।[3] इन मन्त्रो से यह ज्ञात होता है कि वैदिक ऋषि प्राणिमात्र को भी अहिसित रखना चाहते थे । जब उनकी हिसा कोई नही करेगा, तो स्वभावत कोई भी प्राणी हिंस्र कार्यों मे लिप्त नही होगा । ऋषियो ने देवताओ से हिसको को दण्ड देने की प्रार्थनाएँ भी की है । एक मन्त्र मे अग्नि से, पापो से बचाने तथा हिंसको को तप्त तेज से जलाने की प्रार्थना की गई है ।[4] इसी प्रकार एक अन्य मन्त्र मे सोम देवता से हिसक के विनाश हेतु प्रार्थना की गई है ।[5]

परवर्ती सस्कृत साहित्य मे हमे जो भी अहिसा के आचरण-सम्बन्धी वाक्य मिलते है, उन सबके मूल मे ऋग्वेद की अहिसा–भावना ही निहित है । यहाँ तक कि वेदो को न मानने वाले महावीर तथा बुद्ध ने भी सम्भवत ऋग्वेद के आधार पर ही अहिसा की सर्वोच्च प्रतिष्ठा की है ।

(स) एकता एव लोककल्याण – ऋग्वेद की शिक्षा सङ्कीर्णता से हटकर व्यापकता एव विच्छेद से परे एकता के रूप मे है । एकता की उदात्त भावना के दर्शन हमे ऋग्वेद के अन्तिम

---

1 प्र मे पन्था देवयाना अदृश्रन्नमर्धन्तो वसुभिरिष्कृतास । ऋग्वेद 7 76 2

2 ऋग्वेद 2.33 4

3 मा नो महान्तमुत मा नो अर्भक मा न उक्षन्तमुत मा न उक्षितम् ।
मा नो वधी पितर मोत मातर मा न प्रियास्तन्वो रुद्र रीरिष ।
मा नस्तोके तनये मा न आयौ मा नो गोषु मा नो अश्वेषु रीरिष ।
वीरान्मा नो रुद्र भामितो वधीर्हविष्मन्त सदमित्त्वा हवामहे ।। ऋग्वेद 1 114 7–8

4 ऋग्वेद 7 15 13

5 ऋग्वेद 9 4 3

सूक्त मे मिलते है जिसमे ऋषि का कथन है – हम सभी लोग साथ–साथ चले, साथ–साथ बोले तथा सबके मन की बातो को जाने, जिस प्रकार देवता एक होकर अपना यज्ञ भाग ग्रहण करते है ।[1] इस मन्त्र मे एकता की प्रेरणा देवो से ली गई है । सबके मन की बातो को जानने के बाद अन्तरङ्गता के कारण वैमत्य होने का प्रश्न ही नही उठता । इस सामनस्य सूक्त का अगला मन्त्र भी परामर्शों, समितियो, मन तथा चिन्तन के साम्य को द्योतित करता है ।[2] ऋग्वेद की अन्तिम ऋचा मे भी ऋषि ने इस प्रकार प्रार्थना की है – तुम्हारी आकूति अर्थात् चित्तवृत्ति या अभिप्राय एक समान हो । तुम्हारे हृदय एक समान हो तथा तुम्हारे मन भी समान हो, जिससे तुम्हारे सारे कार्य शोभन ढग से चलते रहे ।[3] ऋषि द्वारा बार–बार मन को एक समान होने के लिए कहने से यह ध्वनित होता है कि एकता के लिए मन का एक होना परमावश्यक है । "वसुधैव कुटुम्बकम्" की भावना के बीज हमे इन्ही मन्त्रो मे दृष्टिगोचर होते है । ऋषियो ने देवताओ को सबका मित्र माना है । एक मन्त्र मे ऋषि ने अग्नि को मानवमात्र का बन्धु, मित्र, प्रिय एव सखाओ के लिए अत्यन्त प्रिय कहा है ।[4] एक अन्य सुप्रसिद्ध मन्त्र मे द्युलोक को बन्धु कहा गया है ।[5] एक अन्य मन्त्र मे देवताओ की मित्रता प्राप्त करने-हेतु प्रार्थना की गई है ।[6] एक स्थल पर अग्नि को उसी प्रकार कल्याणकारी बनने के लिए कहा गया है, जैसे मित्र कल्याण करता है ।[7] इसी प्रकार सोम से भी कहा गया है – तुम वैसे ही पथ प्रदर्शक बनो, जिस प्रकार एक मित्र अपने मित्र को सही मार्ग दिखाता है ।[8] एक मन्त्र मे अग्नि से भी कहा गया है – हे अग्ने । तुम हमारे प्रति ठीक वैसे ही उत्तम मन वाले या अभीष्ट

---

1 स गच्छध्व स वदध्व स वो मनासि जानताम् ।
देवा भाग यथा पूर्वे सजानाना उपासते ।। ऋग्वेद 10 191 2

2 समानो मन्त्र समिति समानी समान मन सहचित्तमेषाम् । ऋग्वेद 10 191 3

3 समानी व आकूति समाना हृदयानि व ।
समानमस्तु वो मनो यथा व सुसहासति ।। वही, 10 191 4

4 ऋग्वेद 1 75 4.

5 ऋग्वेद 1 164 33

6 देवाना सख्यमुप सेदिमा वयम् । ऋग्वेद 1 89 2

7 ऋग्वेद 1 58.6

8 सखेव सख्ये गातुवित्तमो भव । ऋग्वेद 9 104 5

मन वाले बनो, जैसे मित्र, मित्र के लिए होता है ।[1] भारतीय मनीषियो ने विचारपूर्वक मित्र के लिए "सुहृद्" शब्द का प्रयोग किया है । इस शब्द से "अच्छा मन" और "हृदय" दोनो ही अर्थ सङ्गत होते है । उक्त सभी गुणो को एकत्र करने पर मित्र का आदर्श स्वरूप हमारे सम्मुख उपस्थित होता है ।

ऋग्वेद मे केवल मित्र बनाने पर ही बल नही दिया गया है, बल्कि पूर्व मित्रो से सदैव सम्बन्ध बनाए रखने की भावना के भी दर्शन होते है । एक मन्त्र मे मित्र का परित्याग करने वाले व्यक्ति की कटु आलोचना की गई है ।[2] अच्छा मित्र समय पडने पर अपने मित्र की सहायता करता है । इसके विपरीत आचरण करने वाले मित्र की निन्दा करते हुए ऋग्वेद मे कहा गया है – जो मनुष्य सदा साथ रहने वाले तथा सहायतार्थ आए हुए मित्र को अन्नादि नही देता है वह सखा कहलाने का अधिकारी नही है । ऐसे मित्र को छोड देना चाहिए ।[3] उक्त सभी मन्त्रो मे मैत्री को अत्यावश्यक बताते हुए आदर्श मित्र की विशेषताओ को निरूपित किया गया है, साथ ही मित्र बने हुए विरुद्ध आचरणकरने वाले व्यक्ति से दूर रहने की बात भी कही गई है ।

विश्व बन्धुत्व तथा मानवमात्र के कल्याण की कामना वैदिक साहित्य की अनुपम देन है । वैदिक साहित्य मे पाश्चात्त्य देशो की सङ्कीर्णता एव एकाङ्गिकता नही है । इसका प्रमुख कारण यह है कि भारतीय मनीषा कभी–भी देश–काल की सीमाओ मे सङ्कुचित होकर नही विचार करती है । यह सदैव उदात्तता का आश्रय ग्रहण करती रही है । प्राकृतिक उपादानो मे भी इसने सङ्कीर्णता नही देखी । सूर्य, पेड–पौधे, नदियाँ, पर्वत इत्यादि सबको समान रूप से लाभ प्रदान करते है । ऋषियो ने इन सभी तथ्यो का सूक्ष्म निरीक्षण किया तथा इनसे सबके कल्याण की प्रेरणा ग्रहण की । एक मन्त्र मे आया है कि नदियाँ अग्नि से अनुग्रहात्मिका बुद्धि (कल्याण-कारिणी बुद्धि) की याचना करती हुई पर्वत के पास से दूरदेश को प्रवाहित होती हैं ।[4] इसी प्रकार देवताओ द्वारा भी कल्याणबुद्धि की याचना करने का उल्लेख प्राप्त होता है ।[5] ऋषियो ने स्वय भी अग्नि से "प्रमति"

---

1 ऋग्वेद 3 18 1

2 यस्तित्याज सचिविदं सखाय न तस्य वाच्यपि भागो अस्ति ।
यदीं शृणोत्यलकं शृणोति न हि प्रवेद सुकृतस्य पन्थाम् ।। ऋग्वेद 10 71 6

3 न स सखा यो न ददाति सख्ये सचाभुवे सचमानाय पित्व । ऋग्वेद 10 117 4

4 परावतं सुमति भिक्षमाणा वि सिन्धव समया सस्रुरद्रिम् । ऋग्वेद 1 73 6

5. वही, 1 73.7

तथा "सुमति" की याचना की है । सायण ने "प्रमति" का अर्थ "परहितकरणसमर्थ बुद्धि" तथा "सुमति" का अर्थ "शोभन बुद्धि" किया है ।[1] मन्त्र मे आए 'विश्वजन्याम्" पद से यह ज्ञात होता है कि ऋषि सभी का कल्याण चाहते थे । ऋग्वेद मे ही एक व्यक्ति द्वारा दूसरे की रक्षा करने की बात कही गई है ।[2]

ऋग्वेद मे न केवल मानवमात्र अपितु प्राणिमात्र की रक्षा एव कल्याण की कामना की गई है। एक मन्त्र मे द्विपाद् एव चतुष्पाद् प्राणियो के हित की कामना की गई है ।[3] अन्य मन्त्र मे भी द्विपाद् तथा चतुष्पाद् के कल्याण के अतिरिक्त नैरुज्य की भी कामना की गई है ।[4] कुछ अन्य मन्त्रो मे भी अदिति[5] तथा सोम[6] से पशुओ की दिन–रात रक्षा करने की प्रार्थनाएँ की गई है । एक अन्य मन्त्र मे भी देवताओ से द्विपाद् तथा चतुष्पाद् सभी प्राणियो के लिए सुख प्रदान करने की याचना की गई है ।[7]

इस प्रकार यह प्रतीत होता है कि ऋग्वेद की स्तुतियो मे समष्टि की भावना सर्वत्र विद्यमान है । ऋषिगण व्यष्टि के कल्याणार्थ देवताओ से अनुनय नही करते, अपितु वे समष्टि के लिए, प्राणिमात्र के लिए शुभ चाहते है । उनकी प्रार्थनाएँ व्यक्ति और समाज से ऊपर उठकर सम्पूर्ण विश्व के सुख तथा समृद्धि और कल्याण की भावना से अनुप्राणित है । उनका आदर्श "बहुजनहिताय, बहुजन सुखाय" न होकर "सर्वे भवन्तु सुखिन सर्वे सन्तु निरामया । 'सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद्दु खभाग्भवेत्" है ।

---

1 तामस्मभ्य प्रमति जातवेदो वसो रास्व सुमति विश्वजन्याम् ।
ऋग्वेद 3 57 6, द्रष्टव्य – सायण-भाष्य

2 पुमान्पुमास परिपातु विश्वत । ऋग्वेद 6 75 14

3 श नो भव द्विपदे श चतुष्पदे । ऋग्वेद 7 54 1

4 ऋग्वेद 1 114 1

5 ऋग्वेद 8 18 6

6 ऋग्वेद 10 25 6

7 अस्माक देवा उभयाय जन्मने शर्म यच्छत द्विपदे चतुष्पदे । ऋग्वेद 10 37 11

इस अध्याय मे किये गए विवेचन से यह स्पष्टत परिलक्षित होता है कि यद्यपि ऋग्वेद शुद्ध दर्शन का ग्रन्थ नही है, तथापि परवर्त्ती दर्शन–परम्परा मे आने वाले प्राय सभी तत्त्व बीजरूप मे उसमे विद्यमान है । उन्ही बीजो का पल्लवन आगे चलकर शास्त्रज्ञो ने किया है । इस प्रकार गवेषणा करने पर हमे ऋग्वेद मे आधुनिक दर्शन का परिनिष्ठित रूप भी दिखाई देता है ।

अध्याय – 4

"अस्यवामीय सूक्त" (ऋग्वेद 1.164) एवं उसका तात्विक विमर्श

(क) सूक्त का परिचय

(ख) सूक्त की दार्शनिकता

(ग) सूक्तस्थ मन्त्रो की परस्पर सङ्गति

(घ) सूक्त मे विद्यमान विभिन्न तत्त्वो की समीक्षा

(1) प्रथम मन्त्रगत भ्रातृत्रय-निरुपण
(2) रथ-निरूपण
(3) प्रथम कारण की जिज्ञासा
(4) कवियो द्वारा देव-स्थान-निरुपण
(5) अजतत्त्व
(6) माता, पिता और सृष्टि
(7) तत्त्वज्ञ-निरुपण
(8) "गो" तथा "वत्स" की अवधारणा
(9) सुपर्णतत्त्व
(10) काव्यतत्त्व
(11) जीवतत्त्व
(12) यज्ञ की अवधारणा
(13) वाणी का स्वरूप

(क) **सूक्त का परिचय –**

ऋग्वेद का "अस्यवामीय सूक्त" अपने आकार, विषयवस्तु तथा गम्भीर रहस्यात्मकता के लिए विश्रुत है । "अस्य वामस्य", इन पदो से प्रारम्भ होने के कारण इसे "अस्यवामीय" कहते है । पूरे सूक्त मे बावन ऋचाएँ है ।[1] इसके ऋषि, उचथ्य के पुत्र दीर्घतमा है । ऋग्वेद के प्रथम मण्डल की सूक्त सख्या 140 से लेकर 164 तक के (कुल पच्चीस) सूक्त दीर्घतमा ऋषि के है । प्रकृत सूक्त प्रथम मण्डल का एक सौ चौसठवा तथा दीर्घतमा ऋषि का अन्तिम सूक्त है । यद्यपि ऋग्वेद का प्रथम मण्डल अपेक्षाकृत अर्वाचीन माना जाता है[2], तथापि डॉ कुन्हन राजा ने प्रबल तर्कों एव अनेक साक्ष्यो के आधार पर समग्र प्रथम मण्डल को, किञ्च प्रकृत सूक्त को प्राचीनतर सिद्ध किया है ।[3]

दीर्घतमा ऋषि के जन्म के सम्बन्ध मे एक कथा प्रसिद्ध है, जो इस सूक्त के आत्मानन्द-विरचित भाष्य के अन्त मे, सायण-भाष्य (ऋ 1 125 1 तथा 158 4) मे, कात्यायन की सर्वानुक्रमणी तथा बृहद्देवता (4 11) मे भी पाई जाती है। आत्मानन्द ने कथा को वृद्ध शौनक के नाम से उद्धृत किया है।[4]

---

1 सूक्त के मन्त्रो सहित उनका हिन्दी–भाषानुवाद परिशिष्ट "क" मे दिया गया है

2. उपाध्याय, बलदेव – वैदिक साहित्य एव सस्कृति, पृष्ठ 125

3 राजा, सी कुन्हन – अस्य वामस्य हिम, भूमिका पृष्ठ 17 से 21 तक तथा 25

4 उचथ्यदीर्घतमसौ जप्येते स्वापनुत्तये ।
तेजस्वी ब्रह्मवर्चस्वी दिव्यधीर्दु सहो मुनि ।।
अङ्गिरा ब्राह्मणस्तस्मादुचथ्यो ममतापति ।
तस्मादधीतवेदादीननुज्ञातो बृहस्पति ।।
रिरसुर्ममता ता नो लेभे गुरुसुरक्षिताम् ।
उचथ्य कारयन् यज्ञ जगाम प्रियवर्मण ।।
लब्धावकाशस्ता रन्त्युमारेभेऽथ बृहस्पति ।
हृत्कोणोदरसस्थोऽपि मुनीश क्षितिमाप स ।।
रेतो यतोऽत्र सङ्कीर्ण निन्दितो गुरुरब्रवीत् ।
जात्यन्धो भव दुष्ट त्वमित्युक्त्वा तपसे गत ।।
पिता ददौ वर तस्मै ज्ञानचक्षु शुचिर्भव ।
अथोपनीतमात्रोऽर्थ चक्रे दीर्घतमा दिवा ।।
स्त्रीगन्धधायको यक्ष्मदायकोऽनिष्ट योषिति ।
एवमादि दिवा जात रात्रौ हरति सूक्तत ।।
उद्विग्नैर्मुनिभि सोऽथ मञ्जूषाया प्रवेशित ।
मञ्जूषाया विपाशाया क्षिप्त्वा नद्या प्रवाहित ।।
प्रतिक्षिप्तास्ततोऽङ्गेन गृहीता स्यान्नृपेण सा ।
त दीर्घतमस ज्ञात्वा दत्ता भार्याऽथ च स्वयम् ।।
अजीजनत् सुतानस्य दास्यामुशिजि चात्मने ।
पुत्रमुत्पाद्य कक्षीवत्सज्ञ गोधर्ममाचरत् ।। ऋ 1 164, आत्मानन्दभाष्य का अन्तिम अश.

कथा के अनुसार उचथ्य के गर्भस्थ पुत्र को बृहस्पति ने जन्मान्ध होने का शाप दिया था । इसी से ऋषि के "दीर्घतमा " नाम की चरितार्थता सिद्ध होती है । नाम का शाब्दिक अर्थ – दीर्घ तमो यस्य स , अर्थात् "गहन अन्धकार वाला" किया जा सकता है । ऋषि के नाम अथवा उनके जीवन वृत्त के सम्बन्ध मे चाहे जो भी मतमतान्तर प्रचलित हो, उनके सूक्तो की उत्कृष्टता प्रत्यक्षत दृष्टिगोचर होती है ।

सूक्त के प्रथम मन्त्र से लेकर इकतालीसवे मन्त्र तक के देवता, "विश्वेदेवा " है । पूरे ऋग्वेद के अध्ययन के आधार पर मन्त्रो के वैश्वदेवत्व के तीन आधार प्रतीत होते है । प्रथम – जब मन्त्र मे देवताओ के सङ्घीय वर्ग को सम्बोधित किया गया हो, द्वितीय – जब अलग–अलग देवताओ को साथ मे आहूत किया गया हो और तृतीय – जब देवताओ का स्वरूप स्पष्ट न हो । प्रस्तुत सूक्त के प्रारम्भिक इकतालीस मन्त्रो के देवताओ का स्वरूप स्पष्ट नही है अत "विश्वेदेवा " को इनके देवता के रूप मे प्रतिष्ठित किया गया है । बयालीसवे मन्त्र के प्रथम अर्धर्च की "वाक्" एव द्वितीय की "आप " देवता है । इसी प्रकार तैतालीसवे मन्त्र के भी प्रथम अर्धर्च के देवता "शकधूम" तथा द्वितीय के "सोम" है । चौवालीसवे के अग्नि, सूर्य और वायु, पैतालीसवे की वाक्, छियालीसवे तथा सैतालीसवे के सूर्य, अडतालीसवे के सवत्सरात्मा काल, उनचासवे की सरस्वती, पचासवे के साध्य, इक्यावनवे के सूर्य, पर्जन्य या अग्नि तथा बावनवें के देवता सरस्वान् या सूर्य है । छन्द की दृष्टि से बारहवाँ, पन्द्रहवा, तेईसवा, उन्तीसवा, छत्तीसवा और इकतालीसवा – ये छ मन्त्र जगती मे, बयालीसवा प्रस्तारपङ्क्ति मे, इक्यावनवाँ अनुष्टुप् मे तथा शेष सभी मन्त्र त्रिष्टुप् छन्द मे उपनिबद्ध है।

प्रस्तुत सूक्त धार्मिक दृष्टि से भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है । सायण ने अपने भाष्य मे शौनक द्वारा इसके विनियोग को उपस्थित करते हुए कहा है कि यदि कोई ब्राह्मण मोहवश चोरी भी कर ले, तो तीन रात्रि पर्यन्त उपवास करने के उपरान्त पवित्र होकर इस सूक्त का जप करने से शीघ्र ही वह पापमुक्त हो जाता है ।[1] आत्मानन्द ने विष्णुधर्मोत्तर पुराण को उद्धृत करते हुए बताया है कि पुष्कर नामक यक्ष ने दशरथ पुत्र श्रीराम को सभी धर्मों का उपदेश दिया । उन्होने ऋग्विधान, यजुर्विधान,

---

1 स्तेय कृत्वा द्विजो मोहात् त्रिरात्रोपोषित शुचि ।
सूक्त जप्त्वास्यवामीय क्षिप्र मुच्येत किल्विषात् ।।
ऋग्वेद 1 164 पर सायण-भाष्य की भूमिका

सामविधान तथा अथर्वविधान को भी बताया । कुछ सूक्तो का सड्घात और कल्प भी बताया । उन सबमे अस्यवामीय कल्प को महान् प्रतिपादित किया ।[1] आत्मानन्द ने वृद्ध पराशर के मुख से भी सूक्त की महत्ता प्रतिपादित करते हुए बताया है कि अस्यवामीय सूक्त का जप करने से महान् पाप नष्ट हो जाता है । यही नही, ब्रह्महत्यारे को भी पवित्र होने के लिए अस्यवामीय सूक्त का जप करना चाहिए । यदि इस सूक्त के अर्थ पर विचार किया जाय, तो नि सन्देह मनुष्य जीवन्मुक्त हो जाता है।[2] इस प्रकार अस्यवामीय सूक्त का सर्वविध महत्त्व प्रकट होता है ।

(ख) सूक्त की दार्शनिकता –

ऋग्वेद का अस्यवामीय सूक्त दार्शनिक दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है । यही कारण है कि आत्मानन्द ने इसकी आध्यात्मिक व्याख्या प्रसतुत की है । उनके अनुसार स्कन्दस्वामी, उद्गीथ, भास्कर आदि विद्वानो ने शौनक, वेदमित्र, बृहद्देवताकार, अनुक्रमणिकाकार तथा विष्णुधर्मोत्तर के मन्तव्यो पर ध्यान न देते हुए सूक्त की व्याख्या की है । उन्होने स्कन्द इत्यादि की व्याख्या को आधियाज्ञिक तथा निरुक्तानुसारी व्याख्या को आधिदैविक मानते हुए आध्यात्मिक विषय वाली शौनक इत्यादि की पद्धति का आश्रय ग्रहण करते हुए सूक्त की आध्यात्मिक व्याख्या प्रस्तुत की है ।[3] यहाँ

---

1 अस्य भाष्यस्य मूल विष्णुधर्मोत्तरे यत्र पुष्करनामा यक्ष श्रीराम प्रति सर्वधर्मानुक्तवान् । तत्र च ऋग्विधान यजुर्विधान सामविधानमथर्वविधान च उक्तवान् पुष्कर । तत्र च कतिपयाना सूक्ताना सघात कल्पश्चोक्त । तत्रापि अस्यवामीय-कल्पो महान् अध्यात्मविषयत्वात् ।
ऋग्वेद 1 164 के अन्त मे आत्मानन्द-भाष्य का अश

2 हविष्यान्त पौरुष च न तमाह इतीति च ।
अस्यवामीयक जप्त्वा महदेनो व्यपोहति ।
अस्यवामीयसूक्तं च ब्रह्महा शुचये जपेत् ।
विचारयेत्तदर्थ चेज्जीवन्मुक्तो न सशय ।। वही

3 यद्यपीह स्कन्दभाष्यादिषु उद्गीथभास्करादिभिश्च शौनक च वेदमित्र च बृहद्देवताकार च अनुक्रमणिकाकार च विष्णुधर्मोत्तर चानादृत्य सूक्तव्याख्या कृता तथापि वयमत्र स्कन्दादिव्याख्या अधियज्ञविषया एव क्वचित्तु निरुक्तानुसारादधिदैवतविषया एवेति निश्चित्य क्वचिदध्यात्मविषया शौनकरीतिमाश्रित्य अध्यात्म व्याख्यास्याम ।
वही, आत्मानन्दभाष्य का प्रारम्भिक अश

तक कि उन्होने "आत्मा" या परमात्मा को इस सूक्त का देवता माना है ।[1] अनुक्रमणिका मे सूक्त को "अल्पस्तव" कहा गया है ।[2] सामान्यत ऋग्वेद के मन्त्रो मे स्तुति का ही बाहुल्य पाया जाता है । इसीलिए सायण ने सूक्त के अल्पस्तवत्व का उपपादन करते हुए कहा है कि इस सूक्त मे स्तुत्यो का आधिक्य तथा स्तुतिभाग की न्यूनता होने से यह सूक्त "अल्पस्तव" है ।[3] आत्मानन्द ने दार्शनिक अर्थ लेते हुए कहा है कि अल्प अर्थात् सूक्ष्म ब्रह्म का प्रतिपादन होने से यह सूक्त अल्पस्तव है ।[4]

सर्वानुक्रमणी में कहा गया है कि प्राय इस सूक्त मे सशय उपस्थित किया गया है, इसके अनन्तर प्रश्न किया गया है तथा उत्तर भी प्रस्तुत किया गया है ।[5] दार्शनिक दृष्टि से इन तीनो तत्त्वो का महत्त्वपूर्ण स्थान है । हम देखते है कि ऋषि ने सूक्त के छठे मन्त्र मे ही सशय उपस्थापित किया है । इसी प्रकार चौथे, पाँचवे तथा चौतीसवे इत्यादि मन्त्रो मे प्रश्न किया गया है और पैतीसवे मन्त्र मे तथा अन्यत्र भी समाधान प्रस्तुत किया गया है ।

सर्वानुक्रमणी के अनुसार ही प्रस्तुत सूक्त मे ज्ञान, मोक्ष और अक्षर की प्रशसा की गई है ।[6] सायण ने बत्तीसवे मन्त्र को ज्ञानप्रशसापरक, इकत्तीसवे को मोक्षप्रशसात्मक तथा बीसवे मन्त्र को अक्षरब्रह्म की प्रशसा का आधायक बताया है ।[7] आत्मानन्द ने ज्ञान के साधन को "ज्ञान", "मोक्ष" को परमात्मरूप तथा "अक्षर" को जीवात्मस्वरूप मानते हुए "प्रशसा" का तात्पर्य प्रतिपादन से लिया है । उन्होने एक वैकल्पिक अर्थ प्रस्तुत करते हुए ज्ञान से मोक्ष तथा अक्षरत्वप्रतिपादन निष्पन्न किया है और अक्षर को ब्रह्म, जीव तथा अविद्या तीनो का अभिधायक माना है । उनके अनुसार जो व्याप्त हो,

---

1 अस्यवामस्य – इति द्विपञ्चाशन्मन्त्रात्मकमिद सूक्त दैर्घतमस आत्मदैवतम् ॰। एव च देवता परमात्मैव सूक्तस्येत्युक्त भवती । ऋग्वेद 1 164 आत्मानन्दभाष्य का प्रारम्भिक अश

2 अस्य द्विपञ्चाशदल्पस्तव त्वेतत् । कात्यायन – सर्वानुक्रमणी, ऋग्वेद 1 164

3 अत्र स्तुत्यबहुत्वेन स्तुतिभागस्याल्पीयस्त्वादिद सूक्तमल्पस्तवम् । न सूक्तान्तरवद् बहुस्तवम् इदमेव वैलक्षण्य तुशब्देन द्योत्यते । ऋग्वेद 1 164, सायण-भाष्य की भूमिका

4 अल्पस्य सूक्ष्मस्य ब्रह्मण. प्रतिपादनादत्र इत्यर्थ । वही, आत्मानन्दभाष्य-भूमिका

5 सशयोत्थापनप्रश्नप्रतिवाक्यान्यत्र प्रायेण । वही, सर्वानुक्रमणी

6 ज्ञानमोक्षाक्षरप्रशसा च । वही.

7 य ई चकार – इत्यादिना ज्ञानप्रशसा प्रतिपाद्यते । अपश्य गोपाम् – इत्यादिना ब्रह्मसाक्षात्कार–रूपस्य प्रशसा । न क्षरतीत्यक्षर ब्रह्म । द्वा सुपर्णा – इत्यादिना तस्य प्रशसा । वही, सायण–भाष्य की भूमिका

वह अक्षर, ब्रह्म है, जो भोग करे, वह जीवात्मा है तथा जो ज्ञान के बिना नष्ट न हो, वह अविद्या है ।[1] इस प्रकार सूक्त का विनियोग ही इसकी दार्शनिकता का प्रतिपादन करता है ।

वस्तुत ऋषि दीर्घतमा का यह सूक्त दार्शनिकता से ओतप्रोत है । उन्होने प्रथम मण्डल मे कुल 25 सूक्तो के दर्शन किए है ।[2] इस शृङ्खला मे "अस्यवामीय सूक्त" अन्तिम है । ऐसा प्रतीत होता है कि जो विचार गत चौबीस सूक्तो मे प्रकट नही हो पाए, वे इसमे दर्शन की चरम परिणति के रूप मे उपस्थित हो गए । यही कारण है कि सूक्त के अधिकाश मन्त्रो को समझ पाना नितान्त दुष्कर कार्य है । सम्भवत इसीलिए कुन्हन राजा ने पूरे सूक्त को 'विश्व की पहेली" की सञ्ज्ञा दी है ।[3] इस सूक्त के अध्ययन से हमे वैदिक संस्कृति के मात्र बाह्य पक्ष का ही पता नही चलता है, बल्कि इससे उसका आन्तरिक पक्ष – किवा वैदिक सास्कृतिक जीवन का सारतत्त्व ज्ञात हो जाता है । इससे एक बात और यह ज्ञात होती है कि तत्कालीन समाज, सृष्टि की उत्पत्ति-सम्बन्धी विभिन्न गुत्थियो से पूर्णत अभिज्ञ था । यदि ऐसा नही होता, तो ऋषि ने इस प्रकार की प्रतीकात्मक भाषा का प्रयोग नही किया होता, जिसे आज भी समझना दुष्कर है । यह सूक्त किसी दार्शनिक पद्धति के विकास की उपज न होकर तत्कालीन समाज मे प्रसूत मौलिक चिन्तन का प्रस्तुतीकरण है । प्रस्तुत सूक्त मे हमे न तो मात्र दर्शन के कुछ पूर्वाभास या पूर्वानुमान दृष्टिगत होते है और न अज्ञानान्धकार मे दार्शनिक चिन्तन के कुछ विकीर्ण बिन्दु ही, बल्कि इसमे हमे वैदिक काल के शुद्ध दर्शन के अल्पावशेष प्राप्त होते है, जो किसी भी दृष्टि से पूर्ण, गम्भीर, स्पष्ट और सुनिश्चित है । ऋषि

---

1 ज्ञायते येन तज्ज्ञान ज्ञानसाधनम् । मोक्षो निरवद्य परमात्मरूपम् । अक्षरस्य जीवात्मस्वरूप-स्याक्षरमित्याख्या । तेषा प्रशसा प्रतिपादनम् । यद्वा ज्ञानेन मोक्ष अक्षरत्व-प्रतिपादनम् । अक्षरशब्देन ब्रह्मणो जीवस्याविद्यायाश्चाभिधानमुक्तम् । अक्षते व्याप्नोतीत्यक्षर ब्रह्म । अश्नातीति जीवात्मा । न क्षरतीत्यविद्या ज्ञानादृते न क्षरति यत ।
वही, आत्मानन्दभाष्य की भूमिका

2 ऋग्वेद 1 140 से 1 164 तक

3 "The Riddle of the Universe."
राजा, सी कुन्हन – "अस्यवामस्य हिम" नामक पुस्तक का वैकल्पिक नाम

दीर्घतमा ने अनेक विषयो के अतिरिक्त इस सूक्त मे जगत् तथा इसकी उत्पत्ति, वाक् का स्वरूप तथा इसके रहस्य, आत्मा–परमात्मा सदृश विषयो को भलीभाँति निरूपित किया है । ये सभी विषय दर्शन की मौलिक समस्याएँ है । ऋग्वेद के इसी सूक्त मे हमे वैदिक दर्शन का वह मूल प्राप्त होता है, जिसके अनुसार तीन तत्त्व स्वीकार किये गए है – जीव, परमात्मा और जगत् । ऋषि ने दो पक्षियो के रूपक द्वारा इस तथ्य को स्पष्ट किया है । दोनो पक्षी एक ही वृक्ष पर बैठे है । उनमे से एक अर्थात् जीवात्मा अपने कर्मो के अनुसार फल प्राप्त करके उसका भक्षण करता है । ज्ञातव्य है कि वह अपने कर्मों के फल को स्वादिष्ट मानते हुए ग्रहण करता है । तात्पर्य यह है कि वह ससार मे इतना लिप्त हो गया है कि उसे अपने बद्ध होने तक का ज्ञान नही है । वही दूसरा पक्षी अर्थात् परमात्मा फल का भक्षण न करते हुए मात्र निरीक्षण करता है । मन्त्र मे आए "वृक्ष" पद द्वारा ऋषि ने "जगत्" की ओर सङ्केत किया है ।[1] आगे चलकर इसी मन्त्र के आधार पर उपनिषत्साहित्य मे पुष्कल विचार–मन्थन किया गया है । यह मन्त्र अपने मूल रूप मे ही अथर्ववेद तथा दो उपनिषदो मे गृहीत है ।[2]

सूक्त के चौतीसवे मन्त्र मे ऋषि ने पृथ्वी की पराकाष्ठा, समस्त भूतो की नाभि, आदित्य का कारण तथा वाणी का परम स्थान जानने की इच्छा व्यक्त की है । इसके उत्तरस्वरूप पैतीसवे मन्त्र मे वेदी को पृथ्वी का परमस्थान, यज्ञ को भूतो की नाभि, सोम को आदित्य का रसात्मक कारण तथा ब्रह्मा को वाणी का उत्कृष्ट स्थान बताया है । सूक्त के तीसवे तथा अडतीसवे मन्त्रो मे जीव की स्थिति स्पष्ट की गई है । इन मन्त्रो मे यह बताया गया है कि शरीर के नष्ट हो जाने के बाद जीवात्मा अपनी स्वधा अर्थात् धर्माधर्मसस्कारो के द्वारा विचरण करता है । इनमे यह भी बताया गया है कि अमरणधर्मा जीवात्मा का सम्बन्ध लोक मे मरणधर्मा शरीर से है । इससे आत्मा की अमरता का प्रतिपादन होता है, साथ ही यह भी पता चलता है कि वैदिक ऋषि की दृष्टि मे जीव अपने कर्मों के द्वारा ही उन्नत या निम्न स्थान प्राप्त करता है । उन्तालीसवे मन्त्र मे जीवात्मा के पारमार्थिक स्वरूप

---

1 ऋग्वेद 1 164 20

2 (क) अथर्ववेद – 9 9·20

(ख) मुण्डकोपनिषद् 3 1·1

(ग) श्वेताश्वतरोपनिषद् 4 6·

को बताते हुए उसे न जानने वाले के लिए वेदज्ञान की नि सारता प्रतिपादित की गई है । इस मन्त्र द्वारा यह भी सिद्ध होता है कि वेदो का प्रतिपाद्य ब्रह्मज्ञान ही है । सूक्त के इकतालीसवे मन्त्र मे प्रतिपादित "गौरी वाक्" का स्वरूप ऋषि की परिपक्व दार्शनिक वृत्ति का परिचायक है । तैतालीसवे मन्त्र द्वारा स्पष्ट रूप से अनुमान प्रमाण का निर्देश प्राप्त होता है । इसमे धूम के दर्शन द्वारा अग्नि के अनुमान की चर्चा की गई है ।

सूक्त का पैतालीसवॉं मन्त्र वाणी के तात्त्विक स्वरूप को उद्घाटित करता है । व्याकरण-दर्शन के अनुसार वाणी के चार रूप प्रतिपादित किए गए है – परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी ।[1] "परा" वाणी का स्थान मूलाधार है । वहॉं से यह प्रकट होकर हृदय मे पहुँचती है । हृदयस्थल पर पहुँचने के पश्चात् उसका नाम "पश्यन्ती" हो जाता है । वह वाणी हृदय से बुद्धि मे प्रवेश करने के पश्चात् "मध्यमा" कही जाती है । बुद्धि से निकलकर वाणी कण्ठ और मुख मे प्रकट होती है । इसे ही "वैखरी" कहते है । इन चारो प्रकार की वाणियो मे परा, पश्यन्ती तथा मध्यमा, गुहा अर्थात् गुप्त स्थानो पर छिपी हुई हैं, अत इन्हे मनीषी योगिजन ही जान सकते है । चौथी कण्ठस्थानीया वैखरी वाणी को सभी मनुष्य जानते तथा बोलते है । प्रस्तुत मन्त्र भी परवर्ती उपनिषत्साहित्य मे विवेचित है तथा अपनी दार्शनिकता का प्रमाण प्रस्तुत करता है ।[2]

प्रस्तुत सूक्त की दार्शनिकता का चरम निदर्शन हमे उस मन्त्र मे प्राप्त होता है, जिसमे ऋग्वेद की बहुदेववादी प्रवृत्ति का प्रत्याख्यान किया गया है । वस्तुत उसमे यह प्रतिपादित किया गया है कि देवता सख्या मे चाहे जितने भी क्यो न हो, उनका देवत्व या उनमे विद्यमान आन्तरिक शक्ति एक ही है । इस मन्त्र की सबसे बडी विशेषता यह है कि इसमे मूल तत्त्व को नपुसकलिङ्ग मे अभिव्यक्त किया गया है । मन्त्र का तीसरा चरण इतना प्रसिद्ध है कि प्राय उच्च शिक्षा प्राप्त और अवेदज्ञ लोगो के मुख द्वारा भी श्रुतिगोचर होता है ।[3] निश्चित रूप से यह मन्त्र अद्वैतवेदान्त का जनक है । इसी प्रकार यदि गहन अध्ययन किया जाय, तो ज्ञात होता है कि सूक्त के प्रत्येक मन्त्र मे

---

1 द्रष्टव्य – वाक्यपदीय – 1 144 तथा परमलघुमञ्जूषा – पृष्ठ 23

2 जैमिनीयोपनिषद् – 1 7 4 तथा 1 40 1

3 एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति । ऋग्वेद 1 164 46

दार्शनिकता भरी हुई है । इसके अतिरिक्त ऋषि ने अनेक ऐसे शब्दो का प्रयोग किया है, जिनका अर्थ जानना नितान्त दुष्कर है । उन प्रतीकात्मक शब्दो का कथ्य विषय ज्ञात होने पर सम्भव है, उस समय प्रचलित किन्ही और दार्शनिक प्रवृत्तियो तथा मान्यताओ के विषय मे ज्ञान प्राप्त हो सके ।

(ग) सूक्तस्थ मन्त्रो की परस्पर सङ्गति –

सामान्यत ऋग्वेद के सूक्तो मे स्तुतियो की बहुलता पाई जाती है । प्रकृत सूक्त इस दृष्टि से भिन्न है । इसमे स्तुतिभाग स्वल्प है । इसके अतिरिक्त इस सूक्त मे बावन मन्त्र उपनिबद्ध है । यदि ये स्तुतिपरक होते तो इनकी परस्पर सङ्गति बैठाने मे कोई वैशिष्ट्य नही होता, किन्तु ऐसा न होने से इनके प्रतिपाद्य के विषय मे जिज्ञासा होना स्वाभाविक है । स्थूल रूप से देखने पर सभी मन्त्र असम्पृक्त या छिट–फुट विकीर्ण प्रतीत होते है, किन्तु यदि सूक्ष्म दृष्टि से विचार किया जाय, तो इनमे परस्पर तारतम्य, सामञ्जस्य और ऐक्य प्रतिपादित किया जा सकता है । देवताओं की दृष्टि से प्रथम इकतालीस ऋचाएँ "विश्वेदेवा" से सम्बद्ध है तथा शेष ग्यारह ऋचाओ का सम्बन्ध भिन्न–भिन्न देवताओ से है । ऐसा होने पर भी हमे प्रस्तुत सूक्त के प्रारम्भिक मन्त्र से लेकर अन्तिम मन्त्र तक वैचारिक तारतम्य दृष्टिगत होता है । ऋषि ने सूक्त मे उन तथ्यो और तत्त्वो का सम्यक् प्रतिपादन किया है, जो जनसाधारण के लिए सरलता पूर्वक बोधगम्य नही है । यद्यपि यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि ऋषि के काल मे सूक्त मे वर्णित तत्त्व सभी लोगो के लिए सरलता पूर्वक ग्राह्य रहे होगे, तभी उन्होने ऐसी भाषा और शब्दावली का प्रयोग किया है । वर्तमान समय मे तत्कालीन प्रतीको तथा पृष्ठभूमि के नष्ट हो जाने पर सूक्त के सम्पूर्ण स्वरूप तथा प्रतिपाद्य का निरूपण कर पाना सम्भव नही प्रतीत होता । सूक्त मे अनेक ऐसे शब्द तथा अभिव्यक्ति के माध्यम है, जिन्हे आज समझ पाना नितान्त दुष्कर है । इस दृष्टि से ऋषि द्वारा बार–बार प्रयोग मे लाई गई "तीन" तथा "सात" सख्याओ को लिया जा सकता है ।[1] इसी प्रकार "गो" तथा "वत्स" के स्वरूप को भी समझ पाना कठिन है, जिन्हे ऋषि ने अनेक स्थलो पर प्रयुक्त किया है ।[2] इनके अतिरिक्त सूक्त मे 'पिता" तथा "माता" का उल्लेख भी अनेक बार किया गया है, जिनका स्वरूप समझ पाना दुष्कर है ।[3] यही

---

1 द्रष्टव्य – ऋग्वेद 1 164 1, 2, 3, 5, 9, 11, 12, 24, 36, 44 तथा 48

2 द्रष्टव्य – वही, 3, 7, 9, 17, 26, 27, 28, 29 तथा 40

3 द्रष्टव्य – वही, 8, 9, 10 तथा 33

नही, सूक्त को समझने मे हमारे सम्मुख अन्य भी कठिनाइयाँ आती है । इन सभी कठिनाइयो के बाद भी सूक्त मे ही स्थित साक्ष्यो या सङ्केतो के आधार पर उक्त सभी स्थलो के प्रतिपाद्य को समझने का प्रयास किया जा सकता है ।

ऋषि ने सूक्त के प्रारम्भिक मन्त्र मे तीन भाइयो वाले पालक होता की चर्चा की है । अन्तिम मन्त्र मे "दिव्य सुपर्ण" की चर्चा की गई है, जो जल प्रदान करके सबको हर्षित करता है । सूक्ष्मता से विचार करने पर यह ज्ञात होता है कि सूक्त के प्रथम तथा अन्तिम मन्त्र मे उद्दिष्ट देवता एक ही है । ऋषि ने उसी देवता की पृष्ठभूमि मे सम्पूर्ण सूक्त को उपनिबद्ध किया है । प्रथम मन्त्र के प्रारम्भिक दो पद (अस्य वामस्य) सातवे मन्त्र मे उपलब्ध होते है, जिसमे पक्षी के "पद" को "निहित" बताया गया है । इस प्रकार प्रथम, सप्तम तथा द्विपञ्चाशत्तम मन्त्र एक ही विचार-शृङ्खला की रचना करते है । जिस प्रकार सातवे मन्त्र मे पक्षी के "पद" को "निहित" बताया गया है, उसी प्रकार अन्य स्थलो पर विभिन्न तत्त्वो को भी "निहित" कहा गया है । कई मन्त्रो मे "रथ" की उपमा दी गई है । तृतीय मन्त्र मे "गो" के "सात" नामो को रथ मे "निहित" बताया गया है । पञ्चम मन्त्र देवताओ के "पद" को "निहित" घोषित करता है, जबकि उन्तालीसवे मन्त्र मे देवताओ को ऋचाओ के सर्वोच्च स्थान पर प्रतिष्ठित बताया गया है । यहाँ तक कि उस पद या स्थान को न जानने वाले के लिए ऋचाओं का वैयर्थ्य प्रतिपादित किया गया है । इससे यह ध्वनित होता है कि देवताओ का "पद" या स्थान सर्वसाधारण के लिए सुविज्ञात न होकर "निहित" ही है । आगे चलकर पैतालीसवे मन्त्र मे वाणी के तीन स्वरूपो को भी गुफा मे "निहित" बताया गया है । इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि ऋषि दीर्घतमा परमतत्त्व को सर्वसुलभ नही मानते है ।

पूरे सूक्त मे "रथ" की कल्पना ऋषि को अभीष्ट प्रतीत होती है, क्योंकि प्रथम मन्त्र में "होता" की अवतरणिका के पश्चात् वह द्वितीय मन्त्र मे ही इसे निविष्ट करता है । रथ मे मात्र एक चक्र है । इससे सात घोडे जोडे गए है, जबकि सात नामो वाला एक ही अश्व उसे वहन करता है । सात अश्वो को सूर्य की सात किरणो के रूप मे स्वीकार किया जा सकता है । इसके अतिरिक्त अश्व के सात नामो को तृतीय मन्त्र मे निर्दिष्ट "गो" के सात नामो से पृथक् नही किया जा सकता है । द्वितीय मन्त्र मे आए सात अश्वो की "योजना" तृतीय मन्त्र के प्रारम्भ मे भी उपलब्ध है । इन दोनों मन्त्रो (द्वितीय तथा तृतीय) मे एक पार्थक्य यह है कि जहाँ द्वितीय मन्त्र में "रथ" को एक ही चक्र

वाला बताया गया है, वही तीसरे मन्त्र मे उसे सात चक्रो वाला कहा गया है । सूक्त की ग्यारहवी ऋचा मे चक्र को बारह तीलियो वाला प्रतिपादित करते हुए उसे द्युलोक तक चक्कर काटने वाला कहा गया है । इसके अतिरिक्त उसी मन्त्र मे सात सौ बीस युग्म पुत्रो की भी चर्चा आई है । ऐसा प्रतीत होता है कि बारह तीलियो का तात्पर्य सवत्सर के बारह महीनो तथा सात सौ बीस युग्म पुत्रो का सम्बन्ध एक वर्ष मे आने वाले तीन सौ साठ दिनो के साथ उतनी ही रात्रियो के योग से है । सूक्त के तेरहवे मन्त्र मे चक्र को पॉच तीलियो चाला बताते हुए उसमे सम्पूर्ण भुवनो को स्थित कहा गया है । सम्भव है – ऋषि का पॉच तीलियो से तात्पर्य, शरद् तथा हेमन्त को एक ऋतु मानते हुए शिशिर, वसन्त, ग्रीष्म और वर्षा का योग करके पॉच ऋतुओ से हो । इसके विपरीत बारहवे मन्त्र में चक्र को छ अरो वाला माना गया है । ये छ तीलियाँ तो स्पष्टत छ ऋतुएँ ही प्रतीत होती है । तेरहवे मन्त्र के समान ही चौदहवे मन्त्र मे भी सम्पूर्ण लोको को "चक्र" मे स्थित बताया गया है । इन सभी स्थलो पर "चक्र" का तात्पर्य सवत्सर ही प्रतीत होता है । इनमे एक यही वैषम्य दृष्टिगत होता है कि द्वितीय मन्त्र मे "रथ" को एक चक्रवाला, तीसरे मे सात चक्रो वाला, ग्यारहवे मे पुन एक चक्रवाला, बारहवे मे सात चक्रोवाला, तेरहवे मे एक चक्रवाला तथा चौदहवे मे पुनश्च एक चक्रवाला कहा गया है । इस सम्बन्ध मे ऋषि की वास्तविक दृष्टि ज्ञात नही हो पाती है, तथापि विषय का तारतम्य प्रत्यक्षत दृष्टिगोचर होता है ।

सूक्त के द्वितीय तथा तृतीय मन्त्र मे "रथ" की चर्चा आरम्भ करने के अनन्तर ऋषि दार्शनिकता की ओर उन्मुख होते हुए चतुर्थ मन्त्र मे उस व्यक्ति के बारे मे जिज्ञासा करता है, जिसने अस्थियुक्त को धारण करने वाले अस्थिरहित तत्त्व को उत्पन्न होते हुए देखा हो । इस मन्त्र द्वारा माता तथा सन्तान के स्वरूप का निर्देश निकाला जा सकता है । अस्थिरहित तत्त्व जगत् के मूल कारण के रूप मे प्रतिष्ठित है । स्त्रीलिङ्ग (अनस्या) मे होने के कारण उसे मातृतत्त्व के रूप मे प्रतिष्ठित किया जा सकता है । अस्थियुक्त तत्त्व को "ससार" माना जा सकता है तथा पुंलिङ्ग मे होने के कारण वह सन्तान या पुत्र है । पॉचवे तथा छठे मन्त्रो मे जिज्ञासा प्रकट की गई है । पॉचवे मन्त्र मे कवियो द्वारा सात तन्तुओं की सहायता से काव्य–गुम्फन की चर्चा की गई है । ये सात तन्तु निश्चित रूप से "वाक्" के सात स्वरूप है । छठे मन्त्र मे विद्वानो से अजन्मा, एकमात्र तत्त्व के बारे मे पूछा गया है । सातवे से लेकर दशवे तक चार मन्त्रो मे अन्य तत्त्वो के अतिरिक्त "गो" तथा "वत्स" का निरूपण किया गया है । ग्यारहवे से चौदहवे मन्त्र पर्यन्त "रथ" तथा उसके "चक्र"

और "तीलियों" की चर्चा आई है । पन्द्रहवे मन्त्र मे सात तत्त्वो के एक साथ उत्पन्न होने का प्रसड्ग आया है । इनमे से एक तत्त्व अकेले उत्पन्न हुआ तथा छ युग्म है । इसे भी सवत्सर -चक्र की ऋतुओ तथा अधिकमास से सम्बद्ध किया जा सकता है । प्रकृत मन्त्र की सात सख्या का सम्बन्ध दूसरे मन्त्र के सात नामो, तीसरे की सात बहनो तथा चौबीसवे मन्त्र के वाणी के सात स्वरूपो के साथ स्थापित किया जा सकता है ।

प्रकृत सूक्त के सोलहवे मन्त्र मे स्त्रियो को पुरुष के रूप मे अभिहित होने की बात की गई है । यह भी बताया गया है कि इसे ऑखवाला व्यक्ति ही समझ सकता है, अन्धा नही तथा इस तत्त्व को जानने वाला पिता का भी पिता हो जाता है । इसका सम्बन्ध चौथे मन्त्र मे स्त्रीलिड्ग मे वर्णित मूल कारण तथा पुलिड्ग मे निर्दिष्ट कार्यरूप जगत् के साथ स्थापित किया जा सकता है । साथ ही उन्तालीसवे मन्त्र मे आए, ऋचाओ के परमस्थान के साथ भी इसे सम्बद्ध किया जा सकता है, जिसमे तत्त्व को न जानने वाले के लिए ऋक् की व्यर्थता तथा ज्ञाता के लिए उत्तम स्थान प्राप्त करने का निर्देश किया गया है । मन्त्र सख्या सत्रह से लेकर उन्नीस तक "पर" एव "अवर" स्थानो का निरुपण किया गया है । उनमे नवीन एव प्राचीन तथ्यो का भी उल्लेख किया गया है । ऐसा प्रतीत होता है कि ऋषि पूर्व के मन्त्रो मे जिस परम तत्त्व की चर्चा करता आया है, प्रस्तुत मन्त्रो मे उसके निश्चित स्थान को निर्दिष्ट करने का प्रयास कर रहा हो । इन मन्त्रो मे कारण तथा कार्य के परस्पर सम्बन्ध की भी उद्भावना की जा सकती है ।

सूक्त का बीसवां मन्त्र तात्त्विक दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है । ऐसा प्रतीत होता है कि ऋषि ने प्रारम्भिक उन्नीस मन्त्रो में तत्त्वज्ञान हेतु परिनिष्ठित एव दिव्य दृष्टि की प्रशंसा करने के बाद बीसवे मे परम तत्त्व का तात्त्विक स्वरूप निरूपित किया है । इस मन्त्र मे यह बताया गया है कि सदा एक साथ रहने वाले मित्र भावापन्न दो सुन्दर पक्षी एक ही वृक्ष का आलिड्गन किए हुए है । उन दोनो मे से एक उस वृक्ष के स्वादिष्ट फल का भक्षण करता है तथा दूसरा उस फल को न खाते हुए केवल देखता है । यह मन्त्र जीवात्मा तथा परमात्मा को दो पक्षियों के रूप मे निरूपित करता है । ये दोनो सदा एक साथ ही रहते हैं और घनिष्ठ मित्र है । तात्पर्य यह है कि परमात्मा सदा जीवात्मा के पास ही रहता है और मित्र के समान उसकी सहायता करता है । ये दोनो ही ससार रूपी वृक्ष पर आरूढ है । इनमे से जीवात्मा रूपी पक्षी जगत् रूपी वृक्ष के फलों को

आसक्तिपूर्वक खाता है तथा दूसरा परमात्मा रूपी पक्षी इस जगत् तथा इसके फलो–भोगो से निर्लिप्त रहते हुए मात्र इस पूरी प्रपञ्च–प्रक्रिया को देखता रहता है । इसी शृङ्खला के इक्कीसवे मन्त्र मे ससार रूपी वृक्ष पर अनेक पक्षियो के बैठकर अमृत के "भाग" की स्तुति करने की चर्चा की गई है । इससे जीव–बहुत्व का प्रतिपादन होता है । आगे चलकर बाईसवे मन्त्र मे यह बताया गया है कि वृक्ष पर बैठे हुए पक्षी मधु का पान करते है । इस प्रकार ये तीनो मन्त्र (बीस, इक्कीस एव बाईस) आत्मा, परमात्मा तथा जगत् का निरूपण करते है ।

आगे चलकर ऋषि ने तेईसवे मन्त्र से लेकर पच्चीसवे तक काव्य–तत्त्वो का प्रतिपादन किया है । इनमे विभिन्न छन्दो का विधान किया गया है । ऐसाप्रतीत होता है कि उक्त मन्त्रो मे सन्दर्भित छन्द परम तत्त्व का ही निरूपण करते है । तेईसवे मन्त्रानुसार इन छन्दो के प्रतिपाद्य "पद" को जानने वाले अमृत प्राप्त करते हैं । अत इन मन्त्रो की सङ्गति भी इसी आशय के सोलहवे, बाईसवे इत्यादि मन्त्रो के साथ बैठायी जा सकती है ।

सूक्त की मन्त्र–सङ्ख्या छब्बीस से लेकर उन्तीस तक "गो" के स्वरूप का निरूपण किया गया है । उसके साथ उसके वत्स की भी उद्भावना की गई है । यदि सूक्ष्म अध्ययन किया जाय, तो ज्ञात होता है कि ऋषि ने "गो" का प्रयोग बुद्धि के अर्थ मे किया है । इस बुद्धि का दोहन विचक्षण दोग्धा ही कर सकते है । इन मन्त्रों का सम्बन्ध नवे तथा सत्रहवे मन्त्र के साथ भी परिलक्षित होता है । उन्तीसवे मन्त्र के कथ्य को वास्तविक रूप से समझ पाना दुष्कर है । किस तत्त्व ने "गो" को आवृत किया है ? यह बता पाना कठिन है । सम्भव है, ऋषि सूर्य को ही वह तत्त्व मानता हो । ऐसी स्थिति मे सूर्य द्वारा "गो" का आवृत किया जाना उपपन्न नही हो पाता । यदि "गो" को सूर्य की किरणो के रूप मे भी स्वीकार कर लिया जाय, तो वे सूर्य को आवृत करती है, न कि सूर्य उनको ।

तीसवाँ मन्त्र आत्मा तथा शरीर के सम्बन्ध की व्याख्या करता है । इसके अनुसार जीव शरीर को छोड़कर निकल जाता है । मन्त्र के उत्तरार्ध मे यह बताया गया है कि मर्त्य शरीर तथा अमर्त्य जीव, दोनो साथ ही रहने वाले हैं या दोनो का उत्पत्ति–स्थान एक ही है । अड़तीसवे मन्त्र मे भी ऐसा ही प्रतिपादन किया गया है । इकत्तीसवे मन्त्र मे ऋषि ने "रक्षक" के दर्शन करने की बात कही है । सम्भवत वह रक्षक सूर्य है । ऐसा भी हो सकता है कि ऋषि का तात्पर्य "गोपाम्"

पद द्वारा "तत्त्वज्ञान" हो । इस दृष्टि से यदि तीसवे मन्त्र मे आए "मृत" शब्द का अर्थ, "शारीरिक बन्धनो से मुक्ति" माना जाए, तो यह कहा जा सकता है कि ऋषि को उक्त ज्ञान प्रस्तुत मन्त्र मे हो चुका है । इसकी ही घोषणा उसने "अपश्यम्" पद द्वारा की है । बत्तीसवे मन्त्र मे ऋषि इस तत्त्वज्ञान को स्रष्टा (पिता) के लिए भी अगम्य प्रतिपादित करता है । इसके लिए उसने माता के गर्भ, मे वेष्टित तथा सर्वथा अगम्य शिशु की उपमा दी है । तैतीसवे मन्त्र मे द्युलोक को "पिता" तथा "बन्धु" मानते हुए उसे "नाभि" या केन्द्र के रूप मे प्रतिष्ठित किया गया है तथा विशाल पृथ्वी को माता माना गया है । ऐसा प्रतीत होता है कि तीसवे से लेकर तैतीसवे मन्त्र तक सृष्टि के रहस्य का उद्घाटन किया गया है । तैतीसवे मन्त्र का सम्बन्ध स्पष्टत सातवे से लेकर दशवें मन्त्र तक वर्णित विषयो से है ।

चौतीसवे मन्त्र मे चार प्रश्न उपस्थित किये गए है तथा पैतीसवे मे क्रमश उनके उत्तर दिये गए है । "वेदी" को पृथ्वी का अन्तिम छोर, "यज्ञ" को भुवन की नाभि, "सोम" को प्रजनन का बीज तथा "ब्रह्मा" को वाणी का परम स्थान बताया गया है । स्पष्ट है कि उक्त मन्त्र में यज्ञीय कर्मकाण्ड की प्रशसा की गई है । ससार के सारे कार्य, यज्ञ द्वारा ही सम्पन्न किये जा सकते है । ब्रह्मा को वाणी का परम स्थान इसलिए कहा गया है कि वही यज्ञ मे वाणी के माध्यम सें देवताओ की स्तुति करके उन्हे आहूत करता है ।

सूक्त के छत्तीसवे मन्त्र मे सृष्टि की उत्पत्ति के लिए "सात" को बीज के रूप मे स्वीकार किया गया है । दार्शनिक दृष्टि से इन सातो को पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश – इन पञ्च महाभूतो तथा मन एव प्राण के रूप मे देखा जा सकता है । वस्तुत इन सातो के बिना सृष्टि सम्भव ही नही है । इन्हें पन्द्रहवे मन्त्र मे एक साथ उत्पन्न बताए जाने वाले सात तत्त्वो के साथ भी समेकित किया जा सकता है । ये सात अपनी बुद्धि और मन से सर्वत्र सब कुछ आवेष्टित कर देते है । ये सभी विष्णु की आज्ञा से अपने–अपने धर्म, मे स्थित है । इस प्रकार सृष्टि–प्रक्रिया में विष्णु के महत्त्व को प्रतिपादित किया गया है । वैसे जनसाधारण की धारणा के अनुसार ब्रह्मा को स्रष्टा तथा विष्णु को सृष्टि–पालक माना जाता है ।

सूक्त के सैतीसवें मन्त्र मे ऋषि ने अपने ज्ञान की प्राप्ति का उल्लेख किया है । इसमे उसने सत्य के दर्शन के बाद वाक् के तत्त्व को प्राप्त करने की चर्चा, भी की है । वस्तुत वाणी

के तत्त्व या भाग को प्राप्त करने का तात्पर्य अधिगत ज्ञान को अन्य लोगो तक पहुँचाने की क्षमता होने से है । इसी वाक् तत्त्व के द्वारा ऋषि मन्त्रो के माध्यम से अपना चिन्तन एव ज्ञान व्यक्त कर रहा है । प्रस्तुत मन्त्र का सम्बन्ध स्पष्टत इकत्तीसवे मन्त्र के साथ दृष्टिगत होता है, जिसमे रक्षक के दर्शन करने की बात की गई है । अड़तीसवे मन्त्र मे ऋषि अपने तत्त्वज्ञान को व्यक्त करते हुए आत्मा तथा शरीर के सम्बन्ध की व्याख्या करता है । उसके अनुसार लोग मात्र शरीर को जान पाते है, आत्मा को नही । यह मन्त्र तीसवे मन्त्र मे आए जीव तथा शरीर के सम्बन्ध–निरूपण को पुन प्रदर्शित कर रहा है । इस प्रकार की पुनरुक्तियो का कारण यह है कि मूल तत्त्व बार–बार ऋषि की दृष्टि मे आता जा रहा है और वह उसे येन केन प्रकारेण जनसाधारण तक पहुँचाने का प्रयास कर रहा है । उन्तालीसवे मन्त्र मे ऋषि ने देवताओ के स्थान का निरूपण करते हुए उसे न जानने वाले के लिए ऋचाओ के ज्ञान को निष्फल तथा जानने वाले के लिए उत्तम स्थान प्राप्त करने की बात कही है । इस मन्त्र से यह ध्वनित होता है कि ऋचाओ के ज्ञान का मुख्य उद्देश्य परम तत्त्व को जानना ही है । चालीसवे मन्त्र मे ऋचा को "गो" के रूप मे प्रतिष्ठित करते हुए उसके माध्यम से ऋचा अथवा काव्यतत्त्व की रक्षा करने की बात कही गई है । इसी शृङ्खला मे इकतालीसवा मन्त्र "गौरी वाक्" के विभिन्न पदो का सम्यक् निरूपण करता है । इसके अनन्तर बयालीसवा मन्त्र भी "गो" रूपा वाक् का ही प्रतिपादन करता है ।इस प्रकार ये छ मन्त्र (37, 38, 39, 40, 41 और 42) प्राय एक ही विषयवस्तु की उपस्थापना करते है ।

तैतालीसवें मन्त्र में दूर से धूम–दर्शन की चर्चा की गई है, जहाँ यज्ञकर्त्ता शक्तिदायक सोम को पका रहे है । पहले दूर से धूम तथा फिर पास मे उसके कारणभूत अग्नि का ज्ञान प्राप्त करने से हमे प्रकृत स्थल पर अनुमान–प्रमाण का निर्देश प्राप्त होता है । यह मन्त्र सोम–याग को प्राथमिक धर्म के रूप मे प्रतिष्ठित करता है । इसका सम्बन्ध पैतीसवे मन्त्र में प्रतिपादित सोमयाग के साथ है, जिसमें सोम को बीज के रूप मे माना गया है । चौवालीसवे मन्त्र मे परमतत्त्व के तीन स्वरूप प्रतिपादित किये गए है । यहाँ उनकी विशेषताएँ भी बताई गई है । इस मन्त्र का सीधा सम्बन्ध प्रथम मन्त्र मे प्रतिपादित परम तत्त्व के तीन भाइयो के साथ प्रतीत होता है । वहाँ तीनो भाइयो के पृथक्–पृथक् गुण बताए गए हैं, तो यहाँ उन्हे ही दूसरे शब्दो मे प्रतिपादित किया गया है । पैंतालीसवें मन्त्र मे "वाक्" का सम्यक् निरूपण किया गया है । यह मात्र मनुष्यो तक ही केन्द्रित नहीं है, बल्कि इसके चार भेदों में से एक ही मनुष्यो के लिए बोधगम्य तथा व्यवहार्य है, अन्य तीन "गुफा" मे निहित

है । इन चारो प्रकारो को मात्र मनीषी ही जानते है । इस मन्त्र को इकतालीसवे मन्त्र मे प्रतिपादित चतुष्पदी "गौरी वाक्" से सम्बद्ध किया जा सकता हे ।

छियालीसवे मन्त्र तक पहुँचते–पहुँचते हमे ऋषि की देववादी मान्यता का ज्ञान हो जाता है। उसके अनुसार सभी देवताओ का देवत्व "एक" है, भले ही उनके नाम अनेक क्यो न हो । तात्त्विक दृष्टि से सभी देवता एक ही हैं । यहाँ हमे "वैदिक अद्वैतवाद" के दर्शन होते है । शङ्कराचार्य के प्रचलित अद्वैतवाद से इसका पार्थक्य इस दृष्टि से है कि जहाँ शङ्कर पूरे ब्रह्माण्ड मे एकमात्र "तत्त्व" को स्वीकार करते है, वही "वैदिक अद्वैतवाद" मात्र देवो के एकत्व को प्रतिपादित करता है । इसीलिए मैने ऋग्वेद की इस प्रवृत्ति को "देवैकत्ववाद" के रूप मे स्वीकार किया है । मन्त्र मे तत्त्व को 'दिव्य" और "सुपर्ण" कहा गया है, जो अन्तिम ऋचा मे भी प्रतिपादित है ।

अब तक के मन्त्रो मे ऋषि ने सृष्टि के विभिन्न उपादानो का निरूपण किया । अब पुन वह सैतालीसवे तथा अडतालीसवे मन्त्र मे अपने मुख्य प्रतिपाद्य पर आ रहा है, जिसका निर्देश उसने सूक्त के प्रारम्भिक मन्त्रो मे "रथ" एव "पक्षी" के रूप मे किया था । सैतालीसवें मन्त्र मे ऋषि ने "सुपर्ण" किरणो की चर्चा की है, जो "ऋत" के स्थान से नीचे आकर पृथ्वी का सिञ्चन करती हैं । सम्भव है, ऋषि का तात्पर्य सूर्य की किरणो से हो, क्योंकि वे ही समुद्रादि से वाष्प ग्रहण करके वृष्टि के रूप मे परिवर्तित होती हैं ।अड़तालीसवा मन्त्र "रथ" को एक चक्रवाला बताते हुए उसे बारह परिधियो, तीन नाभियो तथा अत्यन्त गतिशील तीन सौ साठ खूँटियो से युक्त प्रतिपादित करता है । यह मन्त्र दूसरे, तीसरे, पाँचवे, ग्यारहवे, बारहवे, तेरहवे, चौदहवे सदृश मन्त्रो की शृङ्खला में एक कड़ी के समान है ।

मुख्य विषय के प्रतिपादन के अनन्तर ऋषि उन्चासवें मन्त्र मे देवी सरस्वती की स्तुति करता है । सरस्वती का स्तन सुखकारक है । वह उससे वरणीय धनो को पुष्ट करती है । तात्पर्य यह है कि सरस्वती द्वारा सर्वविध सुख–सम्पत्ति और उत्कर्ष प्राप्त किया जा सकता है । इस मन्त्र द्वारा एक बात और ज्ञात होती है कि ऋषि के काल तक सरस्वती देवी का प्रकृत स्वरूप स्पष्ट हो चुका था । उनकी कृपा के बिना मूलत न तो विद्या (ज्ञान) प्राप्त की जा सकती है और न इसका सरक्षण और प्रकाशन ही किया जा सकता है । यही कारण है कि इन सभी तथ्यों को ध्यान मे रखते हुए ऋषि ने सरस्वती की साक्षात् स्तुति की है, यद्यपि वह इकतालीसवे, पैतालीसवें सदृश मन्त्रों मे

प्रकारान्तर से उनका स्तवन कर चुका है ।

सूक्त का पचासवा मन्त्र यज्ञ–फल का प्रतिपादन करता है । यह अन्यत्र भी उपलब्ध होता है ।[1] उसके अनुसार यज्ञकर्त्ता नाकलोक को प्राप्त करते हैं । यह यज्ञ निश्चित रूप से सोमयाग ही है, जिसका वर्णन पैतीसवे तथा तैतालीसवे मन्त्र मे किया गया है । इक्यावनवें मन्त्र मे यज्ञीय विधान के द्वारा द्युलोक तथा पृथिवी के मध्य सामरस्य स्थापित किया गया है । जलतत्त्व के द्वारा यह प्रतिपादित किया गया है कि एक ही जल दिन मे ऊपर चला जाता है, पुन मेघो द्वारा नीचे आता है । द्युलोक को अग्निया तृप्त करती है । वस्तुत जल सूर्य की किरणो द्वारा अवशोषित होकर द्युलोक पहुँचता है तथा वृष्टिकाल में मेघो के माध्यम से पृथ्वी पर आता है । अग्नि मे जो हवन किया जाता है, उसी से मेघो का निर्माण होता है । गीता मे भी यज्ञ द्वारा पर्जन्य के उत्पन्न होने की बात कही गई है ।[2] इस प्रकार यह मन्त्र भी यज्ञीय परम्परा का पोषक है, जो पूर्ववर्त्ती मन्त्रो मे उपपादित है ।

प्रकृत सूक्त का अन्तिम मन्त्र पुन प्रथमादि मन्त्रो मे प्रतिपादित "दिव्य सुपर्ण" की चर्चा करता है । यहाँ के वर्णन द्वारा ऐसा प्रतीत होता है कि वह "दिव्य सुपर्ण" सूर्य है । ऋषि ने उसके लिए "सरस्वान्" शब्द का भी प्रयोग किया है । वह निरन्तर गति करने वाला है । उसी के प्रकाश से ओषधियों मे रस का सञ्चार होता है । वृष्टि का भी प्रधान कारण वही है । इस प्रकार के दिव्य पक्षी को ऋषि ने अपनी सहायता के लिए आहूत किया है । यह वही पक्षी है, जिसे प्रथम मन्त्र में ऋषि ने "होता" कहा है । यही "सुपर्ण" छियालीसवे मन्त्र मे भी उद्दिष्ट है । इस प्रकार ऋषि ने परम तत्त्व को निरूपित करने के लिए अनेक उद्भावनाए प्रस्तुत की हैं । हमे किसी भी परिकल्पना मे कोई विसङ्गति नही दृष्टिगत होती ।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर यह स्पष्टत परिलक्षित होता है कि यद्यपि ऋषि दीर्घतमा के इस सूक्त मे मन्त्रो की सङ्ख्या प्रभूत है, तथापि उनमें परस्पर सामञ्जस्य एवं तारतम्य बना हुआ है । प्रत्येक मन्त्र एक ही शृङ्खला की कड़ी के रूप मे उपनिबद्ध है । एक ही सूक्त मे इतने अधिक मन्त्र आकस्मिक रूप से नही आ गए हैं, बल्कि ऋषि ने उन्हे योजनाबद्ध ढंग से प्रस्तुत किया है । मन्त्रो में आए कुछ प्रतीको का सम्यक् ज्ञान प्राप्त न होने पर भी इतना अवश्य कहा जा सकता

---

1 (क) ऋग्वेद 10.90 16
(ख) शुक्ल यजुर्वेद – 31.16
(ग) तैत्तिरीय आरण्यक – 3.12.16

2 "यज्ञाद् भवति पर्जन्यो यज्ञ· कर्मसमुद्भव ।" श्रीमद्भगवद्गीता – 3.14.

है कि सभी मन्त्र परस्पर सुसम्बद्ध है तथा पूरे सूक्त का प्रतिपाद्य विषय एक ही है । इसी आधार पर मन्त्रो की पारस्परिक सङ्गति बैठायी जा सकती है ।

एक अन्य आधार पर भी मन्त्रो मे तारतम्य प्रतिपादित किया जा सकता है । डॉ.वासुदेव शरण अग्रवाल ने प्रस्तुत सूक्त के मन्त्रो मे ऋग्वेद की सृष्टि सम्बन्धी अनेक विद्याओ का सङ्ग्रह स्वीकार किया है । उनके अनुसार उन्ही विद्याओ का सङ्केत रूप मे या विशद रूप मे इस सूक्त मे उल्लेख पाया जाता है । उदाहरण के लिए प्रथम मन्त्र मे "अग्नि के तीन भ्राताओ की विद्या" है । पञ्चम मन्त्र मे "सप्ततन्तु विद्या" है, जिसका सम्बन्ध सूर्य, सवत्सर और यज्ञ से है । छठें मन्त्र मे "अव्यय", "अज" एव उस पर आधृत छ रजो की विद्या है । सातवे, आठवे और नवे मन्त्र मे "गो विद्या" एव "मातृविद्या" के अनेक सूत्र है ।

मन्त्र दस मे भी एक "अविचाली ऊर्ध्व तत्त्व" की तथा उस पर आश्रित माता-पिताओं के तीन युग्मो की विद्या है । मन्त्र 11, 12, 13, 14 मे "वक्र विद्या" है, जिसे द्वादशार, षडर और पञ्चार कहा गया है । 15 वे मन्त्र मे "सप्तसाकज" प्राण विद्या और मन्त्र 16 मे "स्त्री पुमान्" विद्या है । मन्त्र 17, 18, 19 मे "परार्ध", "अवरार्ध" या "परावर विद्या" का वर्णन है । मन्त्र 20, 21, 22 मे "सुपर्ण विद्या" है । मन्त्र 23, 24, 25 मे "त्रिसुपर्ण विद्या" अथवा "तीन छन्दों" की विद्या है । मन्त्र 26 मे "घर्म विद्या" और 27, 28, 29 मे "गो विद्या" है । मन्त्र 30 मे "जीव विद्या" है, जिसे अमृत और मर्त्य का सयोग कहा है । मन्त्र 31 मे "गोपा विद्या" है । 32, 33 मे "मातृ-पितृ विद्या" या "योनिविद्या" है । मन्त्र 34, 35 मे "ब्रह्मोद्य" के प्रश्नोत्तर शैली द्वारा "यज्ञविद्या" के कई सूत्रों का वर्णन है । मन्त्र 36 में "सप्तार्धगर्भ विद्या" है, जिससे भुवन का "रेतस् तत्त्व" निर्मित हुआ है । 37 मे "ऋतस्य प्रथमजा वाक्" विद्या है । 38 मे "मर्त्यामृतसयोनि विद्या" है, जिसका मन्त्र 30 मे उल्लेख आ चुका है । मन्त्र 39 मे "अक्षर विद्या" है । मन्त्र 40 मे "भगवती अघ्न्या गौ" विद्या है । 42 मे "क्षराक्षर विद्या" है । 43 में "उक्षापृश्नि" विद्या है । मन्त्र 44 मे "त्रय केशिन " विद्या है । 45 मे "चतुष्पदी वाक्" विद्या है । 46 मे "एकं सत्बहुधा" विद्या है । 47 मे वरुण के "आपोलोक" या "ऋतसदन" की "कृष्णनियान विद्या है । मन्त्र 48 में "सवत्सरचक्र" विद्या है । 49 में "सरस्वती की अमृतपोषण" विद्या है । मन्त्र 50 मे "यज्ञद्वय" विद्या है । मन्त्र 51 में "पर्जन्य" विद्या है । मन्त्र 52 मे "दिव्य सुपर्ण" या "बृहद् वायस" विद्या है ।[1]

---

1. अग्रवाल, डॉ.वासुदेव शरण – वेदरश्मि, पृष्ठ 36.

इस प्रकार ऋषि दीर्घतमा ने प्रस्तुत सूक्त के सभी 52 मन्त्रो मे अनेक वैदिक विद्याओ की रूपरेखा प्रस्तुत की है । इस आधार पर भी सभी मन्त्रो की एकात्मकता प्रतिपादित होती है ।

(घ) सूक्त में विद्यमान विभिन्न तत्त्वो की समीक्षा :-

प्रस्तुत सूक्त तात्त्विक दृष्टि से उन्नत माना गया है । इसके प्रतिपाद्य को पूर्णत· समझ पाना दुष्कर है । यहाँ विभिन्न भाष्यो के आलोक मे सूक्तस्थ विभिन्न तत्त्वो तथा पदो की समीक्षात्मक व्याख्या प्रस्तुत की जा रही है ।

(1) **भ्रातृत्रय-निरूपण** – "अस्यवामीय सूक्त" के प्रथम मन्त्र मे तीन भ्राताओ का निर्देश किया गया है । वे तीनो कौन है ? इस विषय मे विद्वानो मे मतभेद है । सबसे बडे भाई के लिए "वाम", "पलित", "होता", "विश्पति" और "सप्तपुत्र" इन पॉच विशेषणो का प्रयोग किया गया है । मध्यम भ्राता को "अश्न" तथा तृतीय को "घृतपृष्ठ" कहा गया है । आचार्य सायण ने "वाम" का अर्थ "सुन्दर" या "सेवनीय", "पलित" का अर्थ "पालक" तथा "होता" का अर्थ "आह्वान किये जाने योग्य" करते हुए उसे "आदित्य" माना है । उन्होने मध्यम भ्राता को "वायु" माना है । वह "आदित्य" और "अग्नि" की अपेक्षा से "मध्यम" है । उनके अनुसार "अश्न " का अर्थ "सर्वत्र व्याप्त" है, क्योकि कोई भी प्रदेश वायुरहित नही है । जिस प्रकार लोक मे भ्राता, पिता के धन का भाग ग्रहण करता है, उसी प्रकार वायु भी ग्रहण करता है । मध्यस्थान-अन्तरिक्ष लोक का हरण करने के कारण भी वायु को मध्यम कहा जाता है, अथवा वृष्टि के लिए रश्मियो द्वारा लाए गए पृथ्वी के जलो का हरण करने के कारण भी वायु को भ्राता कहते है । तृतीय भ्राता पीठ पर घृत की आहुति वाला है । वह उक्त दोनो भ्राताओ की अपेक्षा से तृतीय है । वह भी इसलिए भ्राता है कि रात्रि मे सविता के तेजोभाग को धारण करता है तथा पुन दिन में उसे वापस कर देता है । इन तीनो भाइयो के मध्य आदित्य विश्पति अर्थात् प्रजाओ का पालक है तथा सात रश्मियों रूपी पुत्र वाला है । ऐतिहासिको के मतानुसार मित्र, वरुण इत्यादि अदिति के पुत्रो मे सातवा होने के कारण आदित्य "सप्तपुत्र" या सप्तमपुत्र है ।[1] इस

---

1 योऽय दिवि द्योतते तस्य अस्य वामस्य वननीयस्य सम्भजनीयस्य आरोग्यार्थिभि सर्वे, सेवनीयस्य। पलितस्य पालयितु· प्रकाश-वृष्ट्यादिप्रदानेन पालकस्य....होतु ह्वातव्यस्य आह्वानार्हस्य आदित्यस्य मध्यम मध्यमस्थान·। मध्ये भवो वायुरुच्यते। आदित्याग्नी अपेक्ष्यास्य मध्यमत्वम्। स च अश्व सर्वत्र व्याप्त.। न हि वायुरहित कश्चित् प्रदेशोऽस्ति। -यथा लोके भ्राता पितृधनस्य भाग हरति तद्वत्। मध्यमस्थानमन्तरिक्षलोक हरति इति वा। वृष्ट्यर्थं रश्मिभिराहृतानां भौमाना रसाना हरणाद् वा भ्रातेत्युच्यते।...घृतमाहुतिलक्षण पृष्ठे यस्य तादृशो भ्राता तृतीय अस्ति भवति।.. उक्तोभया--पेक्षया तृतीयत्वम्। रात्रौ सवितुस्तेजोभागस्य हरणात् दिवा स्वकीयतेजसो भागस्य तदर्थमेव भक्तव्यत्वात् वा भ्रातृत्वम्। अत्र एषु भ्रातृषु मध्ये विश्पति विशां प्रजाना पालयितारम्। सप्तपुत्र सर्पणरश्मिपुत्रोपेतम् ऐतिहासिकपक्षे-मित्रवरुणादिष्वदितिपुत्रेषु आदित्यस्य सप्तमपुत्रत्वम्। ऋ.1.164 1 पर सायणभाष्य.

प्रकार सायण के अनुसार "सप्तपुत्र" का अर्थ "सात पुत्रो वाला" के अतिरिक्त "सप्तमपुत्र" भी इष्ट है। दीर्घतमा ने ऐसे देव का साक्षात्कार किया ।

सायण का प्रकृत अर्थ आधिदैवत है । इन्होने एक अन्य आध्यात्मिक अर्थ भी किया है । उसके अनुसार "वाम" का अर्थ विश्व का उद्गिरण या सृष्टि करने वाला है । "पलित" का अर्थ – अपनी सृष्टि का पालन करने वाला तथा "होता" का अर्थ सहार करने वाला है । परमेश्वर का "स्रष्टा" आदि होना श्रुति, स्मृति, पुराणादि मे प्रसिद्ध है । ऐसे परमेश्वर का भ्राता या उसके भाग को ग्रहण करने वाला उसी का अशभूत सूत्रात्मा मध्य मे वर्तमान वायु है । वह व्यापनशील है । विराट् की तुलना मे वह मध्यम है । उस परमेश्वर का तीसरा भाई "घृतपृष्ठ" है । "घृत" जल का नाम है । इससे उसके कार्यभूत शरीर का बोध होता है । वह शरीर ही जिसका पृष्ठ या स्पर्श करने वाला है, ऐसा परमेश्वर "घृतपृष्ठ" है । अथवा "घृत" का अर्थ प्रदीप्त है और "पृष्ठ" शब्द सम्पूर्ण शरीर का वाचक है । इस प्रकार वह परमेश्वर प्रकाशितशरीराभिमानी है । "विश्पति" का अर्थ "सबका स्वामी" तथा "सप्तपुत्र" का – सात लोको रूपी पुत्र वाला है । तात्पर्य यह है कि जिसने अपनी माया से समस्त लोको की सृष्टि की है, वह सप्तपुत्र है । सायण के मतानुसार मन्त्र का तात्पर्य यह है कि अपनी माया से ससार का कारणभूत परमेश्वर एक ही है, उससे उत्पन्न होने वाले स्थूल तथा सूक्ष्म शरीर के अभिमानी क्रमश. 'विराट्' तथा "सूत्रात्मा" है । इन तीनो मे से मात्र बाद वाले दो के साक्षात्कार से मोक्ष नहीं प्राप्त हो सकता, अत. सृष्टि के आदिकारणभूत, ज्ञेय के रूप मे प्रसिद्ध परमेश्वर का ही श्रवणमननादिसाधन से साक्षात्कार कर रहा हूँ ।[1]

---

1. एव वा अस्य वामस्य विश्वस्योद्गिरतु स्रष्टुरित्यर्थ । पलितस्य पालयितु स्वसृष्टजगत्पालन– –शीलस्य होतु आदातु । स्वस्मिन् संहर्तु इत्यर्थ । परमेश्वरस्य सृष्ट्यादिकर्तृत्वं श्रुतिस्मृति– –पुराणादिषु प्रसिद्धम्। तस्य.....भ्राता तद्भागहारी तदंशभूत. सूत्रात्मा मध्यम सर्वत्र मध्ये वर्तमान अस्ति जगद्धारकत्वेन वर्तते। स च अश्न व्यापनशील ।... वक्ष्यमाणविराडपेक्षया वा मध्यमत्वम्। किञ्च अस्य परमेश्वरस्य तृतीयो घृतपृष्ठ । घृतमित्युदकनाम । तेन तत्कार्य शरीरमुच्यते। तदेव पृष्ठ स्पर्शक वा यस्य स तादृश । .यद्वा प्रदीप्तपृष्ठ । पृष्ठशब्द कृत्स्नशरीरोपलक्षक । प्रकाशित शरीराभिमानीत्यर्थ । न त्वय सूक्ष्मशरीराभिमानि– –सूत्रात्मवत् स्पर्शनाविषयो भवति।... स्वाधीनमायया जगत्कारणभूत. परमेश्वर. एक । तत उत्पन्नौ स्थूलसूक्ष्मशरीराभिमानिनौ द्वौ विराट्सूत्रात्मानौ। तेषु मध्ये द्वयो साक्षात्कारेण मोक्षाभावात् सृष्ट्यादिकारणं परमेश्वरं ज्ञेयत्वेन प्रसिद्ध श्रवणमननादिसाधनेन साक्षात्करोमि इत्यर्थ ।

   ऋग्वेद 1 164.1 पर सायणभाष्य.

इस प्रकार सायण ने आदित्य,वायु और अग्नि को भ्राता मानकर आधिदैवत तथा श्रुति, स्मृति इत्यादि के प्रमाण के बल पर दर्शन की ओर उन्मुख होते हुए आध्यात्मिक अर्थ प्रस्तुत किया है । वस्तुत वैदिक यज्ञविद्या तथा लोकविद्या के अनुसार "विराट्" का भौतिक जगत् और "सूक्ष्म सूत्रात्मा प्राण" का सूक्ष्म जगत् – ये दोनो ही ईश्वर की माया से उत्पन्न होते है । इनसे मुक्ति–प्राप्ति का उपाय मात्र ईश्वर का साक्षात्कार करना ही है । सायण का प्रकृत अर्थ भी "ब्रह्मवाद" पर ही अवस्थित है । सम्भवत यही कारण है कि विल्सन ने सायण को प्रस्तुत सूक्त का वेदान्तपरक व्याख्याता माना है । उनके शब्दो मे – सायण के अनुसार इस सूक्त का सामान्य उद्देश्य "वेदान्त" की छाप छोड़ना अथवा ब्रह्म और जगत् का आध्यात्मिक ऐक्य प्रतिपादित करना है । यद्यपि सूक्त मे कुछ ऐसे स्थल अवश्य है, जो सायण के इस विचार का समर्थन करते है, तथापि सम्पूर्ण सूक्त पर विचार करने पर, जो प्राय रहस्यात्मक तथा कठिन है, यह ज्ञात होता है कि इसमे सम्पूर्ण सृष्टि मे अनुस्यूत "आदित्य" या सूर्य को अभिमण्डित किया गया है ।[1] ग्रिफिथ ने इस मन्त्र का अनुवाद करने के उपरान्त पाद–टिप्पणी मे लिखा है – होता (पुरोहित) आदित्य या सूर्य है । उसका मध्यम भ्राता "विद्युत्" है, जो अग्नि का ही एक अन्य रूप है तथा तृतीय भ्राता गार्हपत्य अग्नि है, जो प्रत्येक गृहस्थ के यहाँ समिद्ध किया जाता है तथा जिस पर घृत की आहुतियाँ दी जाती है । सात पुत्र सम्भवत सात "होता" या "पुरोहित" है ।[2] इस प्रकार ग्रिफिथ ने सायण से पृथक् विचार प्रस्तुत करते हुए "विद्युत्" को मध्यम भ्राता के रूप मे स्वीकार किया है ।

---

1. According to Sayana however, the general purport of this Sukta is the inculcation of the doctrine of the Vedanta, or the spiritual unity of Brahman and the universe: some passages occur that bear him out in this view, but the text, upon the whole, although often mystical and obscure, evidently proposes the glorification of Aditya or the sun, especially as identifiable with all creation.
   विल्सन, एच एच. – ऋग्वेद संहिता, वाल्यूम 2, 1.164 1 पर टिप्पणी.

2. The priest is Aditya, the Sun. His next brother is lightning, another form of fire, and the third brother is Agni Garhapatya, the western sacred fire maintained by each householder, and fed with oblations of clarified butter.
   The seven male children are probably the priests.
   ग्रिफिथ, आर.टी एच. – द हिम्स ऑफ द ऋग्वेद, पृष्ठ 109.

आचार्य यास्क ने भी इस मन्त्र का अर्थ किया है । यद्यपि उन्होने अग्नि, वायु और आदित्य का भ्राता के रूप मे उल्लेख नही किया है, तथापि दुर्गाचार्य ने अपनी टीका मे इसे स्पष्ट किया है ।[1] यास्क की टीका का अन्तर्भाव सायण के प्रथम अर्थ मे हो जाता है ।

आत्मानन्द ने प्रकृत मन्त्र का अर्थ कुछ भिन्न प्रकार से ही किया है । उनके अनुसार इस मन्त्र में तीन अवस्थाओ वाले चित्स्वरूप आत्मा का स्वरूप बताया गया है । जो वाम है, वही कुब्ज या प्रत्यक्ष शरीर है । पृथिव्यादि पञ्चभूतो से निर्मित होने के कारण वह "वाम" अर्थात् कुब्ज या प्रत्यक्ष है । तात्पर्य यह है कि जो प्राण के रूप मे विराट् है, वही शरीर के रूप मे "वाम" या "कुब्ज" हो जाता है । इस स्थिति मे भी वह व्यापक बना रहता है । "होता" का अर्थ "उद्गाता" या विचारक है । वह जाग्रदवस्था मे मन तथा बुद्धि से विचार करता है तथा "वैश्वानर" नामक प्रथम भ्राता है । इसका द्वितीय भ्राता "मध्यम" अर्थात् स्वप्नावस्था मे होने वाला "तैजस्" है । "अश्न" मेघ या पर्वत को कहते है । वह "तैजस" इसलिए है कि स्वप्नावस्था वाला होने के कारण निद्रा द्वारा मेघ के समान प्रकाश को तिरोहित करता है तथा स्वप्न सञ्ज्ञक गन्धर्व नगर का अधिष्ठाता है । वह पर्वत के समान आश्चर्य का विषय है । कहा भी गया है – वैश्वानर ग्राम्य, तैजस अद्रि और अन्तिम प्राज्ञ है । तुरीय को श्वेत कहते हैं, जिसमे सभी अनुस्यूत हैं । होता का तृतीय भ्राता सुषुप्त या प्राज्ञ है, जिसे घृतपृष्ठ कहा गया है । जिसमे पृष्ठ अर्थात् बाह्य प्रदेश मे रहने वाले जागृत और स्वप्न, घृत या लीन रहते हैं, वही घृतपृष्ठ या प्राज्ञ है । वैश्वानर, तैजस तथा प्राज्ञ इन तीनो का पति या पालक अर्थात् अपना चैतन्य प्रदान करके इनकी रक्षा करने वाला तुरीय ही 'विश्पति' है । महदादि जगत् की

---

1 निरुक्त – 2.4.26 तथा इस पर "दुर्गवृत्ति" द्रष्टव्य.

सात प्रकृतियाँ ही जिसके पुत्र या कार्यभूत विकृतियाँ है, इसीलिए उसे "सप्तपुत्र कहा गया है ।[1] इस प्रकार आत्मानन्द ने वैश्वानर, तैजस तथा प्राज्ञ को तीन भ्राता मानते हुए "विश्पति" को तुरीय चैतन्यात्मा के रूप मे प्रतिष्ठित किया है ।

डॉ.कुन्हन राजा ने इन तीनो भ्राताओ को सूर्य, सर्वभुक् अग्नि ? तथा सामान्य अग्नि के रूप मे स्वीकार किया है ।[2] डॉ.वासुदेव शरण अग्रवाल प्रकृत स्थल पर अग्नि के ही तीन भ्राताओं का वर्णन मानते है । उनके अनुसार – इस मन्त्र मे अग्नि और उसके तीन भ्राताओ का वर्णन है । अग्नि ही विश्पति है, वही सप्तपुत्र है । अग्नि यहाँ प्राणतत्त्व है, जो हर एक के भीतर विद्यमान है ।[3]

---

1 अस्यामृचि अवस्थात्रयोक्तिपूर्व, आत्मा उच्यते चित्स्वरूप । अस्य प्रत्यक्षादि प्रमाणस्यापरोक्षस्य। वामस्य कुब्जस्य शरीरेण परिच्छिन्नस्य व्यापकस्य वा। यो होता उद्गाता विचारक तस्य होतु । जाग्रदवस्थाया नाम्ना विश्वस्य प्रथमस्य भ्रातु द्वितीयो मध्यम अस्ति भवति। मध्ये स्वप्ने भवतीति मध्यम नाम्ना तैजस । अश्न । मेघस्य गिरेर्वा नामैतत्। तैजसो हि मेघसदृश निद्रया तिरोहिततेजस्त्वात्। स्वप्नाख्यगन्धर्वनगराधिष्ठातृत्वाच्च। गिरिवदाश्चर्यविषय । तदुक्तम्

ग्राम्यो विश्वस्तैजसोऽद्रिश्चान्तिम प्राज्ञ ईरित ।
तुरीयं श्वेतमत्राहु सर्वानुस्यूतमद्वयम् ।। इति ।

अस्य होतुस्तृतीयो भ्राता सुषुप्तो नाम्ना प्राज्ञो घृतपृष्ठ । घृतौ क्षरितौ लीनौ पृष्ठौ परिभवौ बाह्यप्रदेशसमौ जागरस्वप्नौ यस्मिन् स घृतपृष्ठ प्राज्ञ । अत्र विश्वादिषु त्रिषु विश्पतिं विश्वतैजसप्राज्ञानां पति पातार स्वचैतन्यदानेन रक्षक तुरीयम्। सप्तपुत्रम्। सप्त महदादयो जगत्प्रकृतय पुत्रा कार्यभूता विकृतयो यस्य स तथा।
ऋग्वेद 1.164.1 पर आत्मानन्द–भाष्य

2. It refers to the luminaries in the three regions, the Sun, the consuming fire and the ordinary fire.
राजा, डॉ.सी.कुन्हन – अस्य वामस्य हिम, पृष्ठ 7.

3 अग्रवाल, डॉ वासुदेव शरण – वेदरश्मि, पृष्ठ 38

गेल्डनर ने पूरे सूक्त को कर्मकाण्ड (यज्ञ) से सम्बद्ध करते हुए प्रकृत मन्त्र मे निर्दिष्ट तीन भ्राताओ को यज्ञ मे विहित तीन अग्नियो के रूप मे प्रतिपादित किया है ।[1] सातवलेकर जी ने इन्हे आदित्य, वायु और अग्नि के रूप मे ही स्वीकार किया है ।[2]

वस्तुत वैदिक सृष्टिविद्या के अनुसार एक ही परात्पर ब्रह्मतत्त्व चतुष्पाद के रूप मे अपने एक अश से अमृत और अनिरुक्त बना रहता है तथा तीन भागो से इस त्रेधा विश्व का निर्माण करता है । प्रकृत स्थल पर तीन भ्राताओ का उल्लेख वैदिक त्रिकवाद की एक कडी प्रतीत होता है । जिस प्रकार एक ही अग्नि यज्ञ–सम्पादन हेतु तीन भागो मे विभक्त हो जाता है, उसी प्रकार एक ही अनिरुक्त अमूर्त प्रजापति त्रिगुणात्मक विश्व के रूप मे दृष्टिगत होता है । वैदिक त्रिको मे अग्नि, वायु तथा आदित्य का प्रमुख स्थान है । ये तीनो ही सञ्चालक प्राण है । इन तीनो को तीन लोको का स्वामी माना गया है । "ऐतरेय ब्राह्मण" मे अग्नि को पुरोहित तथा पृथिवी को उसका पुरोधाता कहा गया है, वायु को पुरोहित तथा अन्तरिक्ष को उसका पुरोधाता कहा गया है । अन्तत आदित्य को भी पुरोहित तथा द्युलोक को उसका पुरोधाता कहा गया है ।[3] यहाँ "पुरोहित" शब्द पर भी विचार कर लेना अपेक्षित है । इसका शब्दार्थ प्रत्यक्ष रूप से आया हुआ प्राण है । यह वह अध्यात्मप्राण है, जो भौतिक शरीर मे प्रकट होता है । "शतपथब्राह्मण" मे यह बताया गया है कि प्राण से अधिक सभी भूतो का अन्य कोई हितकारी नही है । यही कारण है कि "प्राणों" का नाम ही "हित" है ।[4]

मन्त्र मे आए तीनो भ्राताओ के विशेषणो पर विचार करना आवश्यक है । प्रथम भ्राता को "वाम" तथा "पलित" कहा गया है । कोष के अनुसार वाम का अर्थ – प्रिय, सुन्दर, लावण्यमय[5] तथा

---

1. गेल्डनर – ऋग्वेद 1.164.1 पर अनुवाद एवं टिप्पणी द्रष्टव्य.
2 सातवलेकर, श्रीपाद दामोदर – ऋग्वेद, प्रथम भाग, पृष्ठ 430
3 अग्निर्वाव पुरोहित पृथिवी पुरोधाता ।
वायुर्वाव पुरोहित अन्तरिक्ष पुरोधाता ।
आदित्यो वाव पुरोहित द्यौ पुरोधाता । ऐतरेय ब्राह्मण 8 27.
4 प्राणो वै हितं प्राणो हि सर्वेभ्यो भूतेभ्यो हित । शतपथब्राह्मण 6.1 2.14.
5 आप्टे, वामन शिवराम – संस्कृत–हिन्दी कोश, पृष्ठ 917.

"पलित" का भूरा, धवल, सफेद बालो वाला, वृद्ध[1] है । उक्त दोनो अर्थ परस्पर विरोधी है । ऐसी स्थिति मे उनमे किस प्रकार सड् गति बैठायी जा सकती है ? इसके अतिरिक्त प्रथम भ्राता को ही "विश्पति" तथा "सप्तपुत्र" भी कहा गया है । द्वितीय भ्राता को "अश्न" अर्थात् भोजन करने वाला कहा गया है । सायण ने इसका अर्थ "सर्वत्र व्यापक" किया है । तृतीय भ्राता "घृतपृष्ठ" के रूप मे चित्रित है । ऐसा प्रतीत होता है कि ऋषि ने तीन भ्राताओ के माध्यम से जीवनतत्त्व के तीन विशेष लक्षणो की ओर सड् केत किया है । जहाँ भी प्राण या जीवन अस्तित्व मे रहता है, वहाँ ये तीनो तत्त्व निश्चित रूप से विद्यमान रहते है । इन्हे तीन नियमो के रूप मे जाना जा सकता है । जीवन का प्रथम लक्षण वृद्धि है, द्वितीय अशन या अन्न–ग्रहण करना तथा तृतीय प्रजनन है । जहाँ भी भूत का प्राण के साथ सयोग होता है, वहाँ शारीरिक वृद्धि अवश्य होती है । वृद्धि का अर्थ – छोटे से बडा होना है । हर क्षण शरीर मे भूतों का कूट बदलता रहता है । वृद्धि के इस नियम मे एक पक्ष का छोटा और दूसरे पक्ष का बडा होना आवश्यक है । पहले को बालक और दूसरे को वृद्ध भी कहा जा सकता है । इसी प्रकार एक को "वामन" और दूसरे को "विराट्" भी कह सकते है । जो वामन है, वही विराट् के रूप मे हमारे सामने आता है । "शतपथब्राह्मण" मे कहा गया है कि जो वामन था, वस्तुत वही विष्णु था ।[2] वामन जब महिमभाव से युक्त होता है, तो वही विराट् के भाव को प्राप्त करता है । माता–पिता के शोणित–शुक्र के सयोग से गर्भगत भ्रूण वामन के रूप मे है । वही क्रमश वृद्धि–प्राप्त करता हुआ पूरे शरीर के रूप मे हमारे सम्मुख आता है । वृद्धि का यह क्रम सतत प्रवर्तमान है । वामन को विष्णु के रूप मे लाने का कारण "गति" है, जो देश और काल मे प्रकट होती है । तीन लोक और तीन काल ही वस्तुत विष्णु के तीन चरण है । वामन और विराट्, केन्द्र और परिधि, बिन्दु और मण्डल, अणु और महान् इन द्वन्द्वो मे यद्यपि परस्पर महान् भेद दृष्टिगत होता है, किन्तु तात्त्विक रूप से दोनों एक है । दोनो का पार्थक्य वृद्धि या महिमभाव पर ही आश्रित है । ऋषि ने "वाम" और "पलित" विशेषणो द्वारा इसी तथ्य को निर्दिष्ट किया है । वह आदित्य, वामत्व तथा वार्धक्य दोनो को द्योतित करता है । जो वाम है, वही वामन, बटुक, कुमार या प्राण का नया–

---

1 आप्टे, वामन शिवराम – सस्कृत–हिन्दी कोश, पृष्ठ 596

2 वामनो ह विष्णुरास । शतपथब्राह्मण 1 2.5.5

स हि वैष्णवो यद् वामन । वही, 5 2 5.4.

नया अवतार है । इसके विपरीत अखण्ड, चैतन्य, अनादि अनन्त प्राणतत्त्व सदा अविचल है । वह मार्कण्डेय या लोमश के समान सहस्रायु है । वही पलित है । वह पृथ्वी और आकाश के विशाल अन्तराल मे व्याप्त वृक्ष के समान स्तब्ध और ऊर्ध्व है ।

इस प्रकार प्राणाग्नि के ही दो रूप हमारे समक्ष आते है । प्रथम देशकाल में जन्म लेने वाला पालक है और द्वितीय देशकाल से अतीत होते हुए भी ध्रुव सत्ता वाला है, जिसे "पलित" कहा गया है । बाल तथा वृद्ध दोनो एक ही तत्त्व के दो पक्ष है । इसे "उभयत शीर्ष्ण" भी कहा जा सकता है । इसका एक सिर कुमार या वाम का तथा दूसरा पलित या वृद्ध का है । वृद्धि या महिमभाव इन दोनो का नियामक स्पन्दन है । इसे ही प्रथम भ्राता के रूप मे चित्रित किया गया है । अब प्रश्न यह उठता है कि उसे मन्त्र मे "होता" क्यो कहा गया है ? "होता" कहे जाने के कारण उसमे "अग्नित्व" की भावना उपस्थित हो जाती है । अन्य अनेक स्थलो पर "अग्नि" को ही "होता" के रूप मे प्रतिष्ठित किया गया है ।[1] ऋग्वेद का प्रथम मन्त्र भी अग्नि को "होता" स्वीकार करता है ।[2] इससे यह प्रतीत होता है कि होतृ शब्द द्वारा ऋषि का इष्ट अग्नि ही है । सूक्त मे अन्यत्र भी अग्नि के सन्दर्भ आए है । ग्यारहवे मन्त्र में सीधे अग्नि को सम्बोधित भी किया गया है । उन्नीसवे मन्त्र मे इन्द्र तथा सोम की चर्चा आई है, जिनका यज्ञ से निकट का सम्बन्ध है । तैतालीसवे मन्त्र मे "उक्ष" पद के प्रयोग द्वारा सोम का ही निर्देश प्राप्त होता है । इसी प्रकार पैतीसवे मन्त्र मे भी सीधे सोम का सन्दर्भ आया है । मन्त्र सङ्ख्या पैतीस तथा पचास भी यज्ञ का उल्लेख करते हैं । इन सभी तथ्यो से यह प्रतीत होता है कि पूरे सूक्त की पृष्ठभूमि मे यज्ञ है तथा प्रथम मन्त्र मे आया "होतृ" पद, किवा तीनो भ्राता अग्नि के ही विविध रूप है । ऐसी स्थिति मे पूरे सूक्त मे आए "रथ" के रूपक पर विचार करना आवश्यक है । "रथ" का सीधा सम्बन्ध आदित्य से ही है । अग्नि का सम्बन्ध कही भी रथ के साथ नही स्थापित किया गया है । अग्नि के विभिन्न रूप एक ही अग्नि में समाहित हो जाते है, अत एक साथ कई अग्नियो की चर्चा होना तर्कसङ्गत नही प्रतीत होता । इस दृष्टि से ऋषि ने निश्चित रूप से "आदित्य" को ही प्रथम भ्राता के रूप मे चित्रित किया है । जहाँ तक होतृत्व का प्रश्न है, आदित्य के "होता" होने मे कोई विसङ्गति नही

---

1 यो होतासी॑त् प्र॒थमो दे॒वजु॑ष्ट । ऋग्वेद 10.88.4 तथा द्रष्टव्य – वही, 10.88.19.

2 होता॑रं रत्न॒धात॑मम् । वही, 1.1.1

प्रतीत होती है, क्योंकि "होता" शब्द का अर्थ आह्वान करने वाला अथवा सायण के अनुसार आह्वान किये जाने योग्य भी है । सूर्य अपने उदय के साथ ही लोगो को अपने-अपने कार्यों मे सन्नद्ध होने के लिए प्रेरित करता है । यह मित्र को सम्बोधित एक मन्त्र मे कहा गया है, जो सूर्य या आदित्य का ही एक अन्य रूप है ।[1] उसे जड-चेतन का आत्मा भी कहा गया है ।[2] दूसरी बात यह है कि आदित्य का भी यज्ञ मे विशेष स्थान है । यहाँ तक कि आह्वनीयाग्नि के पूर्व की ओर परिधि न रखकर वहाँ आदित्य की ही साक्षात् भावना कर ली जाती है ।[3] आज भी आदित्य को साक्षात् देव के रूप मे स्वीकार किया जाता है । इन सभी तर्कों से यह प्रमाणित होता है कि ऋषि द्वारा प्रथम मन्त्र मे प्रतिपादित प्रथम भ्राता "आदित्य" ही है । यह द्युलोक का स्वामी है, जो सभी लोको मे सर्वोच्च स्थान पर प्रतिष्ठित है । इसे सत्यलोक भी कहा जाता है ।

अन्न ग्रहण करना जीवन के लिए परमावश्यक है । इसीलिए यह जीवन का दूसरा प्रमुख लक्षण है । भूतो मे प्राण का अस्तित्व आते ही अन्न तथा अन्नाद का नियम प्रवर्तित हो जाता है । शरीर की दृष्टि से इसे अग्नि के रूप मे स्वीकार किया जा सकता है । यह प्राण या अग्नि "अन्नाद" है । सोम ही इसका अन्न है । फल, शाक, धान्य, दुग्ध इत्यादि समस्त भोज्य पदार्थ सोम के ही विभिन्न रूप है । सोम का भक्षण करके ही जठराग्नि तृप्त होता है । जन्म से लेकर मृत्यु पर्यन्त यह क्रम चलता रहता है । स्थूल अन्न से सूक्ष्म शक्ति का निर्माण शरीर के अन्दर अनेक यन्त्रो की विचित्र रासायनिक प्रक्रियाओ द्वारा होता है । छोटी पिपीलिका से लेकर हाथी पर्यन्त सभी के शरीरो का यही शाश्वत नियम है । वृक्ष तथा वनस्पतियो मे भी यही नियम प्रवर्तमान है । बाहर से जो भी अन्न ग्रहण किया जाता है, पचने के बाद उससे शक्ति निर्मित होती है तथा उसका एक भाग उच्छिष्ट के रूप मे शरीर से बाहर निकल जाता है । अन्न का जो अश, जठराग्नि शक्ति तथा शरीर-संवर्द्धन के लिए अपने ही केन्द्र मे आत्मसात् कर लेता है, उसे "ब्रह्मौदन" कहा जाता है । शरीरस्थ वैश्वानर

---

1 मित्रो जनान् यातयति ब्रुवाण । ऋग्वेद 3 59.1

2 सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च । वही, 1 115 1

3. (क) न पुरस्तात् परिदधात्यादित्यो ह्येवोद्यन् पुरस्ताद् रक्षास्यपहन्ति ।
तैत्तिरीय संहिता - 2.6.6.3

(ख) गुप्त्यै वा अभित परिधयो भवन्त्यथैतत् सूर्यमेव पुरस्ताद् गोप्तार करोति ।
शतपथब्राह्मण 1.3.4.8.

अग्नि ही "ब्रह्म है तथा इसका जो भी पदार्थ भक्ष्य है वह "ओदन" है । "ब्रह्मौदन" अन्नाद के रूप मे है, क्योंकि वह अन्न का भक्षण करता है । "ब्रह्मौदन" के साथ "प्रवर्ग्य" भी रहता है । प्राणी के शरीर से बाहर किये गए अन्न के अश को ही "प्रवर्ग्य" कहते है । इस दृष्टि से यह पूरा विश्व ही ब्रह्म का उच्छिष्ट या "प्रवर्ग्य" है । ऋषि द्वारा प्रतिपादित द्वितीय भ्राता भक्षणशील है । उसे "अन्नाद" के रूप मे माना जा सकता है । इस दृष्टि से उसे वैश्वानर अग्नि भी कहा जा सकता है ।

वस्तुत मध्यमभ्राता के लिए ऋषि द्वारा दिये गए विशेषण "अश्न " का अर्थ "अशूङ् व्याप्तौ" इस धातु से मानते हुए "व्यापक" या "सर्वत्र व्याप्त" करना अधिक समीचीन प्रतीत होता है । "द्युलोक" के पुरोहित "आदित्य" की प्रतिष्ठा प्रथम भ्राता के रूप मे हो जाने के उपरान्त साधारणत प्रसिद्ध मध्यम लोक या अन्तरिक्ष लोक का नाम आना स्वाभाविक है । इसका अधिपति या पुरोहित वायु है । वह सर्वत्र विचरिष्णु तथा व्याप्त है ।[1] जहॉ तक "अश्न " का अर्थ "भक्षणशील" करने से है, यह वायु के लिए भी अयुक्त नही प्रतीत होता, क्योंकि वायु का धर्म शोषण करना या सुखाना है।[2] इस प्रकार रसो को अवशोषित करना भी भक्षण का ही एक रूप है । अत "वायु" को ही द्वितीय भ्राता के रूप मे मानना अधिक उचित प्रतीत होता है ।

मन्त्र मे तृतीय भ्राता के लिए "घृतपृष्ठ" विशेषण का प्रयोग किया गया है । जीवन के तत्त्वो की दृष्टि से विचार करने पर "प्रजनन" तीसरे प्रमुख तत्त्व के रूप मे हमारे सामने आता है । "अथर्ववेद" के अनुसार जब पुरुष के शरीर का निर्माण होने लगा, तब जिस "रेतस्" या शुक्रतत्त्व से शरीर बना, उसी के माध्यम से देवगण पुरुष के शरीर मे प्रविष्ट हुए ।[3] "तैत्तिरीय" एव "शतपथ ब्राह्मण" मे "प्राण" एव "रेतस्" को ही "आज्य" कहा गया है ।[4] "आज्य" तथा "घृत" मे कोई भेद

---

1 यथाकाशस्थितो नित्यं वायु सर्वत्रगो महान् । श्रीमद्भगवद्गीता – 9 6

2 न शोषयति मारुत । वही, 2.23, इससे वायु का शोषकत्व स्फुट है.

3 रेत कृत्वाज्य देवा पुरुषमाविशन् । अथर्ववेद – 11 8.29

4 (क) प्राणो वै आज्यम् । तैत्तिरीय ब्राह्मण – 3 8 15 2 3.

(ख) रेतो वै आज्यम् । शतपथ ब्राह्मण 1 3 1 18 तथा 1 5.3.16

(ग) एतद् वै देवाना प्रियं धाम यदाज्यम् । वही, 13 3 6 2

नही है । विभिन्न "ब्राह्मण" ग्रन्थो मे उपलब्ध लक्षणो के अनुसार "आज्य" तथा "घृत" एक ही पदार्थ है ।[1] प्रस्तुत सूक्त मे भी जगत् की उत्पत्ति के लिए आवश्यक शुक्रतत्त्व को "रेतस्" कहा गया है।[2] इसी को "प्रत्न रेतस्" भी कहा जाता है । यह इस प्रकार का अनादि, अनन्त और शाश्वत "रेतस्" तत्त्व है, जिसके द्वारा एक ओर अखिल विश्व की तथा दूसरी ओर उसी के अङ्गभूत समस्त प्राणियो की उत्पत्ति हो रही है । यही रेतस् या घृत प्रजनन का प्रतीक है । इसी के द्वारा प्राण या जीवन तत्त्व का तीसरा नियम निर्दिष्ट होता है । जहाँ भी जीवन का अस्तित्व है, वहाँ रेतस् या प्रजनन अवश्यम्भावी है । जीवन का यही स्वभाव है कि वह जिस "बीज" से उत्पन्न होता है, स्वय भी परिपक्व होने पर उसी प्रकार के "बीज" का निर्माण करता है । बीज से प्रारम्भ करके पुन बीज तक पहुँचना ही जीवन का चक्र है । जो बालक बीज से जन्म लेता है, वह पहले कच्चा रहता है, किन्तु बीज की सत्ता उसकी शारीरिक धातु मे अवश्य रहती है । वही कच्चा बीज उसके युवा होने पर पक जाता है । पका हुआ बीज अपने ही जैसे बीज को उत्पन्न करने की क्षमता रखता है । यही यौवन का प्रभाव है । बाल्य, युवा तथा वृद्धावस्था, ये तीनो ही जीवन रूपी सवत्सर की तीन ऋतुएँ है । जीवन को यदि गायत्री शक्ति कहा जाए, तो आयु की तीन अवस्थाएँ ही उसकी तीन समिधाएँ है, जिनके प्रज्वलन से प्राण अपना स्वरूप प्रकट करता है । शरीर–रचना की दृष्टि से विचार करने पर यह ज्ञात होता है कि इसके लिए सात धातुओ का होना परमावश्यक है । ये सातो – रस, रक्त, मास, मेदस्, अस्थि, मज्जा और शुक्र है ।[3] इनमे शुक्र–निर्माण हेतु पूर्व के छ तत्त्व क्रमश सम्मिलित रहते है । शुक्र ही केन्द्रीय नाडी–जाल का सिञ्चन करते हुए मस्तिष्क को पोषण और शक्ति देता है । इस प्रकार मन्त्र मे आए तीसरे भाई को "प्रजनन" तत्त्व के रूप मे समझा जा सकता है ।

---

1 (क) तेजो वा एतत्पशूना यद् घृतम् । ऐतरेय ब्राह्मण 8 20.

(ख) आग्नेय वै घृतम् । शतपथब्राह्मण 8.4.1 41 तथा 9.2 2.3

(ग) सर्व दैवत्य वै घृतम् । कौशीतकि 21 4

(घ) रेतो वै घृतम् । शतपथब्राह्मण 9.2 3 44

(ङ) रेत सिक्तिर्वै घृतम् । कौ. 16 5.

2 सप्तार्धगर्भा भुवनस्य रेत । ऋग्वेद 1.164 36

3 रसासृङ् मासमेदोऽस्थिमज्जाशुक्राणि धातव । सुश्रुत–संहिता

देववादी दृष्टि से विचार करने पर आदित्य तथा वायु के दो लोको – द्युलोक तथा अन्तरिक्ष का प्रज्ञापक होने पर तीसरे तथा प्रमुख पृथिवी लोक का स्वरूप हमारे सम्मुख स्वत. आता है । यहाँ का प्रत्यक्ष देव अग्नि ही है । उसके लिए मन्त्र मे आया "घृतपृष्ठ" शब्द युक्तियुक्त प्रतीत होता है । हवन हेतु जो भी हविष्य तैयार किया जाता है, वह घृताक्त ही होता है । इसके अतिरिक्त पृथक् रूप से घी का स्वतन्त्र हवन भी किया जाता है । अत "घृतपृष्ठ" विशेषण द्वारा निश्चित रूप से ऋषि का अभिप्राय अग्नि के लिए ही है । इस प्रकार मन्त्र मे वर्णित तीन भ्राता – आदित्य, वायु एव अग्नि ही प्रमाणित होते हैं । 'विश्पति' विशेषण आदित्य का है । वही समस्त प्रजाओ – प्राणियो का स्वामी है । "सप्तपुत्र" द्वारा आदित्य की ही सात रश्मियों को निर्दिष्ट किया गया है । इसे दार्शनिक दृष्टि से मन, प्राण और पञ्चमहाभूतो के रूप मे भी कल्पित किया जा सकता है । ये सात तत्त्व ही शरीर रूपी यज्ञ के होता है । ये परस्पर भिन्न है । इनमे मन सबसे अधिक सूक्ष्म है । मन की अपेक्षा "प्राण" कम सूक्ष्म है तथा इसकी अपेक्षा आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी भी उत्तरोत्तर स्थूल होते जाते है । इन पञ्चमहाभूतो का सम्मिलित सङ्केत "वाक्" है । वाक् या शब्द, आकाश का गुण है और यह आकाश इन पाचों मे सूक्ष्म होने के कारण सभी का सूचक है । मन्त्र मे आए "अत्र अपश्यम्" पद द्वारा यह ज्ञात होता है कि ऋषि ने तात्त्विक साक्षात्कार कर लिया है और वह साक्षात्कार सबके लिए इस लोक मे ही सम्भव है ।

"त्रिक" और "सप्तक" वैदिक परिभाषाओ के सूत्र है । जो मूल मे एक है, वही सर्वप्रथम "त्रिक" भाव को प्राप्त करता है । इसके बाद त्रिक से ही मन, प्राण और पञ्चभूतो के योग से सप्तधा रूप निर्मित हो जाता है । जो तत्त्व शरीर के लिए "प्राणाग्नि" है, वही ब्रह्माण्ड की दृष्टि से सूर्य हो जाता है । इसीलिए सूर्य को प्रजाओ का प्राण कहा गया है ।[1] वह न केवल किसी लोक–विशेष का ही इष्ट है, अपितु वह प्राणिमात्र के लिए समान रूप से हितकर एव उपादेय है । इसीलिए तीनो भ्राताओ मे उसे सर्वोच्च रूप में प्रतिष्ठित किया गया है । मूलत इस सम्पूर्ण सृष्टि मे आदित्य, वायु तथा अग्नि – ये तीनो भ्राता अनुप्रविष्ट है । इसीलिए इनका उपपादन ऋषि द्वारा प्रथम मन्त्र मे ही कर दिया गया है । वेङ्कटमाधव ने भी इन्ही तीन को तीन भ्राताओ के रूप मे स्वीकार किया है ।[2]

---

1 प्राण प्रजानामुदयत्येष सूर्य । प्रश्नोपनिषद् 1.8.

2 द्रष्टव्य – ऋग्वेद 1 164 1 पर वेङ्कटमाधव का भाष्य

ऋषि ने सूक्त के चौवालीसवे मन्त्र मे भी तीन, केशी अर्थात् किरणो वाले देवताओ की चर्चा की है । उनमे से एक सवत्सर मे एक बार अपना भाग ग्रहण करता है । दूसरा अपनी किरणों से विश्व का निरीक्षण करता है तथा तीसरे की केवल गति दिखाई देती है, रूप नही ।

उक्त देवताओ के स्वरूप पर विचार करने पर यह ज्ञात होता है कि प्रथम मन्त्र मे वर्णित तीनो भ्राता ये ही है । सवत्सर मे अपना भाग ग्रहण करने वाला भ्राता अग्नि है, क्योकि यज्ञार्थ वर्ष मे एक बार अग्नि समिद्ध करने के बाद प्रतिदिन उसी के माध्यम से अग्निहोत्रादि कर्म सम्पन्न किये जाते है । अपने कर्मों या किरणो से जगत् का निरीक्षण करने वाला देव स्पष्टत सूर्य या आदित्य ही है । तीसरे भ्राता (जो प्रथम मन्त्र मे मध्यम भ्राता के रूप मे प्रतिष्ठित है) की केवल गति दृष्टिगत होती है, अत वह वायु ही है, क्योकि उसका रूप नही प्रत्यक्ष होता, मात्र स्पर्शादि से हम उसके अस्तित्व को जान पाते है । इस प्रकार ऋषि ने प्रथम मन्त्र मे जिन तीन देवताओ को भ्रातृरूप मे प्रतिष्ठित करना चाहा है, उन्हे ही चौवालीसवे मन्त्र मे और स्पष्ट शब्दो मे व्यक्त किया है ।

(2) **रथ–निरूपण** :– ऋषि ने प्रथम मन्त्र मे आदित्य, वायु तथा अग्नि का भ्राताओ के रूप मे निरूपण करने के उपरान्त द्वितीय तथा तृतीय मन्त्र मे रहस्यात्मक भाषा मे "रथ" का निरूपण किया है । वह "रथ" एक चक्र वाला है । सायण के अनुसार यद्यपि रथ तीन चक्रो वाला है, तथापि उन चक्रो के एकरूपात्मक होने के कारण मन्त्र मे उसे एक चक्रवाला ही कहा गया है ।[1] उन्होने इसका एक वैकल्पिक अर्थ प्रस्तुत करते हुए बताया है कि वह रथ एक चक्रवाला अर्थात् अकेले ही चलने वाला आदित्यमण्डल ही है ।[2] आत्मानन्द ने आध्यात्मिक अर्थ प्रस्तुत करते हुए रथरूपकल्पित शरीर को ही रथ माना है । वह "रथ" एक चक्रवाला इसलिए है कि मात्र काल ही चक्र के समान उसे भ्रमण कराता है ।[3] कठोपनिषद् मे भी "शरीर" को "रथ" के रूप मे ही कल्पित किया गया

---

1 एकचक्रम् एकरथाङ्गोपेतम् । यद्यपि त्रीणि चक्राणि तथापितेषामेकरूपत्वादेकचक्रमित्युच्यते । ऋग्वेद 1.164.2 पर सायणभाष्य

2 यद्वा एकचक्रमेकचारिणमसाहाय्येन सञ्चरन्त रथमादित्यमण्डलम् । वही.

3 रथ रथरूपकल्पित शरीरम् । एकचक्रम् एक काल चक्रवद्भ्रामको यस्य तम् । वही, आत्मानन्दभाष्य

है ।[1] वेड्कटमाधव ने काल को रथ तथा सवत्सर को "एकचक्र" माना है ।[2] तीसरे मन्त्र मे "रथ" को सात चक्रो वाला बताया गया है । सायण ने चलने या क्रमण करने के कारण सूर्य की सात किरणो को ही सात चक्रो के रूप मे स्वीकार किया है[3], जबकि आत्मानन्द ने पूर्वमन्त्र मे आए एक चक्रवाले रथ को सूक्ष्म देह तथा इस सात चक्रो वाले रथ को स्थूल देह के साथ सम्बद्ध किया है । उनके अनुसार जो सात अड् ग हैं, उन्ही से अधिष्ठित सात चक्रो वाला स्थूल शरीर है ।[4] उन्होने द्वितीय मन्त्र के भाष्य मे जिन पञ्च तन्मात्रो, महत् तथा अहड्कार को सात अश्वो के रूप मे माना है, सम्भवत उन्हे ही यहाँ सप्ताड्गो के रूप मे कल्पित किया गया है । वेड्.कटमाधव ने "सप्तचक्र" का अर्थ "सप्तर्तुचक्र" अर्थात् सात ऋतुओ के चक्रवाला किया है ।[5] सातवलेकर जी ने आदित्यमण्डल को ही गतिशील रथ तथा सूर्य को एकमात्र चक्र माना है ।[6]

द्वितीय मन्त्र मे ही रथ को ढोने वाले सात घोडो को, पुनश्च सात नामो वाले एक ही घोडे को वाहक बताया गया है । आगे तीसरे मन्त्र मे स्पष्टत सात अश्वो को ही रथ का वाहक माना गया है । आदित्यमण्डल को रथ मानते हुए सायण ने सात घोड़ो को सर्पणस्वभाव वाली या सात सड्ख्यात्मक रश्मियाँ माना है । उन्होने सात प्रकार के कार्य वाली असाधारण तथा परस्पर विलक्षण छ ऋतुओ के साथ एक साधारण ऋतु की कल्पना करते हुए सात सख्या का उपपादन किया है । अथवा दो–दो महीनो की अवधि वाली छ ऋतुओ के साथ अधिकमास को भी एक पृथक् ऋतु मानकर सात ऋतुए हो जाती है । वह अकेला "अश्व" अर्थात् व्यापनशील आदित्य ही सप्तनामा अर्थात् सात रसो की सन्नमयिता किरणो से युक्त होकर अथवा सप्तर्षियो से स्तुत होते हुए रथ को वहन करता

---

1 शरीर रथमेव च । कठोपनिषद् 3.3

2 कालरथ सवत्सरैकचक्रम् । ऋग्वेद 1.164.2 पर वेड्कटमाधव–भाष्य

3 चकनाच्चरणात् क्रमणाद्वा चक्राणि रश्मय । वही, 1 164 3 पर सायणभाष्य.

4 सूक्ष्मदेहमाश्रित्योक्तम् । अथ स्थूलदेहमाश्रित्योच्यते । इमं प्रत्यक्षादिसन्निहित रथ स्थूलदेहम् अधि अधिष्ठाय आश्रित्य ये तस्थु । यानि सप्ताड्गानि वर्तन्ते तैरेव सप्ताड्गै सप्तचक्रो देह । वही, आत्मानन्द–भाष्य

5. वही, वेड्.कटमाधव–भाष्य.

6. वही, 1 164.2 पर सातवलेकर जी का सुबोध भाष्य

है । इस प्रकार सायण ने आदित्य को ही एकमात्र अश्व माना है, जो इस रथ को वहन करता है । उनके अनुसार सात घोडो का तात्पर्य सात किरणो से है ।[1] उन्होने वैकल्पिक रूप से वायु को भी अश्व माना है ।[2] आत्मानन्द सूक्ष्म शरीर रूपी रथ के लिए पञ्च तन्मात्रो तथा महत् एव अहड्कार को सात अश्वो के रूप मे स्वीकार करते है, जबकि एक अश्व के रूप मे वे मात्र "अहड्कार" को ही मानते है ।[3] दार्शनिक दृष्टि से अहड्कार को "अश्व" के रूप मे वाहक मानना उचित प्रतीत होता है, क्योकि व्यक्ति इसके द्वारा ही कही भी प्रवृत्त होता है । स्थूल शरीर रूपी रथ के लिए आत्मानन्द ने रजस् तथा तमस् के साथ पञ्च कर्मेन्द्रियो को सात अश्वो के रूप मे स्वीकार किया है। सायण आदित्यमण्डल रूपी रथ के लिए तो सात किरणो को उसमे अधिष्ठित मानते है, किन्तु सवत्सर रूपी रथ के लिए उन्होने अयन, ऋतु, मास, पक्ष, दिवस, रात्रि तथा मुहूर्त्त को सवत्सर मे अधिष्ठित माना है ।[5] ग्रिफिथ ने भी सायण का ही अनुगमन किया है ।[6]

द्वितीय मन्त्र के तीसरे चरण मे रथ को "त्रिनाभि" अर्थात् तीन नाभियो वाला कहा गया है । ये तीन नाभियाँ कौन सी है ? इस सम्बन्ध मे भी विद्वानो मे मतभेद है । सायण ने इसका अर्थ "तीनो

---

1 सर्पणस्वभावा सप्तसख्याका वा रश्मय । सप्तप्रकारकार्या असाधारणा परस्परविलक्षणा षड् ऋतव । एक साधारण इत्येवम्। अथवा मासद्वयात्मका षट्। अपरोऽधिकमासात्मक इत्येव सप्तर्तवो युञ्जन्ति। स चैकोऽसहायोऽश्वो व्यापनशील आदित्य सप्तनामा सप्तरसाना सन्नमयितारो रश्मयो यस्य तादृश सप्तर्षिभि स्तूयमानो वादित्यो वहति धारयति।
ऋग्वेद 1 164 2 पर सायणभाष्य

2 एक एव वायु सप्तरूप धृत्वा वहतीत्यर्थ । वाय्वधीनत्वादन्तरिक्षसञ्चारस्य । वही

3 तन्मात्रा पञ्च । महदहमौ च द्वौ । एवं सप्त युञ्जन्ति । . एक एव अहड्कारो–
–ऽश्वस्थानीयो वहति चेष्टयति । वही आत्मानन्दभाष्य

4 सप्त अश्वा रजस्तम सहितानि पञ्चकर्मेन्द्रियाणि वहन्ति गमयन्ति चालयन्ति ।
ऋग्वेद 1 164 3 पर आत्मानन्दभाष्य

5 ये सप्त रश्मय अधि तस्थु अधिष्ठिता । सवत्सरपक्षेऽयनर्तुमासपक्षदिवसरात्रिमुहूर्त्ताख्या. सप्तावयवा अधितिष्ठन्ति । वही, सायणभाष्य

6 वही, 1 164 3 पर ग्रिफिथ की टिप्पणी

वलयो के मध्य मे स्थित नाभिस्थानीय तीन छिद्रो से युक्त" किया है । उन्होने आदित्यमण्डल रूपी रथ के पक्ष मे तीन नाभिस्थानीय सन्ध्याओ को अथवा ग्रीष्म, वर्षा, हेमन्त सञ्ज्ञक तीन ऋतुओ को अथवा भूत, भविष्य और वर्तमान, इन तीन कालो को तीन नाभियाँ माना है ।[1] आत्मानन्द ने भी इसे तीन कालो से सम्बद्ध करते हुए प्रकृति से पर, प्रकृति से सन्निहित तथा शुद्ध ब्रह्म से अर्वाचीन – इन तीन कालो को स्वीकार किया है ।[2] वेङ्कटमाधव ने चक्र को सवत्सर तथा तीन नाभियो को तीन ऋतुएँ माना है ।[3]

तीसरे मन्त्र के तीसरे चरण मे "सात बहनों" की चर्चा आई है । सायण ने "स्वसार " का अर्थ "स्वय सरण करने वाली" किया है । अथवा "स्व ", आदित्य है तथा उस आदित्य से सारित या परस्पर स्वसृभूत सात किरणे या सात ऋतुएँ ही सात बहने है ।[4] आत्मानन्द ने धर्म और अधर्म सहित पञ्च ज्ञानेन्द्रियो को ही भगिनीस्थानीय माना है । ये सातो अन्य इन्द्रियशक्तियो के प्रति प्रवर्तित होती है । उन्होने इतर इन्द्रियशक्तियो के रूप मे रजस् और तमस् सहित पञ्च कर्मेन्द्रियो को मानते हुए मन्त्र के अन्तिम चरण मे आए "गवाम्" पद से उभयविध इन्द्रियो तथा धर्म, अधर्म, रजस् और तमस् इन सबका ग्रहण किया है । सात नाम इन सबके देवताविषयक तथा पृथक्–पृथक् है ।[5] सायण ने

---

1 वलयत्रयमध्यस्थितनाभिस्थानीयच्छिद्रत्रयोपेतम् । तिस्रो नाभिस्थानीया सन्ध्या सम्बद्धा वा त्रय ऋतवो यस्य तादृशम् । के ते । ग्रीष्मवर्षाहेमन्ताख्या । यद्वा भूतभविष्यद्वर्तमानाख्या त्रय कालास्त्रिनाभय । ऋग्वेद 1 164 2 पर सायणभाष्य.

2 त्रिधा हि कालो भिद्यते । प्रकृते पर प्रकृतिसन्निहित शुद्धब्रह्मणोऽर्वाचीन । वही, आत्मानन्दभाष्य

3 वही, वेङ्कटमाधव–भाष्य

4 स्वयसरणा । स्वरादित्य । तेन सारिता परस्पर स्वसृभूता वा सप्तसख्याका वा रश्मय ऋतवश्च । ऋग्वेद 1 164 3 पर सायणभाष्य

5 सप्त धर्माधर्मसहितानि ज्ञानेन्द्रियाणि स्वसारो भगिनीस्थानीयानि इतरेन्द्रियशक्तीनाम् अभि आभिमुख्येन स नवन्ते प्रवर्तन्ते । यत्र विषये गवा रजस्तम सहिताना कर्मेन्द्रियाणा तथा धर्माधर्मसहिताना ज्ञानेन्द्रियाणां च निहिता नितरा हितानि अनुकूलानि सप्तसख्याकानि नाम नामानि दैवतानि इन्द्रियदेवता । वही, आत्मानन्द का भाष्य

"गवाम्" का अर्थ "स्तुतिरूपा वाणी" तथा इनके सात नामो को सात स्वरों के रूप मे सात प्रकार का नमन माना है । तात्पर्य यह है कि वह "रथ" सात स्वरो से युक्त "सामों" द्वारा स्तुत्य है । अथवा "गवाम्" पद उदकवाची है, अत इन जलो के सात नाम अर्थात् सात नमन के प्रकार सातो बहनो मे निहित है ।[1] ग्रिफिथ ने दूसरे मन्त्र के प्रारम्भ मे आए "सप्त" का अर्थ – सात पुरोहित, एकचक्र का – सूर्य, सप्तनामा का – सात किरणे, त्रिनाभि का – ग्रीष्म, वर्षा तथा शरद् तथा तीसरे मन्त्र मे आए "सप्तस्वसार " का अर्थ – सात द्युस्थानीय नदियाँ किया है, जो उत्पादकता की प्रतीक होने के कारण "गो" कही जाती है । उन्होने अन्य स्थलो पर प्राय सायण का ही अनुगमन किया है ।[2]

उक्त दोनो मन्त्रो के माध्यम से रथ का जो स्वरूप हमारे सम्मुख आया है, उसके अनुसार सात घोडे एक ही चक्र वाले रथ मे जुते हुए है । वस्तुत सात नामो वाला एक ही अश्व उसे वहन करता है (मन्त्र 2) । आगे चलकर सात वाहको को पहले से ही रथ मे स्थित बताते हुए उन्हे सात

---

1 गवा वाचा स्तुतिरूपाणा सप्त सप्तविधानि नाम नामानि नमनानि सप्तस्वरूपाणि निहितानि । सप्तस्वरोपेतै सामभि स्तुत्य रथम् इत्यर्थ । यद्वा गवामुदकाना सप्त सर्पणस्वभावानि नाम नामानि यत्र यासु स्वसृषु निहितानि स्वसार परस्परस्वसृभूता देवनद्योऽभिसं नवन्ते ।
ऋग्वेद 1 164 2 पर सायणभाष्य

2 (क) **Seven** : priests. **The One-wheeled chariot** : the Sun. **Seven names** : perhaps the seven solar rays. **Three-naved:** with reference, probably, to the three seasons, the hot weather the rains, and the cold weather.
ग्रिफिथ – ऋग्वेद 1 164 2 पर टिप्पणी.

(ख) **Seven sisters:** probably the seven celestial rivers, which, as emblems of fertility may bear the name of cows.
वही, ऋग्वेद 1 164 3 पर टिप्पणी

चक्रो वाले रथ के वाहक अश्व बताया गया है । सात बहने स्तुति कर रही है और "गो" के सात नाम "रथ" मे निहित बताए गए है (मन्त्र 3), जबकि द्वितीय मन्त्र मे सारे लोको को रथ मे अधिष्ठित बताया गया है । इन मन्त्रो द्वारा एक बात सुस्पष्ट है कि ऋषि को "सात" सड् ख्या इष्ट है तथा उन्होने जहॉं कही भी इसका प्रयोग किया है, वह एक ही अर्थ का आधायक है । द्वितीय मन्त्र मे यह सड् ख्या दो बार तथा तृतीय मे पॉंच बार आई है । यदि प्रथम मन्त्र मे विवेचित "आदित्य" को आधार माना जाए तो, रथ के रूप मे "आदित्यमण्डल" की कल्पना उचित है । ऐसी स्थिति मे "आदित्यमण्डल" को ढोने वाली सात किरणे सदा उसी मे स्थित रहती है तथा जातिगत ऐक्य (किरणत्व) के कारण उन्हे सात नामो वाले एक ही अश्व के रूप मे भी कल्पित किया जा सकता है । जबकि आदित्य, वायु एव अग्नि तीनो भ्राता है, अत आदित्यमण्डल रूपी रथ के ये तीनो ही तीन नाभिया है । अग्नि सारूप्य के कारण नाभि हो सकता है तथा वायु सबका सवाहक है अत रथ उसके साहाय्य के बिना गतिशील नही हो सकता । तीसरी नाभि आदित्य स्वय ही है, क्योकि उसके बिना आदित्यमण्डल की कल्पना ही नही की जा सकती है । सात किरणे सदा उस रथ मे विद्यमान रहती है । इन्ही के कारण वह रथ सात चक्रो वाला है तथा ये ही उसके सात घोडे भी है । ये सात किरणे ही सात बहने है तथा सड् गीत के सात स्वरो के माध्यम से वे आदित्यमण्डल रूपी रथ की स्तुति करती है । इस प्रकार वेद रूपी वाणी के स्वररूपी सात नाम उस रथ मे ही अधिष्ठित है । तात्पर्य यह है कि वाणी का प्रतिपाद्य वह मुख्य भ्राता आदित्य, किञ्च आदित्यमण्डल है ।

ससार का सबसे बडा रहस्य स्वय ससार ही है । इसे समझ पाना अत्यन्त दुष्कर है । इसको समझने के लिए "काल" को जानना आवश्यक है । ऐसा प्रतीत होता है कि ऋषि सवत्सर के रूप मे काल को, अथ च इस ससार की गतिशीलता एव परिवर्तनशीलता को निरूपित करना चाहता है। सवत्सर का विभाजन विभिन्न ऋतुओ, कालो इत्यादि के रूप मे किया जा सकता है । "पुरुष सूक्त" मे भी वसन्त, ग्रीष्म और शरद् ऋतु को सृष्टि यज्ञ के निष्पादनार्थ "आज्य", "इध्म" तथा "हवि" के रूप मे कल्पित करना सम्भवत सवत्सर की ओर निर्देश करना ही है ।[1] "अघमर्षण सूक्त" मे तो स्पष्टत "सवत्सर" की उत्पत्ति बताई गई है ।[2] अत सम्भव है, यहॉं भी ऋषि ने जगत् की अवधारणा के

---

1 ऋग्वेद 10 90 6

2 वही, 10 90 2

पीछे सवत्सर रूपी काल को ही रथ के रूप मे प्रतिपादित करना चाहा हो । इस स्थिति मे सवत्सर रूपी रथ के लिए अयन, ऋतु, मास, पक्ष, दिवस, रात्रि और मुहूर्त्त को सात घोडो के रूप मे माना जा सकता है । ये ही सवत्सर को आगे बढाते है । यद्यपि ये सड्ख्या मे सात है, तथापि इनका उद्देश्य एक ही होने के कारण इन्हे एक चक्र अथवा सात भिन्न-भिन्न नामो वाले एक ही अश्व के रूप मे स्वीकार किया जा सकता है । इसकी तीन नाभियॉ भूत, भविष्य और वर्तमान है । इनमे से किसी एक का ग्रहण करने पर भी शेष दोनो स्वत उपस्थित हो जाते है । इस प्रकार सवत्सररूपी रथ का चक्र इन तीन नाभियो से युक्त है । उक्त सातो मे अथवा एक चक्र मे भी ये तीनो काल अनुस्यूत है । इसी सवत्सर रूपी रथ मे सारे लोक स्थित है । अश्वस्थानीय या चक्रस्थानीय ये सातो, रथ मे सदा अधिष्ठित रहते हुए इसका वहन करते है । ये परस्पर तारतम्य के कारण स्वसृभूत है तथा सड्गीत के सात स्वरो द्वारा रथ की स्तुति करते है अर्थात् रथ के कार्य-सम्पादन मे सन्नद्ध रहते है । ऋषि की वेद रूपी वाणी के सप्तस्वरात्मक नाम इस रथ मे ही निहित है । अथवा गायत्री इत्यादि सात छन्दो की चरितार्थता सवत्सर रूपी रथ के सम्यक् उपपादन मे ही निहित है ।

जहॉ तक आत्मानन्द द्वारा विवेचित रथ के सूक्ष्म तथा स्थूल शरीरपरक अर्थ का प्रश्न है, दार्शनिक दृष्टि से उसका भी ग्रहण किया जा सकता है । उस रूप मे महत्, अहड्कार तथा पञ्चतन्मात्रो और धर्म, अधर्मसहित पञ्च ज्ञानेन्द्रियो अथवा रजस्-तमस् सहित पञ्च कर्मेन्द्रियो को सप्ताश्वो, सप्तचक्रो, सप्तस्वसाओ तथा सप्तनामो के रूप मे कल्पित किया जा सकता है ।

सूक्त के द्वितीय तथा तृतीय मन्त्र मे रथ की जो अवधारणा ऋषि द्वारा प्रस्तुत की गई है, उसका पल्लवन मन्त्र सड्ख्या ग्यारह से लेकर पन्द्रह तक तथा पुन अडतालीसवे मन्त्र मे भी किया गया है । ग्यारहवे मन्त्र मे रथचक्र को बारह अरो-तीलियो वाला बताते हुए उसे कभी नष्ट न होने वाला तथा द्युलोक के चारो तरफ भ्रमण करने वाला बताया गया है । वह चक्र "ऋत" का है तथा उसमे मिथुनभाव से सात सौ बीस पुत्र स्थित है । सायण ने "ऋत" का अर्थ "उदक" करते हुए इसे सत्यस्वरूप "आदित्य का वाचक माना है । उन्होने बारह अरो को मेषादि बारह राशियो अथवा वर्ष के बारह महीनो के रूप मे स्वीकार किया है ।[1] आत्मानन्द ने "ऋत" का अर्थ परमात्मा करते हुए

---

1 ऋतस्य उदकस्य सत्यात्मकस्य आदित्यस्य द्वादशार द्वादशसड्ख्याकमेषादिराश्यात्मकै-
-र्मासात्मकैर्वा अरै रथाड्गावयवै युक्तम् । ऋग्वेद 1 164 11 पर सायणभाष्य

उनसे सम्बद्ध प्रकाशस्वरूपा ब्रह्मविद्या का अभाव होने पर कालचक्र के प्रभाव को स्वीकार किया है।[1] उनका तात्पर्य यह है कि जिन्हे ब्रह्मविद्या का ज्ञान नही होता, उन्हे ही कालचक्र अपने वश मे रखता है, ब्रह्मज्ञानी को यह प्रभावित नही करता । ग्रिफिथ ने सायण का अनुगमन करते हुए सात सौ बीस पुत्रो को वर्ष के तीन सौ साठ दिनो के दिन–रात का युग्म मानकर उपपन्न किया है । वे बारह अरो को वर्ष के बारह मास मानते हुए "ऋत" का अर्थ 'विधान" करते है ।[2]

प्रकृत स्थल पर भी सवत्सरात्मक चक्र की कल्पना की गई है । बारह महीने ही चक्र की बारह तीलियाँ है । यह कभी नष्ट नही होता है, सदैव एक समान चलता रहता है । दिन–रात के युग्म के रूप मे सात सौ बीस मिथुन पुत्रो की कल्पना भी स्पष्ट तथा उचित है । जहाँ तक "ऋत" का अर्थ करने का प्रश्न है, उसे यहाँ प्राकृतिक नियमो के विधायक के रूप मे स्वीकार करना चाहिए । चक्र का क्रमण अथवा सारे जगत् का व्यवहार "ऋत" की पृष्ठभूमि मे ही होता है । वही सबका प्रवर्तक है । मन्त्र के तीसरे चरण मे अग्नि को सम्बोधित किया गया है । ऐसा प्रतीत हो रहा है कि अग्नि के तेजोरूप मे विद्यमान सूर्य को सम्बोधित किया गया है अथवा यज्ञ के समय यह सम्बोधन साक्षात् यज्ञाग्नि के लिए प्रयुक्त किया गया है । वस्तुस्थिति चाहे जो भी रही हो, इसे सूर्य या अग्नि दोनों के ही सम्बोधन के रूप मे स्वीकार किया जा सकता है ।

सूक्त का बारहवाँ मन्त्र सूर्य से सम्बद्ध प्रतीत होता है । इसमे उसे "पिता" कहा गया है। वह पाँच पैरो तथा बारह आकृतियो वाला है तथा जल से युक्त है । उसे द्युलोक के ऊपर अर्थात् दूर

---

1 ऋतस्य सत्यस्य परमात्मन सम्बन्धिनी द्या द्योतमाना ब्रह्मविद्या परि ऋते विना वर्जयित्वा वर्तते । ब्रह्मविद्याया अभाव एव कालचक्रप्रभाव इत्यर्थ । वही, आत्मानन्द–भाष्य

2 (क) The wheel formed with twelve spokes is the year with its twelves months. The seven hundred and twenty sons, joined in pairs, are the days and nights of the year, three hundred and sixty of each.

(ख) This wheel of during order.

वही, ग्रिफिथ की टिप्पणी एव अनुवाद

स्थित बताया गया है । कुछ लोग उसे सात चक्रो तथा छ अरो वाले रथ पर अधिष्ठित विद्वान् या द्रष्टा के रूप मे बताते है । सायण ने पॉच पैरो का उपपादन हेमन्त और शिशिर को एक ही ऋतु मानते हुए पॉच ऋतुओ के रूप मे किया है ।[1] बारह आकृतियॉं बारह महीने ही है । सात चक्रो को तीसरे मन्त्र के समान सूर्य की सात रश्मियो अथवा अयन, ऋतु, मास, पक्ष, दिन, रात और मुहूर्त – वर्ष के इन सात अड् गो के रूप मे माना जा सकता है । सायण ने "उपरे" का अर्थ सवत्सर किया है ।[2] "विचक्षण" का अर्थ – विद्वान् अथवा विविध प्रकार से देखने वाला करना उचित है । "पुरीष" शब्द निघण्टु (1 12) मे उदकवाची शब्दो के साथ परिगणित है, अत "पुरीषिणम्" का अर्थ जलयुक्त करना चाहिए । इस दृष्टि से आदित्य का "वर्षकत्व" सूचित होता है । मन्त्र के पूर्वार्द्ध मे उसे द्युलोक के ऊपर स्थित तथा उत्तरार्द्ध मे रथारूढ स्पष्टद्रष्टा बताया गया है । जगत् के प्रधान कारण के रूप मे तो वह दूर स्थित है, किन्तु सबको देखने वाले के रूप मे रथ पर, किवा पास मे ही स्थित है । सूर्य द्वारा जगत् का निरीक्षण करना प्रत्यक्षत दृष्टिगोचर होता है ।[3]

आत्मानन्द ने पॉच पैरो को मूल प्रकृति के पॉच अवयवो अथवा पञ्चक्लेशो के रूप मे माना है ।[4] वस्तुत यहॉं सवत्सरात्मा रथ का ही निरूपण किया गया है । ऋषि बार–बार भिन्न–भिन्न प्रकार से रथ के वास्तविक स्वरूप को उद्घाटित करना चाहता है ।

तेरहवे मन्त्र मे भ्रमणशील तथा पॉच अरो वाले उस सवत्सरात्मक रथचक्र मे सारे लोको को स्थित बताया गया है । उसका अक्ष इतना शक्त है कि गुरु भार को ढ़ोते रहने पर भी उष्ण नही होता तथा इसकी नाभि सदा से ही एक समान है उसमे कोई विकार नही आता है । स्पष्ट है कि प्रकृत मन्त्र मे पॉच अर वे ही है, जो पिछले (बारहवे) मन्त्र मे पॉच पैर है । दूसरे मन्त्र के समान यहॉं भी सारे लोको को चक्र मे स्थित बताया गया है । यह कालचक्र सनातन काल से एक

---

1 पञ्चसड् ख्याकर्त्वात्मकपादोपेतम् । एतद्धेमन्तशिशिरयोरेकत्वाभिप्रायम् ।
ऋग्वेद 1 164 12 पर सायणभाष्य

2 उपरे । उपरमन्तेऽस्मिन्नुपरता प्राणिनोऽत्रेति वा उपर सवत्सर । वही, सायणभाष्य

3. देवो याति भुवनानि पश्यन् । ऋग्वेद 1 35 2

4 तस्य कालस्य मूलप्रकृतिरेव देह । तस्या पञ्चावयवा ।
अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशा पञ्चक्लेशा । वही, 1 164 12 पर आत्मानन्दभाष्य.

रूप मे ही चला आ रहा है । इसकी गति मे एकरूपता बनी हुई है तथा इसका कोई भी अङ्ग दुर्बल नही है । आत्मानन्द ने यहाँ पॉच अरो को कर्मेन्द्रिय, ज्ञानेन्द्रिय, तन्मात्र, प्राण और अन्त करण – इन पॉच अवयवो के रूप मे प्रतिपादित किया है ।[1]

चौदहवाँ मन्त्र भी रथचक्र को नेमिसहित सदैव भ्रमणशील प्रतिपादित करता है । इसका वैशिष्ट्य यह है कि इसमे दश घोडे युक्त किये गए है, जबकि तीसरे मन्त्र मे स्पष्टत सात घोडो का उल्लेख है । यहाँ सूर्य के नेत्रो को लोको से आवृत बताया गया है । तेरहवे मन्त्र के समान यहाँ भी रथ मे सारे लोको को अधिष्ठित बताया गया है । सायण ने इन्द्रादि पॉच लोकपालो तथा निषाद को लेकर ब्राह्मणादि पॉच वर्णों के योग से दशवाहको का उपपादन किया है । उन्होने "रजस्" शब्द का अर्थ वृष्टि का जल किया है ।[2] ग्रिफिथ इसे दिशाओ का क्षेत्र मानते है ।[3] वस्तुत यहाँ "रजस्" का अर्थ – लोको से लेना चाहिए । सायण ने भी सवितृ को ही सम्बोधित एक सूक्त मे इसका अर्थ – लोक किया है ।[4] अन्यत्र भी यह शब्द "लोक" के अर्थ मे प्रयुक्त है ।[5] आत्मानन्द ने ब्रह्मविद्या के कारणभूत दश योगो को दशवाहको के रूप मे उपन्यस्त किया हे ।[6] सवत्सर-चक्र का उपपादन होने से यहाँ दश अश्वो के रूप मे दश दिशाओ को स्वीकार करना अधिक सङ्गत प्रतीत होता है ।

स्थूल दृष्टि से देखने पर तो पन्द्रहवाँ मन्त्र अन्यविषयक प्रतीत होता है, किन्तु सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने पर यह भी सवत्सर-चक्र का ही प्रतिपादक है । इसमे सात तत्त्वो को एक साथ

---

1 कर्मेन्द्रियाणि ज्ञानेन्द्रियाणि तन्मात्राश्च प्राणाश्चान्त करणानि चेति राशय । एव पञ्चावयवा अस्य । ऋग्वेद 1 164 13 पर आत्मानन्द–भाष्य

2 रजसा वृष्ट्युदकेन । ऋग्वेद 1 164 14 पर सायणभाष्य

3 Probably the ten regions of space.
वही, ग्रिफिथ की टिप्पणी

4 द्रष्टव्य – ऋग्वेद 1 35 2 तथा 4 पर सायणभाष्य

5 वही, 1 35 9

6 श्रवण मनन सिद्धिर्यमो नियम आसनम् ।
प्राणायाम प्रतिक्षेपो धारण च समाधय ।
दश योगा इमे ब्रह्मविद्याया हेतव स्मृता ।। ऋग्वेद 1 164 14 पर आत्मानन्द–भाष्य

तथा एक ही तत्त्व से उत्पन्न बताया गया है । इनमे से छ युग्म है । "ऋषि" देवताओ से उत्पन्न है । इन तत्त्वो के अभीप्सित अर्थ, उन–उन स्थानो पर व्यवस्थित किए गए है । ये अनेक रूपो से युक्त होकर अपने अधिष्ठान के प्रयोजन की पूर्ति–हेतु गमनशील होते हैं । वस्तुत ये सातो ऋतुएँ एक साथ या एक ही सवत्सर से उत्पन्न हुई । इनमे छ ऋतुएँ दो–दो महीनो के योग से बनी है, अत वे युग्म कही जाती है । अधिकमास के रूप मे एक अन्य सातवी ऋतु की भी कल्पना की गई है । वह ऋतु अयुग्म है, किन्तु एक ही सवत्सर से उत्पन्न है अथवा अकेले उत्पन्न है । सायण ने "ऋषि" का अर्थ "गन्ता" करते हुए इन्हे देव अर्थात् आदित्य से उत्पन्न माना है ।[1] ऐसा प्रतीत होता है कि उन्होने ऋतुओ को ही "ऋषि" मानते हुए उनकी अहर्निश गतिशीलता को लक्ष्य करके उन्हे गन्ता अर्थात् गमनशील कहा है । वेङ्कटमाधव "ऋषि" का अर्थ "सर्वद्रष्टा" करते हुए इन्हे देव अर्थात् सवत्सर से उत्पन्न बताते है ।[2] यदि "ऋषि" के मूल अर्थ – मन्त्रद्रष्टा का ग्रहण किया जाए, तब भी इन्हे देवो से उत्पन्न कहने मे कोई विप्रतिपत्ति नही है, क्योंकि "पुरुष सूक्त" मे भी सृष्टियाग के प्रवर्तन के समय पहले देवो की चर्चा आई है, इसके बाद ऋषियो को याजक बताया गया है ।[3] अत बाद मे उत्पन्न होने के कारण इन्हे "देवज" कहा जा सकता है । ये सभी ऋतुएँ अपने–अपने स्थान पर व्यवस्थित है तथा अपना अभीष्ट अर्थ प्रदान करती है अथवा लोको के अभीष्ट का प्रतिपादन करती रहती है । इन सभी ऋतुओ की चरितार्थता अपने आश्रयभूत सवत्सर को प्रवर्तमान करने मे निहित है ।

आत्मानन्द ने प्रस्तुत मन्त्र मे लिङ्गशरीर का उपपादन किया है ।[4] सातवलेकर जी उसमे सात लोको की उत्पत्ति स्वीकार करते है । उनके अनुसार – "विश्व मे भू , भुव , स्व , मह , जन , तप , सत्यम् ये सात लोक उस एक ही प्रजापति से उत्पन्न होते है । इनमे भू , भुव , स्व –मह , और जन –तप ये जुडवे है और "सत्यम्" यह अकेला है, ये सभी ऋषि है और देवों से उत्पन्न होने वाले है । इनका अपनी–अपनी जगह यज्ञ चल रहा है । यद्यपि इनके रूप अलग–अलग

---

1 ऋषयः गन्तार. । ते च देवजा देवादादित्याज्जाता । ऋग्वेद 1 164.15 पर सायणभाष्य.

2. सर्वस्य द्रष्टार. सवत्सराद्देवाज्जाता । वही, वेङ्कटमाधव–भाष्य.

3. ऋग्वेद 10.90.6 एव 7.

4 द्रष्टव्य, ऋग्वेद 1 164 15 पर आत्मानन्द–भाष्य.

है, पर ये सब एक प्रजापति के आधार से रहते है । इसी प्रकार शरीर मे आँख, नाक, कान और रसना ये इन्द्रियाँ है । इनमे दो आँखे, दो नाक और दो कान ये जुडवे हैं और रसना यह अकेली है । ये सात ऋषि है और देवो से पैदा हुए है । सूर्य देव से आँख, दिशाओ से कान, अश्विनौ देवो से नाक और जल से रसना बनी है । ये सभी इन्द्रियाँ अपनी-अपनी जगह मानवजीवन रूपी यज्ञ रचा रही हैं । यद्यपि ये रूपो मे पृथक्-पृथक है, पर सभी एक आत्मा के आश्रय से इस शरीर मे रह रही है ।[1] सातवलेकर जी की उक्त व्याख्या तात्त्विक दृष्टि से तो उचित प्रतीत होती है, किन्तु प्रकृत स्थल पर यह एक कठिन कल्पना है । वस्तुत यहाँ ऋषि ने सवत्सर के अङ्गभूत ऋतुओ का ही प्रतिपादन भिन्न शैली मे किया है ।

दीर्घतमा को सवत्सर रूपी रथ का रूपक कितना प्रिय है, इसका ज्ञान इसी से हो जाता है कि प्रथमत उन्होने तीन भ्राताओ के निरूपण के पश्चात् ही दो मन्त्रो मे इसे उपन्यस्त किया है । इसके बाद ग्यारहवे से पन्द्रहवे मन्त्र तक पुन वाचोभङ्गियो के द्वारा उसी रथ का वर्णन किया है । पुनश्च सूक्त के अन्त मे अडतालीसवे मन्त्र मे भी पूर्ववर्णित रथविषयक अवधारणा को प्रस्तुत किया है । यहाँ ऋषि ने द्वितीय मन्त्र के उत्तरार्द्ध तथा ग्यारहवे, बारहवे मन्त्रो मे प्रतिपादित सवत्सर रूपी रथ के चक्र को "एक" तथा बारह प्रधियो वाला बताया है । प्रकृत स्थल पर ऋषि को रथ तथा उसके चक्र के बारे मे कोई सन्देह नही है । उसने इसके तत्त्वज्ञान को कठिन भी बताया है । सवत्सर के तीन सौ साठ दिनो को गमनशील कीलो के रूप मे तथा बारह महीनो को प्रधियो के रूप मे प्रतिपादित किया है । यहाँ भी दूसरे मन्त्र मे प्रतिपादित तीन नाभियाँ – ग्रीष्म, वर्षा, तथा हेमन्त ऋतुएँ ही है । उन्हे भूत, भविष्य एव वर्तमान के रूप मे भी स्वीकार किया जा सकता है, क्योकि एक ही सवत्सर मे ये तीनो भी पिनद्ध है । इस मन्त्र द्वारा ऋषि की रथविषयक अवधारणा स्पष्ट रूप से हमारे सम्मुख आ जाती है । इस प्रकार ऋषि ने सवत्सरात्मक रथ का, किवा रथचक्र का उक्त मन्त्रो मे सम्यक् उपपादन किया है ।

(3) प्रथम कारण की जिज्ञासा – प्रथमत, दूसरे तथा तीसरे मन्त्र में "रथ" का निरूपण करने के उपरान्त ऋषि चौथे मन्त्र मे इस जगत् के प्रधान कारण को जानना चाहता है । वह प्रधान कारण अस्थिरहित (अनस्था) होते हुए भी अस्थिमान् जगत् को धारण करता है । ज्ञातव्य है कि

---

1 द्रष्टव्य – सातवलेकर – ऋग्वेद का सुबोध भाष्य, भाग – 1, पृष्ठ 434

ऋषि ने प्रधानकारण को स्त्रीलिङ्ग मे तथा उसकी सृष्टि को पुंलिङ्ग मे रखा है । इससे माता एव पुत्र के सङ्केत प्राप्त होते है । सायण ने "अनस्था" का अर्थशरीर–विहीन साङ्ख्य की "प्रकृति" या वेदान्त मे प्रसिद्ध ईश्वर के वश मे रहने वाली "माया" किया है । उन्होने "अस्थन्वन्तम्" का अर्थ "सशरीर" करते हुए इसे उपलक्षण माना है । इसका तात्पर्य कार्यरूप मे परिणत होना है ।[1] आत्मानन्द ने "अस्थन्वन्तम्" का अर्थ "सावयव" तथा "अनस्था" का "निरवयव" किया है ।[2] वस्तुत परमात्मा का न तो कोई रूप है, न शरीर है, इसीलिए उसे अस्थिहीन कहा गया है । नामरूपात्मक ससार अस्थिमान् है । यहाँ अनेक प्रकार के रङ्ग, रूप, आकृति इत्यादि के दर्शन होते है । सृष्टि के क्रम मे ही आत्मा इत्यादि का ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक है । इसीलिए ऋषि ने भूमि से सम्बद्ध असु, असृग् और आत्मा के बारे मे प्रश्न किया है । "असु" का अर्थ सायण ने "प्राण" तथा आत्मानन्द ने "क्षेप्ता" या "प्रवर्तक" किया है । ग्रिफिथ इसका अर्थ जीवन (लाईफ) करते है । वेङ्कटमाधव ने इसे "चालक" के अर्थ मे ग्रहण किया है ।[3] वस्तुत इन सभी अर्थों मे कोई तात्त्विक भेद नही है । प्राण ही जीवन को गतिशील करता है अत उसे "क्षेप्ता" या "प्रवर्तक" कहना उचित हे । इसी प्रकार प्राण को जीवन के रूप मे भी माना जा सकता है, क्योंकि उसके बिना जीवन की कल्पना ही नही की जा सकती है । वह प्राण ही जीवन का "चालक" है ।

मन्त्र मे आया "असृक्" पद सायण के अनुसार (रस, रक्त, मास, मेदस्, अस्थि, मज्जा और शुक्र) सप्त धातुओ का उपलक्षक है ।[4] ऋषि ने असु, असृक् और आत्मा के माध्यम से जगत् की हर वस्तु के बारे मे दार्शनिक जिज्ञासा की है । उन्होने विद्वान् को इन सभी तत्त्वो का ज्ञाता प्रतिपादित

---

1 अनस्था अस्थिरहिता अशरीरा साङ्ख्यप्रसिद्धा प्रकृति वेदान्तप्रसिद्धा ईश्वरायत्ता माया। . . . अस्थन्वन्तम् अस्थिमन्त सशरीरम् । उपलक्षणमेतत् । कार्यभावमापन्नमित्यर्थ ।
ऋग्वेद 1 164.4 पर सायणभाष्य

2 अस्थन्वन्त सावयवम्। यत् यस्मात् अनस्था अस्थिरहितो निरवयवो बिभर्ति धारयति। वही आत्मा. भाष्य

3 (क) असु प्राण । तदुपलक्षितं सूक्ष्मशरीरम् । वही, सायणभाष्य
(ख) असु क्षेप्ता प्रवर्तक क्व स्वित् । वही, आत्मानन्द–भाष्य
(ग) द्रष्टव्य, वही – ग्रिफिथ का अनुवाद एव वेङ्कटमाधव–भाष्य

4 असृक् शोणितम् । एतत्सप्तधातूपलक्षकम् । यद्यपि शरीर पञ्चभूतात्मक तथापि भूतद्वय–
–प्रत्यक्षत्वात् तदपेक्षयोक्तम् । वही, सायणभाष्य

किया है । इस प्रकार वे सृष्टि के मूल "उत्तर" को जानने के लिए अथवा जनसाधारण तक पहुँचाने के लिए व्यग्र दृष्टिगत होते है ।

(4) कवियों द्वारा देव-स्थान-निरूपण :- सूक्त के पाँचवे मन्त्र मे ऋषि ने देवताओ के गुप्त स्थान को जानना चाहा है । जहाँ तीसरे मन्त्र मे "गो" के सात नामो को "निहित" बताया गया है, वही प्रकृत स्थल पर देवताओ के स्थान को । कवि ने स्वय को अपरिपक्व तथा अज्ञानी कहा है । मन्त्र के तीसरे तथा चौथे चरण मे "वत्स" के ऊपर कवियो द्वारा सात तन्तुओं को बुनने की बात कही गई है । सायण सात तन्तुओ का अर्थ सोमयाग के सात रूपो अथवा सात छन्दो से लेते है ।[1] आत्मानन्द ने इसका अर्थ सात धातुओ से उत्पन्न विस्तृत यज्ञ के रूप मे लिया है ।[2] ऐसा प्रतीत होता है कि जब दीर्घतमा को कवि-दृष्टि प्राप्त हुई, उस समयउनके मन मे सृष्टि के विभिन्न उपादानों के विषय मे जिज्ञासा हुई । उन्होने क्रान्तप्रज्ञ कवियो को काव्य-रचना मे सलग्न पाया । इस दृष्टि से "सप्ततन्तुओं" का अर्थ गायत्री आदि सप्त छन्द करना ही उचित प्रतीत होता है, क्योकि कविगण जिस माध्यम से देवो के स्थान के निरूपणपरक काव्य की रचना कर रहे हैं, वह छन्द ही हो सकते है । ज्ञातव्य है कि वेद मे देवताओ के रूप, स्थान, कार्य इत्यादि को लेकर नाना प्रकार से उनकी स्तुतियाँ की गई है । उन सभी स्तुतियो को कपडा तथा छन्दो को तन्तु कहा जा सकता है । मन्त्र मे आए हुए "बष्क" तथा "वत्स" पदो को समझना दुष्कर है । सायण ने "बष्क" का अर्थ "आदित्य" या "बष्कयनामक एकहायन वत्स" किया है ।[3] आत्मानन्द इसे गत्यर्थक मानते हुए इसका अर्थ "ज्ञान के लिए" करते है, क्योकि उनके अनुसार सभी गत्यर्थक धातुएं ज्ञानार्थक होती है ।[4] "बष्कये" इस पद का प्रयोग पूरे ऋग्वेद मे मात्र यही एक बार हुआ है, अत अन्य सन्दर्भों के

---

1 सप्ततन्तून् तायमानान् सप्त सोमसंस्थान् । . यद्वा सप्त तन्तव सप्त छन्दासि ।
ऋग्वेद 1.164 5 पर सायणभाष्य

2 सप्त तन्तून् सप्तधातूत्पन्नान् तन्तून् विततान् विस्तृतान् यज्ञान् वितत्निरे विशेषेण तन्वन्ति ।
वही, आत्मानन्द-भाष्य

3 बष्कये । बडिति सत्यनाम । तत्कपतीति बष्कय आदित्य । यद्वा बष्कयो नामैकहायनो वत्स । वही, सायणभाष्य

4 बष्किर्हि गत्यर्थ. । सर्वे गत्यर्था ज्ञानार्था । वही आत्मानन्द-भाष्य

आलोक मे भी इसकी व्याख्या असम्भव है । यहाँ इसे "वत्से" के साथ सयुक्त कर के ही अर्थ किया जा सकता है । ऐसी स्थिति मे दोनो पदो को सप्तम्यन्त मानते हुए इनका अर्थ होगा – छोटे (शिशु) वत्स के ऊपर । "वत्स" शब्द का प्रयोग यहाँ रहस्यात्मक रूप मे किया गया है । ऐसा प्रतीत होता है कि चौथे मन्त्र मे जिसे "अस्थिमान्" माना गया है, वही यहाँ "वत्स" शब्द द्वारा इष्ट है, क्योकि इसी रूप मे स्त्रीलिड् ग मे आए "अनस्था" पद की भी सड् गति बैठायी जा सकती है । कार्यरूप मे परिणत यह ससार ही "वत्स" हो सकता है, जिसके ऊपर या जिसके आश्रय मे कवि लोग देवतत्त्व का निरुपण कर सकते है ।

(5) अजतत्त्व :– पाँचवे मन्त्र मे देवो की स्थानविषयक जिज्ञासा के तारतम्य मे ही छठाँ मन्त्र उस "एक" "अज" को जानना चाहता है, जिसने इन छ रजो को स्तब्ध किया है । सायण ने छ रजो को छ रञ्जनात्मक लोक मानते हुए यह प्रतिपादित किया है कि सात लोको मे से सत्यलोक सबके लिए गम्य नही है अत ऋषि ने छ लोको के स्तब्ध या व्यवस्थित करने की चर्चा की है । सत्यलोक पुनरावृत्तिरहित लोक है तथा वह स्वय "अज" का ही निवासस्थान है । वहाँ सभी नही जा सकते । बहुत कम उपासको द्वारा ही वह लोक प्राप्य है । उन्होने वैकल्पिक रूप से छ विलक्षण ऋतुओ को भी छ रजो के रूप मे स्वीकार किया है ।[1] आत्मानन्द काम इत्यादि मलो को छः रज मानते हैं ।[2] वस्तुत इस मन्त्र का सम्बन्ध सृष्टि–विद्या से है, अत "छ लोक" अर्थ करना ही उचित प्रतीत होता है ।

अब यह विचार करना आवश्यक है कि वह कौन सा "एक" तत्त्व है, जिसे ऋषि ने "अज" शब्द द्वारा अभिहित किया है ? सायण ने "अज" का अर्थ – "जननादिरहित चतुर्मुख ब्रह्मा",

---

1. षट् रजासि लोकान् रञ्जनात्मकान् । लोका रजास्युच्यन्ते – इति निरुक्तम् । यद्यपि लोका सप्त तथापि सत्यलोकस्य कर्मिणा सर्वेषा साधारणत्वाभावात् षडित्युक्तम् । ननु षडेवोक्ता । सप्तम किमिति न निर्दिष्ट इति । उच्यते – अजस्य जननादिरहितस्य चतुर्मुखस्य ब्रह्मणो रूपे स्वरूपे एक सत्यलोकाख्य पुनरावृत्तिरहित स्थानम् । यद्वा षड् रजांसि विलक्षणा षड् ऋतव । ऋग्वेद 1 164 6 पर सायणभाष्य

2 कामादीनि षट् रजांसि मलानि रजोगुणकार्याणि वा । वही, आत्मानन्दभाष्य

अथवा "गमनशील जन्मरहित आदित्य" अथवा "परब्रह्म" किया है ।[1] आत्मानन्द ने इसे "नित्य आत्मा" माना है ।[2] वेङ्कटमाधव इसे मात्र "अजायमान" ही कहते है ।[3] ग्रिफिथ इसे "अजन्मा स्रष्टा" मानते हुए सूर्य के साथ सम्बद्ध करते है ।[4] वस्तुत प्रकृत स्थल पर "अज" शब्द का अभिप्राय उस नित्य और परिवर्तनरहित तत्त्व से है, जो स्थितिशील है । यह सामान्य अवधारणा का तथ्य है कि गतितत्त्व चाहे जो भी हो या जिस प्रकार का हो, स्थितितत्त्व से ही जन्म-ग्रहण करता है । जो भी व्यक्त विश्व है, वह अव्यक्त से ही उत्पन्न हुआ है । इस जन्म नही ग्रहण करने वाले स्थितिशील तत्त्व को वृत्त का केन्द्र कहा जा सकता है, जिसकी कुक्षि से छोटे तथा बडे अनेक परिधिमण्डल निर्मित होते रहते है । मन्त्र मे अज के लिए "एकम्" विशेषण का प्रयोग किया गया है । यह "एकम्" पद स्वय मे इतना विलक्षण है कि उसमे अन्य किसी भी सङ्ख्या का न तो समावेश हो सकता है और न इसे खण्डित ही किया जा सकता है, क्योकि कोई भी इकाई एक से कम नही हो सकती अथवा दूसरे शब्दो मे किसी भी तत्त्व या तथ्य को "एक" से कम नही बताया जा सकता । यदि कोई खण्ड भी किया जाए, तो उसकी सङ्ख्या "एक" ही होगी । उसी अखण्ड चेतन तत्त्व को ऋषि ने "अज" कहा है । "नासदीय सूक्त" मे भी सम्भवत इसी तत्त्व की ओर निर्देश किया गया है ।[5] "अज" की विलक्षणता प्रतिपादित करने के लिए ऋषि ने "किमपि स्वित्" कहा है । इससे यह परिलक्षित होता है कि उस "अजतत्त्व" का वास्तविक निर्वचन कर पाना सम्भव नही है । वह "अवाङ्मनसगोचर" है । वह क्या है, इसे निश्चित रूप से नही बताया जा सकता है । इस प्रकार "अज" की विलक्षणता प्रतिपादित होती है ।

---

1 अजस्य जननादिरहितस्य चतुर्मुखस्य ब्रह्मण . अजस्य गमनशीलस्य जन्मरहितस्य वादित्यस्य. . अजस्य परब्रह्मण । ऋग्वेद 1 164 6 पर सायणभाष्य

2 अजस्य नित्यस्यात्मन । वही, आत्मानन्दभाष्य

3 तस्याजायमानस्य । वही, वेङ्कटमाधव-भाष्य.

4 **In the Unborn's image :** in the form of Aja or the Unborn Creator, represented by the Sun.
वही, ग्रिफिथ की टिप्पणी

5 स्वधया तदेकम् । ऋग्वेद 10 129 2 तथा महिना जायतैकम् । वही, 10 129 3.

ऋग्वेद के ही एक अन्य मन्त्र मे "अज" की "नाभि" मे समस्त लोको को अधिष्ठित बताया गया है ।[1] उक्त स्थल पर जगत् के आदि स्रोत तथा उससे उत्पन्न होने वाले जगत् का एक साथ निरूपण किया गया है । उस आदिम स्रोत को "अज" कहा गया है तथा उसके भी अधिष्ठान या मातृतत्त्व की कल्पना की गई है, जिसमे वह अपने सहजस्थिति भाव मे लीन था । वह मातृतत्त्व "आप " के रूप मे प्रतिपादित है, जो किसी अनन्त समुद्र का प्रतीक है । मन्त्र मे "अज" के दो स्वरूप बताए गए है – प्रथम नाभिरूप तथा द्वितीय अखण्ड और एक । हृदय या केन्द्र को नाभि कहते है । "अज" की नाभि मे पिरोया गया जो "एक" है, वही बहुधा होकर विश्व बन जाता है । जितनी भी दिव्य शक्तियाँ है, उन सभी देवो का मूलस्रोत उसी एक अमृत अजतत्त्व मे है । उसी एक मे समग्र भुवनो का अधिष्ठान है । भुवन या लोको को ही ऋषि दीर्घतमा ने "षडिमा रजांसि" के रूप मे व्यक्त किया है । वस्तुत भू , भुव , स्व , मह , जन , तप और सत्यम् – ये ही सात लोक या सात धाम है । इन्ही सात आवरणो से व्यष्टि और समष्टि का स्वरूप निष्पन्न होता है । इनमे से जो सबसे अन्तिम और सूक्ष्म है, वही "सत्यलोक" है । उसी की पृष्ठभूमि मे छ लोक आधृत होते है । इसीलिए ऋषि ने उसकी गणना सामान्य लोको मे नही की है ।

"रजस्" का अभिप्राय गतितत्त्व से है । इसे ही रजोगुण भी कहते है । इसकी तुलना मे सत्त्वगुण, सत्त्वभाव वाला है, जो शुद्ध रूप से स्थितितत्त्व है । मनस् या विज्ञान को सत्त्वगुण का प्रतीक माना जा सकता है, जबकि प्राण या रजस् "गति" के प्रतीक है । इनकी गतिशीलता सुविदित है । "तमस्" को पञ्चभूतात्मक प्रकृति के रूप मे स्वीकार किया जा सकता है । पञ्चभूतो के साथ रजस् का योग कर देने पर इनकी सङ्ख्या छ हो जाती है । ये सभी गतिशील है । इन सबकी उत्पत्ति मनस् या विज्ञानघन से होती है, जो शुद्ध सत्त्वस्वरूप है । उसमे कोई गति नही है । वही गतिरहित "अजतत्त्व" है । इसी अजतत्त्व की तथा इसके द्वारा स्तम्भित छ रजो की चर्चा ऋषि ने मन्त्र मे की है । छ रजो को भू से लेकर तप तक छ लोको अथवा प्राण सहित पञ्चमहाभूतो के रूप मे स्वीकार किया जा सकता है ।

---

1 तमिद्गर्भं प्रथमं दध्र आपो यत्र देवा समगच्छन्त विश्वे ।
अजस्य नाभावध्येकमर्पितं यस्मिन् विश्वानि भुवनानि तस्थु ।। ऋग्वेद 10 82 6

छठें मन्त्र मे जिस "अजतत्त्व" के बारे मे प्रश्न उठाया गया है, ऐसा प्रतीत होता है कि उसी का सड् केत सातवे मन्त्र मे किया गया है । यहाँ उसे "वि" कहा गया है । "वि" का अर्थ पक्षी होता है । सायण ने इसका अर्थ "आदित्य" से लिया है ।[1] जब कि आत्मानन्द इसे "परमात्मा" का अभिधायक मानते है ।[2] ज्ञातव्य है कि प्रथम मन्त्र मे "वाम" शब्द का प्रयोग "होता" के विशेषण के रूप मे किया गया है, जबकि यहाँ "पक्षी" के विशेषण के रूप मे । इस प्रकार "होता" का किसी न किसी रूप मे "पक्षी" के साथ सम्बन्ध प्रतीत होता है । इसी रूप मे दोनो स्थलो पर "अस्य" का प्रयोग भी किया गया है । यह प्रयोग इस बात की पुष्टि करता है कि "पक्षी" तथा "होता" दोनो मे अभेद है, क्योकि यज्ञस्थल पर सूक्त के प्रस्तुतीकरण के समय ऋषि के मस्तिष्क मे परमतत्त्व के रूप मे कोई एक ही तत्त्व हो सकता है, जिसे वह अनेक रूपो मे तथा अनेक प्रकार से प्रस्तुत कर रहा है । ऋषि ने सूक्त के अन्तिम मन्त्र मे भी पक्षी का उल्लेख किया है । इससे भी यही प्रमाणित होता है कि उसकी दृष्टि मे परमतत्त्व की धारणा एक स्थान पर ही केन्द्रित है तथा उसे ही उसने "होता", "अज", "पक्षी" या "सुपर्ण" के रूप मे प्रस्तुत किया है । यहाँ उस "अजतत्त्व" को "आदित्य" के रूप मे स्वीकार किया जा सकता है ।

इस प्रकार का तत्त्वज्ञान सबको नही हो सकता, इसीलिए ऋषि ने उसे प्रकाशित करने के लिए उसी व्यक्ति का आह्वान किया है, जो इसे भलीभाँति जानता हो । आत्मानन्द ने प्रस्तुत मन्त्र मे गुरु का लक्षण होना प्रतिपादित किया है । उनके अनुसार जो आत्मतत्त्व को असन्दिग्ध रूप से जानता है, वही ब्रह्मविद्या के सम्बन्ध मे गुरु होकर उपदेश प्रदान कर सकता है । उन्होने मन्त्र के तीसरे और चौथे चरण मे प्रतिपादित – "इस पक्षी के सिर से "गाएँ" "क्षीर" का दोहन करती है तथा वस्त्र धारण कर के पैर से जल पीती है" इन दोनो तथ्यो को आभाणक के रूप मे मानकर इनके ज्ञान को भी गुरु बनने वाले व्यक्ति के लिए आवश्यक बताया है ।[3] वस्तुत प्रथम दो चरणो को तो गुरु

---

1. वे गन्तुरादित्यस्य । ऋग्वेद 1 164 7 पर सायणभाष्य.

2 वे सुपर्णस्य परमात्मन । वही, आत्मानन्दभाष्य

3 गुरुलक्षणमत्र । इह ब्रह्मविद्याया वक्ता य ईमिदमात्मतत्त्वम् । अड् ग असन्दिग्ध जानाति। स इह वक्तु । स एव गुरु स्यादित्यर्थ । अयमाभाणकोऽपि गुरुणा भवित्रा ज्ञेय इत्याह – शीर्ष्ण शिरस सकाशात् क्षीर दुह्रते . गाव उदक पदा पादेन अपु ।.... अयमाभाण– –कोऽपि भवित्रा गुरुणा ज्ञेय । ऋग्वेद 1 164.7 पर आत्मानन्द–भाष्य.

का लक्षण माना जा सकता है, किन्तु तृतीय तथा चतुर्थ चरण लक्षणपरक नही है । उनमे ऋषि ने स्वय तत्त्व का परिचय दिया है । अब विचारणीय यह है कि वे गाएं कौन है, जो पक्षी के सिर से "क्षीर" का दोहन करती है तथा पैर से उदक ग्रहण करती है । सायण ने "गो" का अर्थ "वर्षाकालीन किरणें" तथा आत्मानन्द ने "वेद" किया है । इसी प्रकार दोनो आचार्यों ने "क्षीर" का अर्थ क्रमश "उदक" तथा "ब्रह्मामृत रस" किया है ।[1] विल्सन "गो" को सूर्य की किरणे मानते हुए वृष्टि करना तथा जल ग्रहण करना दोनो कार्यों के लिए उन्हे ही सक्रिय मानते है ।[2] प्रकृत स्थल पर "गो" का अर्थ "सूर्य की किरणें" तथा "क्षीर" और "उदक" को समानार्थी मानते हुए इनका अर्थ "जल" ही करना चाहिए । यह सर्वविदित है कि सूर्य की किरणे पृथ्वी से ही रस का शोषण करती है तथा पुन वर्षाकाल मे वृष्टि के रूप मे उन्हे पृथ्वी पर छोडती है ।[3] मन्त्र मे आए जल का दोहन करने का तात्पर्य यही है कि सूर्य की रश्मियाँ अपने ही द्वारा सूर्य मे सञ्चित जल का दोहन करते हुए उसे पृथ्वी पर बरसाती है । पुन अपने चरण अर्थात् उनका जो अश पृथ्वी पर पहुँचता है, उसके माध्यम से जल पीती है अर्थात् रस का शोषण करती है । ऋषि ने मन्त्र मे इस तथ्य का स्वय उद्घोष करने के पश्चात् विद्वान् से पक्षी रूपी आदित्य के "निहित" अथवा गुप्त स्थान को बताने का आग्रह किया है ।

(6) **माता, पिता और सृष्टि** – सूक्त के 8, 9, 10 तथा 33 वे मन्त्र मे "माता–पिता" का उल्लेख करते हुए ऋषि ने सृष्टि के रहस्य की ओर सङ्केत किया है । वैदिक धारणा के अनुसार द्युलोक को सबका पिता तथा पृथिवी को माता माना गया है ।[4] आठवे मन्त्र मे जल की सृष्टि–हेतु

---

1 द्रष्टव्य – ऋग्वेद 1 164 7 पर सायण एव आत्मानन्द के भाष्य

2 The Cows draw milk : The solar rays, although especial agents in sending down rain, are equally active in its re-absorption.
वही, विल्सन की टिप्पणी

3 (क) सहस्रगुणमुत्स्रष्टुमादत्ते हि रस रवि । कालिदास–रघुवशम्, 1 18
(ख) गर्भं दधत्यर्कमरीचयोऽस्मात् । वही, 13 4

4 द्यौ पिता । तैत्तिरीय ब्राह्मण – 3 7 5 4

इन्ही दोनो के सम्पर्क की बात कही गई है । यह प्रक्रिया सुविचारित रूप से तथा इच्छापूर्वक हुई । इस सम्पर्क के पश्चात् पृथ्वी गर्भोत्पादक "रस" से युक्त हो गई और अन्नादि को उत्पन्न करने मे समर्थ हुई । सायण ने माता का अर्थ सबका निर्माण करने वाली पृथ्वी तथा आत्मानन्द ने सृष्टि की जननी "माया" किया है । इसी प्रकार पिता का अर्थ सायण ने पालक "द्युलोक" अथवा तत्रस्थ "आदित्य" किया है, जबकि आत्मानन्द ने "ईश" किया है ।[1] ग्रिफिथ ने द्युलोक तथा पृथ्वी के इस सम्पर्क को सृष्टि–प्रक्रिया मे पृथ्वी द्वारा द्युलोक को उसका भाग देना माना है ।[2] वस्तुत जल के माध्यम से ही द्युलोक तथा पृथ्वी का सम्बन्ध हो पाता है । द्युलोक का स्वामी आदित्य है, अत आदित्य को पिता के रूप मे माना जा सकता है । उसका वीर्य वृष्टि–जल ही है, जो पृथ्वी–माता के गर्भ मे निविष्ट होकर अन्नादि की उत्पत्ति करता है । परिणामस्वरूप सभी मनुष्य पृथ्वी की स्तुति करते है ।

नवे मन्त्र मे भी उक्त प्रक्रिया का उपपादन किया गया है । माता, दक्षिण धुरी पर युक्त हुई और मेघपङ्क्तियो के रूप मे गर्भ धारण किया । सायण ने माता का अर्थ यहाँ "द्यौ " किया है[3], जो उचित नही प्रतीत होता । वस्तुत पिछले मन्त्र के अनुसार यहाँ भी "माता" का अर्थ पृथ्वी ही करना उचित है । अब प्रश्न यह है कि वह दक्षिण धुरी क्या है जिसमे पृथ्वी को बाँधा गया ? प्रकृत सूक्त सवत्सर की पूर्ण आकल्पना प्रस्तुत करता है । इस सवत्सर का प्रवर्तक सूर्य या आदित्य है । सूर्य के दो अयन – उत्तर तथा दक्षिण है । ऐसा प्रतीत होता है कि ऋषि को यहाँ "दक्षिण धुरी" से दक्षिणायन सूर्य का अर्थ इष्ट है । ऐसी स्थिति मे यह कहा जा सकता है कि वर्षा–काल दक्षिणायन सूर्य मे ही आता है और उसी समय पृथ्वी को जल की आवश्यकता होती है तथा वह गर्भ धारण करती है । मन्त्र के तीसरे तथा चौथे चरण मे "गो" और "वत्स" की चर्चा आई है । "वत्स" ने विश्वरूपवती "गो" को देखा और शब्द किया । यहाँ "गो" का अर्थ सूर्य की किरणो से लिया जा

---

1 ऋग्वेद 1 164.8 पर सायण एव आत्मानन्द–भाष्य

2 The mother Earth gave the father Heaven his share in the great work of cosmical production.
वही, ग्रिफिथ की टिप्पणी

3. माता निर्मीयतेऽस्मिन् भूतानीति माता द्यौ । वही, 1 164 9 पर सायणभाष्य.

सकता है । उन्ही किरणो के माध्यम से बादल बनते है और वृष्टि होती है । वे बादल (मेघ) ही वत्स है । उन्होने किरण रूपी गौओ को बरसात मे तीनो लोको मे प्रसृत देखा तथा वृष्टि-हेतु गरजने लगे । यदि इसे गाय तथा बछडे के अर्थ मे भी लिया जाय, तो वस्तुस्थिति यही है कि बछडा गाय को देखकर बोलता है और गाय उसे दुग्ध प्रदान करती है । आत्मानन्द ने इस मन्त्र का अर्थ भी पूर्णत आध्यात्मिक किया है ।

दशम मन्त्र मे तीन माताओ तथा तीन पिताओ को धारण करने वाले एक ही तत्त्व की चर्चा आई है, जो ऊपर स्थित है तथा जिसे ये शिथिल नही कर पाते । देवता लोग उस प्रकाशमान तत्त्व के पीठ पर अर्थात् पीछे सभी के द्वारा समझी जाने वाली किन्तु सर्वत्र अव्यायनशील वाणी के बारे मे मन्त्रणा करते है । सायण ने उस तत्त्व को आदित्य या सवत्सराख्य काल कहा है । उनकी दृष्टि मे अन्न, वृष्टि इत्यादि को उत्पन्न करने वाली तीन माताएँ पृथिवी इत्यादि तीन लोक है तथा अग्नि, वायु और सूर्य, ये तीनो पालक है ।[1] यदि उस तत्त्व को "आदित्य" माना जाय, तो तीन पिताओ मे इसकी गणना कैसे की जा सकती है ? अत उसे सवत्सराख्य काल मानना युक्तिसङ्गत प्रतीत होता है, क्योकि उसके द्वारा उक्त तीनो पिताओ तथा माताओ के धारण किये जाने मे कोई विप्रतिपत्ति नही उत्पन्न होती है तथा देवताओ द्वारा उसकी पृष्ठभूमि मे वाक्तत्त्व पर विचार करना भी सङ्गत है । यदि 'दिव पृष्ठे' का अर्थ द्युलोक की पृष्ठभूमि मे या पीछे किया जाए, तब भी कोई हानि नही है, क्योकि शब्द आकाश का गुण है अत वाणी और शब्द मे अभेद होने से वाणी भी आकाश का ही गुण हुई । आकाश स्वय ब्रह्मस्वरूप है अत वाक् भी ब्रह्मस्वरूप है । यह वाग्ब्रह्म अखिल विश्व को जानते हुए भी उससे परे है । सभी देवगण उस वागात्मक ब्रह्म पर विचार करते है । इस दृष्टि से "अविश्वमिन्वाम्" पद का सायण द्वारा प्रतिपादित अर्थ "असर्वव्यापिनीम्" उचित नही है । यहाँ वेङ्कटमाधव का "सबके द्वारा अज्ञायमान परिमाण वाली" ऐसा अर्थ करना सर्वथा उचित है[2],

---

1 एक प्रधानभूतोऽसहायो वा पुत्रस्थानीय आदित्य सवत्सराख्य कालो वा तिस्र मातृ स्स्यवृष्ट्याद्युत्पादयित्री । क्षित्यादिलोकत्रयमित्यर्थ । तथा त्रीन् पितृन् जगता पालयितृन् लोकत्रयाभिमानिनोऽग्निवायुसूर्याख्यान् । ऋग्वेद 1 164 10 पर सायणभाष्य

2 सर्वैश्चाज्ञायमानपरिमाणाम् । वही, वेङ्कटमाधव का भाष्य

क्योकि वाक् सबको जानती है, किन्तु सबको उसके परिमाप – उसकी इयत्ता का ज्ञान होना आवश्यक नही है । उसकी सर्वत्र व्यापकता मे कोई सन्देह नही किया जा सकता ।

आत्मानन्द ने प्रकृत मन्त्र मे तुरीयात्मा का प्रतिपादन माना है । उनके अनुसार तीन माताएँ – लक्ष्मी, गौरी और सरस्वती तथा तीन पिता – विष्णु, हर और ब्रह्मा है, जिन्हे धारण करने वाला परमात्मा ऊर्ध्व, अर्थात् अवस्थात्रय से परे तुरीय रूप मे स्थित रहता है ।[1] आध्यात्मिक दृष्टि से आत्मानन्द का अर्थ भी उचित प्रतीत होता है ।

सूक्त के तैतीसवे मन्त्र मे स्पष्ट शब्दो मे द्युलोक को पिता एव विशाल पृथ्वी को माता कहा गया है । द्युलोक केवल पिता अर्थात् पालक ही नही है, अपितु वह जनिता – उत्पन्न करने वाला भी है । द्युलोक मे ही "नाभि" भी स्थित है । सायण ने नाभि का अर्थ नाभिभूत भौम रस किया है । उनके अनुसार यह नाभिभूत भौमरस द्युलोक मे ही स्थित रहता हे । उसी से अन्न उत्पन्न होता है । अन्न से रेतस्तत्त्व तथा इससे मनुष्य की उत्पत्ति होती है । इस प्रकार परम्परागत रूप से मनुष्य का जनन–सम्बन्धी रस द्युलोक मे रहता है । इसी अभिप्राय से उसे जनिता कहा गया है।[2] यास्क ने बन्धनार्थक नह् धातु से "नाभि" को निष्पन्न माना है । उनके अनुसार माता की रसहरा नाडी से गर्भ सम्बद्ध हुआ करते है । इसी कारण से सम्बन्धियो को "सनाभि" कहा जाता है । उन्हे "सबन्धु" भी कहते है । उन्होने गर्भाधान करने वाले पिता को "पर्जन्य" माना है ।[3] वेङ्कटमाधव

---

1 अत्र तुर्य प्रपञ्च्यते । तिस्रो मातृ लक्ष्मीगौरीसरस्वती । मुख्यत्वेन पितृन् विष्णुहरब्रह्मण पुत्रत्वेन विभ्रत् धारयन् नियमयन् । एक परमात्मैव ऊर्ध्व, अवस्थात्रयात् परत स्थित तुरीय तिष्ठति । ऋग्वेद 1 164 10 पर आत्मानन्द–भाष्य

2 नाभिभूतो भौमो रस अत्र । तिष्ठति इति शेष । ततश्च अन्न जायते । अन्नाद्रेत । रेतसो मनुष्य । इत्येव पारम्पर्येण जननसम्बन्धिनो हेतो रसस्यात्र सद्भावात् । अनेनैवाभि–प्रायेण जनिता इत्युच्यते । ऋग्वेद 1 164 33 पर सायणभाष्य

3 नाभि सन्नहनात् । नाभ्या सन्नद्धा गर्भा जायन्त इत्याहु । एतस्मादेव ज्ञातीन् सनाभय इत्याचक्षते । सबन्धव इति च । . . तत्र पिता दुहितुर्गर्भ दधाति पर्जन्य पृथिव्या । निरुक्त 4 3 47

भी जलो से पृथ्वी की उत्पत्ति होने के कारण "पर्जन्य" को इसका पिता मानते है ।[1] सायण ने अधिष्ठान और अधिष्ठाता मे अभेद होने के कारण आदित्य को ही "पिता द्युलोक" माना है । उन्होने वैकल्पिक रूप से इन्द्र या पर्जन्य को भी पिता माना है । वे "योनि" के रूप मे सारे प्राणियो के निर्माण के आश्रयभूत अन्तरिक्ष को स्वीकार करते है तथा उन्होने "दुहिता" का अर्थ दूर निहित या दूर स्थित पृथ्वी किया है ।[2] वस्तुत "दुहिता" की निष्पत्ति दोहनार्थक "दुह्" धातु से भी की जा सकती है । ऐसी स्थिति मे इसका अर्थ होगा – रसो का दोहन करने वाली पृथ्वी । पिताद्यौ. ने द्युलोक तथा पृथिवी, इन दो ऊपर की ओर उठे हुए पात्रो के मध्य मे स्थित अन्तरिक्ष मे दूर स्थित इस पृथ्वी मे गर्भाधान किया । ग्रिफिथ के अनुसार दो पात्रो का तात्पर्य सोम रखे जाने वाले पात्रो से है तथा यह द्युलोक एव पृथ्वी के लिए एक आलङ्कारिक अभिव्यक्ति है । इन दोनो के मध्य मे स्थित अन्तरिक्ष वृष्टि का स्थान होने के कारण सभी प्राणियो की योनि (उत्पत्ति स्थान) है । पिता द्युलोक तथा पुत्री पृथ्वी है, जिसकी उत्पादकता या प्रजननशीलता अन्तरिक्ष मे विहित जलरूपी बीज पर निर्भर है ।[3]

आत्मानन्द ने इस मन्त्र मे सगुण ब्रह्म-विद्या का प्रतिपादन स्वीकार किया है । उन्होने "जनिता" का अर्थ – "जन कश्यपम् इता जनिता" अर्थात् कश्यप का प्रेरक किया है तथा बन्धु के रूप मे अग्नि या सोम को ग्रहण किया है । वे "नाभि" का अर्थ – सनाभि अर्थात् सहोदरा करते हुए द्युलोक को स्वसा के रूप मे स्वीकार करते है ।[4]

---

1 अद्भ्य पृथिवी जातेति पर्जन्यस्य दुहिता पृथिवी भवति। ऋ 1 164 33 पर वेङ्कटमाधवभाष्य

2 पिता द्युलोक अधिष्ठात्रधिष्ठानयोरभेदेन आदित्यो द्यौरुच्यते । स्वरश्मिभि । अथवा इन्द्र पर्जन्यो वा ।. योनि सर्वभूतनिर्माणाश्रयमन्तरिक्षम् ।. दुहितु दूरे निहिताया भूम्या .। वही, सायणभाष्य.

3. **World-Halves:** Literally bowls or vessels into which the Soma ıs poured, a fıguratıve expression for heaven and earth. The fırmament or space between these two ıs, as the region of the rain, the womb of all beıngs. The Father is Dyaus and the daughter ıs Earth, whose fertılıty depends upon the germ of raın laıd ın the fırmament. वही, ग्रिफिथ की टिप्पणी

4 द्रष्टव्य – वही, आत्मानन्दभाष्य

इस प्रकार ऊपर सन्दर्भित चारो मन्त्रो मे ऋषि ने माता–पिता के रूप मे पृथिवी एव द्युलोक को प्रतिष्ठित करते हुए सृष्टिविद्या का प्रतिपादन किया है । ये ही दो जन्मदात्री शक्तियाँ हैं, जिनके मिथुनीभाव से सब प्राणी जन्म लेते है । इन्हे ही स्त्री–पुरुष, पूषा–वृषा और अग्नि–सोम कहा जाता है । प्रजापति ने अपने शरीर के – एकात्मक अण्ड से इन दो भागो को पृथक् किया । एक से द्युलोक और दूसरे से पृथ्वी बनी ।[1] एक पुमान् – पुरुष और दूसरा स्त्री कहलाया । प्रजापति के इसी नर–नारीमय रूप से सम्पूर्ण प्राणियो का उद्भव हुआ । पृथिवी का सङ्केत भूत–भौतिक देह से और द्युलोक का अमृतप्राण से है । प्राण और भूत के सम्मिलन से ही जीवन का प्रत्यक्ष रूप सम्भव हुआ है । "भूत" की सञ्ज्ञा "असुर" और "प्राण" की "देव" है । भूत "मर्त्य" और प्राण "अमृत" है।

सृष्टि के प्रसङ्ग मे ही छत्तीसवे मन्त्र पर भी विचार कर लेना अपेक्षित है, जिसमे जगत् के कारणभूत "रेतस्तत्त्व" के बारे मे बताया गया है । वह "रेतस्" सात अर्ध गर्भभूत तत्त्वो मे निहित है । वे विष्णु के आदेशानुसार अपने–अपने कर्मो मे सन्नद्ध होते है । उनमे धारणाशक्ति या विचार है तथा मन से वे विद्वान् है । इस प्रकार व्यापनशील वे इस जगत् को चारो ओर से आवेष्टित किये हुए है । सायण ने "सप्त" का अर्थ – सर्पणस्वभाववाली या सात रश्मियो से लिया है ।वे "अर्धगर्भा " का तात्पर्य "सवत्सर के आधे भाग मे गर्भस्थानीय उदक को धारण करने वाली" या "ब्रह्माण्ड के आधे भाग मे अर्थात् मध्य मे गर्भवत् स्थित" ग्रहण करते है । उन्होने "सप्तार्धगर्भा " का साङ्ख्यदर्शनपरक अर्थ करते हुए महत्, अहङ्कार और पञ्चतन्मात्रों के योग से सात सङ्ख्या का उपपादन किया है । ये सातो तत्त्व "अर्धगर्भा" अर्थात् अविकृतिरूप है । विकारो का आश्रय ग्रहण करने वाली प्रकृति तथा प्रकृति और विकृति से उदासीन आत्मा के उत्पन्न हो जाने से आधे अश द्वारा प्रपञ्च की सृष्टि करने के कारण ये "अर्धगर्भा" है । पुरुष के अश में कोई विकार नही होता । इसीलिए ये सातो तत्त्व प्रकृति और विकृति दोनो ही है ।[2] वस्तुत सायण इन सात तत्त्वो को अविकृतिरूप इसलिए कहते है

---

1 द्रष्टव्य – मनुस्मृति – 1 8, 9, 12, 13

2 सप्त सर्पणस्वभावा सप्तसङ्ख्या वा रश्मय । अर्धगर्भा सवत्सरस्यार्धे गर्भ गर्भस्थानीयमुदक धारयमाणा । यद्वा ब्रह्माण्डस्यार्धे मध्ये अन्तरिक्षे गर्भवद्वर्तमाना । यद्वा सप्तार्धगर्भा सप्त महदहङ्कारौ पञ्च तन्मात्राणि इति मिलित्वा सप्तसङ्ख्यानि तत्त्वानि। अर्धगर्भा अविकृतिरूपा । विकाराश्रयाया मूलप्रकृते प्रकृतिविकृते उदासीनस्य आत्मनश्च उत्पन्नत्वात् अर्धांशेन प्रपञ्चाकारेण परिमाणात् अर्धगर्भा । पुरुषाशस्याविक्रियत्वात् इत्यभिप्राय । अत एव तेषां प्रकृतिविकृतित्वम्। यस्मादेव तस्मात् भुवनस्य रेत कारणम्।
ऋग्वेद 1 164 36 पर सायणभाष्य

कि ये केवल "विकार" नही है । प्रकृति की अपेक्षा से तो ये विकार हैं, किन्तु पञ्चमहाभूतों तथा मन सहित एकादश इन्द्रियो की अपेक्षा से "प्रकृति" अर्थात् कारण भी है । इसीलिए ये सातो प्रकृति तथा विकृति अर्थात् कारण और कार्य दोनो ही है । "साङ्ख्यकारिका" मे ईश्वरकृष्ण ने इसी तथ्य को बहुत स्पष्ट शब्दो मे बताया है ।[1] आत्मानन्द ने भी प्रस्तुत मन्त्र का साङ्ख्याभिमत भाष्य किया है ।[2] सातवलेकर जी के अनुसार – "परमेष्ठी के दो भाग है, एक परार्ध और दूसरा अवरार्ध । परार्ध प्रजापति है और अवरार्ध प्रकृति । इस अवरार्ध प्रकृति के मन, प्राण और पञ्चभूत रूपी सात पुत्र है, जिनसे यह सारा विश्व बनता है । ये सभी तत्त्व व्यापक प्रजापति की आज्ञा से अपना–अपना काम करते है तथा सारे विश्व को घेरे रहते है । विश्व मे ऐसा कोई भी पदार्थ नही है, जो मन, प्राण और पञ्चभूतो से रहित हो ।"[3] इस दृष्टि से उन सात अर्धगर्भभूत तत्त्वो को मन, प्राण तथा पञ्चभूतो के रूप मे भी देखा जा सकता है ।

(7) **तत्त्वज्ञ–निरूपण** – सूक्त के सोलहवे मन्त्र मे यह बताया गया है कि जो वास्तव मे स्त्रियाँ है, उन्हे पुरुष कहा जाता है । इस तत्त्व को चक्षुष्मान् व्यक्ति ही जान सकता है, अन्धा नही । जो क्रान्तप्रज्ञ पुत्र है, वही इसे जान सकता है तथा इसका ज्ञाता पिता का भी पिता हो जाता है । इस ऋचा मे तत्त्वज्ञ की भूरिश प्रतिष्ठा की गई है । सायण ने सूर्य की रश्मियो को उदकरूपी गर्भ धारण करने के कारण स्त्रिया माना है, जबकि साधारणत वृष्टिजलसेक्तृत्वेन उन्हे पुरुष माना जाता है । उन्होने रश्मिसमूह को पिता तथा आदित्य को उसका भी पिता प्रतिपादित किया है ।[4] उनका तात्पर्य यह है कि इस तत्त्व को जानने वाला व्यक्ति आदित्य ही हो जाता है । इस मन्त्र की आध्यात्मिक व्याख्या करते हुए सायण ने यह प्रतिपादित किया है कि जो लौकिक लोगो की दृष्टि मे स्त्री है, वह तत्त्वज्ञो की दृष्टि में पुरुष है । आत्मा एक ही है, स्त्रीशरीर धारण करने के कारण वह

---

1 मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाद्या प्रकृतिविकृतय सप्त ।
षोडकस्तु विकारो न प्रकृतिर्न विकृति पुरुष ।। साङ्ख्यकारिका – 3

2 द्रष्टव्य – ऋग्वेद 1 164 36 पर आत्मानन्दभाष्य.

3 सातवलेकर, ऋग्वेद का सुबोध भाष्य, भाग – 1, पृष्ठ 441

4 योषिद्वदुकरूपगर्भधारणात् स्त्रीत्वम् । प्रभूतवृष्ट्युदकसेक्तॄन् पुरुषानाहु । . पिता वृष्ट्या जगत्पालको रश्मिसमूह तस्यापि पिता आदित्य रा भवति । आदित्य एव भवतीत्यर्थ ।
ऋग्वेद 1 164.16 पर सायणभाष्य

स्त्री तथा पुरुष शरीर धारण करने के कारणपुरुष कहा जाता है । परमात्मा का पुरुष या स्त्रीरूप मे होना औपाधिक है । यदि अल्पवय वाला भी पुत्र इस तथ्य को जान ले, तो वह अपने ज्ञानरहित पिता का भी पिता अर्थात् पितृवत् पूज्य हो जाता है ।[1]

आत्मानन्द ने इस मन्त्र का भाष्य विस्तारपूर्वक करते हुए यह बताया है कि जो स्त्रियाँ होते हुए भी ब्रह्मविद्या को जानने वाली है, वे उत्कृष्ट पुरुष है । इसके अतिरिक्त उन्होंने एक शास्त्रीय समस्या यह उठायी है कि क्या स्त्रियो को ब्रह्मविद्या का अधिकार है ? तथा क्या पुत्र पिता का पिता अर्थात् गुरु हो सकता है ? अनेक शास्त्रीय उद्धरणो के आधार पर निष्कर्ष रूप मे उनका मानना यही है कि स्त्रियाँ भी ब्रह्मविद्या की अधिकारिणी है तथा पुत्र पिता को उपदेश दे सकता है । उन्होने निष्कर्षत कल्प को उद्धृत किया है ।[2]

विल्सन प्रस्तुत मन्त्र मे व्याकरणगत रहस्यवाद मानते हुए "रश्मि" को पुलिड् ग "सञ्ज्ञा" के रूप मे स्वीकार करते है, जिसे स्त्रीलिड् ग के रूप मे प्रस्तुत किया गया है ।[3] वस्तुत इस मन्त्र में गूढ आध्यात्मिकता के दर्शन होते है । ससार मे जो लिड् ग की दृष्टि से देखने मे स्त्री प्रतीत होती है, वह ज्ञानियो की दृष्टि मे स्त्री न होकर पुरुष ही है, क्योकि उसमे भी वही आत्मतत्त्व है, जो पुरुष मे है । मन्त्र सड्.ख्या चार मे अस्थिहीन स्त्रीतत्त्व (मातृतत्त्व) को अस्थिमान् पुरुष तत्त्व का धारक कहा गया है । वस्तुत विराट् के रूप मे जो महद्योनि या मातृतत्त्व है, उसके कुक्षि मे पुरुष गर्भित है । प्रकृति के भौतिक रूप को देखने वाली भौतिक आँख से उस मूल प्राणात्मक बीज को

---

1 ऋग्वेद 1 164 16 पर सायणभाष्य

2 पुवदन्धश्च योषिच्च ब्रह्मविद्याधिकारिणौ ।
श्रद्धिनो ब्रह्मवित्पुत्रो गुरु स्यात्पितर प्रति ।।
द्रष्टव्य ऋग्वेद 1 164 16 पर आत्मानन्द का सम्पूर्ण भाष्य

3 This is a piece of grammatical mysticism, **rashmi**, a ray of the sun, here personified as a female, is properly a noun masculine.
ऋग्वेद 1 164 16 पर विल्सन की टिप्पणी

नही देखा जा सकता । यह तात्त्विक भेद भी ज्ञानी ही जान सकता है । इस प्रकार का ज्ञानी, ज्ञान की दृष्टि से अपने पिता का भी पिता होता है ।

अठारहवे मन्त्र मे "पर" से नीचे तथा "अवर" से ऊपर स्थित इस जगत् के पिता के बारे मे जिज्ञासा की गई है । इसमे दिव्य मन की उत्पत्ति के बारे मे भी पूछा गया है । सायण ने "पर" का अर्थ – आदित्य तथा "अवर" का – अग्नि करते हुए इन दोनो के ज्ञान को गूढ बताया है ।[1] तात्पर्य यह है कि अग्नि और आदित्य मे कोई भेद नही है । दोनो की मात्र दो सञ्ज्ञाएँ है । आत्मानन्द "पर" को "परमात्मा" तथा "अवर" को "जीवात्मा" का वाचक मानते है ।[2] वस्तुत द्युलोक "पर" तथा यह पृथिवीलोक "अवर" है । यदि "पितरम्" का अन्वय दोनो के साथ किया जाए, तो सूर्य तथा अग्नि – ये दोनो क्रमश द्युलोक तथा पृथिवी के पिता – पालक के रूप मे प्रतिष्ठित हो जाते है । इन दोनो तत्त्वो के अतिरिक्त मनस्तत्त्व भी अत्यन्त गूढ है । इसीलिए ऋषि ने अपने को कवि के रूप मे ख्यापित करने वाले तत्त्वज्ञ से इन तीनो तत्त्वो – आदित्य, अग्नि तथा मनस् के बारे मे पूछा है । साधारण व्यक्ति इस तत्त्वत्रयी का निरुपण करने मे समर्थ नही हो सकता । मन्त्रस्थ "पितरम्" पद को मात्र "अस्य" के साथ जोड़कर इसका अर्थ – "द्युलोक से नीचे तथा पृथिवी से ऊपर स्थित इस जगत् के पिता को जो जानता है" किया जा सकता है । ऐसी स्थिति मे मन्त्र का पूर्वार्द्ध परमात्मजिज्ञासापरक हो जाएगा । तब मन्त्र के ज्ञेय तत्त्व "परमात्मा" तथा "मनस्" हो जाएगे । आध्यात्मिक दृष्टि से परमात्मा का ज्ञान प्राप्त करना श्रेय है तथा इसी प्रकार भौतिक दृष्टि से मनस्तत्त्व को भी जानना आवश्यक है, क्योकि ससार मे अनेक प्रकार के सम्बन्धादि का आधायक मनस् ही है । जो व्यक्ति इन दोनो तत्त्वो को भलीभाँति जानता है, वही "कवि" (तत्त्वज्ञ) कहलाने तथा उपदेश करने का अधिकारी हो सकता है ।

उन्नीसवें मन्त्र मे ऋषि ने तत्त्वज्ञो द्वारा निकटस्थ को दूरस्थ एव दूरस्थ को निकटस्थ बताए जाने की बात की है । मन्त्र के उत्तरार्ध मे इन्द्र एव सोम द्वारा निर्मित मण्डलो द्वारा रथ मे युक्त घोडो केसमान लोको को ढोने की बात कही गई है । यहाँ विचारणीय है कि पार्श्वस्थ और दूरस्थ क्या है, जिन्हे तत्त्वज्ञ लोग दूरस्थ और निकटस्थ कहते है ? सायण ने उन्हे रश्मियाँ या ग्रहादि माना है ।

---

1 द्रष्टव्य – ऋग्वेद 1.164 18 पर सायणभाष्य

2 द्रष्टव्य, वही, आत्मानन्दभाष्य

ये रश्मियाँ सूर्य तथा सोम के चक्र मे लगी हुई है तथा उसके परिभ्रमण के कारण नीचे और ऊपर आती–जाती रहती है ।[1] वेङ्कटमाधव ने भी रश्मि का ही अर्थ लिया है । उनके अनुसार इन्द्र आदित्य का वाचक है तथा आदित्य और चन्द्रमा अलातचक्र के समान एक दूसरे को अपने–अपने तेज से पूर्ण करते हुए परिवर्तित होते रहते है तथा ससार को धारण किये हुए है ।[2] इस प्रकार इन्द्र एव सोम के तेजोमण्डल द्वारा ही यह ससार धृत है । वस्तुत कालचक्र सदैव चलता रहता है, जिसके कारण जिस वस्तु को हम पहले पार्श्वस्थ कहते है वह अगले क्षण मे दूरस्थ हो जाती है तथा जिसे पहले हम दूरस्थ कहते है, वह पार्श्वस्थ हो जाती है । यह कालकृत परिवर्तन ही है । मन्त्र मे इन्द्र पुरुष तथा सोम स्त्री का प्रतीक है । इन्ही दोनो के तेजोमण्डल के परस्पर सम्पर्क से इस सृष्टि का क्रम चलता रहता है । इसी क्रम के कारण वस्तुओ मे हुए परिवर्तन को तत्त्वज्ञ लोग उद्घाटित करते है ।

(8) "गो" तथा "वत्स" की अवधारणा – ऋषि ने सूक्त मे अनेकत्र "गो" तथा "वत्स" का प्रतीकात्मक प्रयोग किया है ।[3] प्रथमत "गो" शब्द का प्रयोग तीसरे मन्त्र मे "वाणी" के अर्थ में किया गया है । सातवे मन्त्र मे यह "रश्मि" का वाचक है । नवे मन्त्र मे "गो" तथा "वत्स" का प्रयोग "माता" एव "पुत्र के रूप मे किया गया है । इन दोनो का रहस्यात्मक स्वरूप हमे सूक्त के सत्रहवे मन्त्र मे दृष्टिगोचर होता है । वहाँ बताया गया है कि "गौ", "पर" से नीचे तथा "अवर" से ऊपर अपने पैर से "वत्स" को धारण करती हुई ऊपर स्थित हो गई । उसका गन्तव्य ज्ञात नही है तथा वह कहाँ चली गई, यह भी अज्ञात है । वह कही अपने "वत्स" को उत्पन्न करती है, किन्तु वह स्थान भी अज्ञात है । सायण ने प्रथमत तो "आहुति" को "गो" तथा "अग्नि" को "वत्स" मानकर व्याख्या की है, किन्तु आगे वैकल्पिक रूप से उन्होंने "गो" को "रश्मिरूपा" तथा "वत्स" को वत्स के समान रक्षणीय यजमान के रूप मे स्वीकार किया है । वह वत्ससदृश यजमान को लेकर आदित्य

---

1 ये सूर्यसोमयोश्चक्रे वर्तमाना रश्मयो ग्रहादयश्च तत्परिभ्रमणवशेन अधोमुखा सन्ति तानेव ऊर्ध्वानाहु कालविद । ऋग्वेद 1 164 19 पर सायणभाष्य

2 आदित्यचन्द्रमसावलातचक्रवदितरेतर तेजोभिरापूरयन्तौ परिवर्तेते तेजोभिर्जगद्धारयन्ताविति । वही, वेङ्कटमाधवभाष्य

3 द्रष्टव्य 1 164 3, 7, 9, 26, 27, 28, 29 तथा 40

के पास चली जाती है तथा इन्द्रादि लोको मे प्रसव करती है, सर्वत्र नही ।[1] वेड्कटमाधव भी "गो" को "रश्मि" के रूप मे ही स्वीकार करते है । उन्होने "अर्धम्" पद का दो बार अन्वय करते हुए रश्मि को, दिन को प्रकाशित करने वाली तथा रात्रि का अतिक्रमण करने वाली कहा है । उनके अनुसार "वत्स" आदित्य है ।[2] ग्रिफिथ ने "उषा" को "गौ" तथा सूर्य को "वत्स" माना है । उन्होने "यूथ" शब्द का अर्थ – दृश्यमान जगत् किया है ।[3]

वस्तुत यहॉ "गो" को ज्ञानस्वरूपा "रश्मि" तथा "वत्स" को उन किरणो से यजमान के हृदय मे उत्पन्न होने वाले प्रकाशस्वरूप "ज्ञान" के रूप मे मानना उचित प्रतीत होता है । वह ज्ञानस्वरूपा "रश्मि" अपने द्वारा सद्य जायमान प्रकाशस्वरूप "वत्स" को अपने उच्च तथा निम्न – दोनो स्वरूपो से पुष्ट करती है । उसके दो स्वरूप ज्ञान एव अज्ञान ही हो सकते है । यजमान मे उत्पन्न हुए ज्ञान रूपी "वत्स" को ज्ञान तथा अज्ञान दोनो ही पुष्ट करते है । अध स्थित लोक, अर्थात् पृथ्वी अज्ञान का प्रतीक है एव ऊर्ध्वस्थित "द्युलोक" ज्ञान का । रश्मिरूपी "गौ" इन्ही दोनो के मध्य "वत्स" को धारण करती है । उसका ऊर्ध्वगमन "ऋत" की ओर या सूर्यलोक की ओर माना जा सकता है । वही परार्ध है तथा मन, प्राण एव शरीर से युक्त पृथिवीलोक अवरार्ध है । यह अज्ञान का प्रतीक है । "गो" परार्ध मे जाकर ही "वत्स" को जन्म देती है, अवरार्ध मे नही, क्योंकि यह अज्ञानस्वरूप है । तथ्य यह है कि यजमान के हृदय मे ज्ञानोदय तभी होगा, जब वह आध्यात्मिक रूप से भौतिक प्रपञ्च से परे हो जाएगा ।

---

1 अत्राग्नौ हूयमानहविर्गोरूपेण स्तूयते । वत्स वत्सस्थानीयमग्निम् । . यद्वा आदित्य–रश्मिसमूह एव गोरूपेण स्तूयते । वत्स वत्सवद्रक्षणीय यजमानम् ।
ऋग्वेद 1 164 17 पर सायणभाष्य

2 सा च गौ कञ्चिदर्धम् अहराख्यम् अञ्चन्ती रात्र्याख्यम् कम् चित् अर्धम् अतीत्य प्रादुरभूत्
वही, वेड्कटमाधव–भाष्य

3 Ushas or Dawn hath risen between heaven and earth, **carrying** with her the young sun her offspring.
This herd of cattle : The visible world.
वही, ग्रिफिथ की टिप्पणी

छब्बीसवे मन्त्र मे ऋषि ने शोभन दूध वाली गाय का आवाहन करते हुए कुशल दोग्धा से उसे दुहने के लिए कहा है । उसने सविता से श्रेष्ठ दूध प्रेरित करने की याचना की है, क्योंकि "घर्म" अभितप्त हो गया है । सायण ने "गोधुक्" का अर्थ – "गोदोग्धा" अध्वर्यु तथा सविता का – सबका ज्ञाता परमेश्वर किया है । वे "सवम्" का अर्थ – सोमयाग या क्षीर करते है । उन्होने एक वैकल्पिक अर्थ प्रस्तुत करते हुए धेनु को "मेघ", दुग्ध को "वृष्टि" तथा दोग्धा को "वायु" या "आदित्य" के रूप मे स्वीकार किया है ।[1] वेड्कटमाधव ने प्रस्तुत मन्त्र मे गोरूपा माध्यमिका वाक् की स्तुति का उपपादन किया है ।[2] आत्मानन्द धेनु का अर्थ – अध्यात्मपरा श्रुति अथवा उपनिषद्, "सुहस्त " का – सुखहस्त सुखकर अर्थात् शड्कराचार्य और "सवम्" का अर्थ – "जन्म" करते है ।[3] तात्त्विक दृष्टि से विचार करने पर आत्मानन्द का अर्थ सड्गत नही प्रतीत होता, क्योंकि दीर्घतमा के काल तक न तो उपनिषदो की रचना को स्वीकार किया जा सकता है और न शड्कराचार्य के आविर्भाव को । ग्रिफिथ ने प्रकृत मन्त्र तथा आगामी दो मन्त्रो (37 तथा 38) मे "गो" को यज्ञ–निष्पादनार्थ दुग्ध प्रदान करने वाली गाय के रूप मे स्वीकार किया है ।[4] सातवलेकर जी ने मन्त्र के प्रतीक को स्पष्ट करते हुए धेनु को कामधेनु गाय के रूप मे प्रतिष्ठित करते हुए उसे महा प्रकृति माना है । इसका वत्स प्राणरूप सूर्य है और यह ससार उस गाय रूपी प्रकृति का दूध है । इस दूध को वही दुह सकता है जो ज्ञानी है, अर्थात् ज्ञानी ही इस प्रकृति और ससार की वास्तविकता को जान सकता है । सविता यह मन और प्राण है, यह प्राण शरीर मे जीवनन–रस का सञ्चार करता है । यह शरीर एक भट्टी है, जो सदा तपती रहती है और इसमे प्राण के द्वारा उत्पन्न जीवन–रस पकता रहता है ।[5] प्रस्तुत स्थल पर सातवलेकर जी की व्याख्या सबसे अधिक सड्गत प्रतीत होती है ।

---

1 द्रष्टव्य – ऋग्वेद 1 164 26 पर सायणभाष्य

2 द्रष्टव्य – वही, वेड्.कटमाधव–भाष्य

3 वही, आत्मानन्द–भाष्य

4 The mılch - cow ın this and the two following stanzas may be the cow who supplıes mılk for the sacrifice.
वही, ग्रिफिथ की टिप्पणी

5 सातवलेकर, ऋग्वेद का सुबोध भाष्य, भाग – 1, पृष्ठ 438

सत्ताईसवे मन्त्र मे "गो" को वसुओ की स्वामिनी, मन से "वत्स" को चाहने वाली, हिड्कार करने वाली तथा "अघ्न्या" बताते हुए उसे अश्विनो के लिए दूध निकालने को कहा गया है। अन्तत महान् सौभाग्य के लिए उसकी वृद्धि की कामना की गई है । सायण ने इस मन्त्र मे भी अघ्न्या गौ को मेघरूपा माना है । वह वृष्टि करने के लिए गरजती है और वसुओ अर्थात् गो, सस्य इत्यादि धनो की पालिका है । यह लोक ही उसका वत्स है, जिसे मन से चाहती हुई वह आती है। उन्होंने "अश्विन्" का अर्थ – स्थावर तथा जड्गम अथवा वायु और आदित्य से लिया है ।[1] आत्मानन्द ने यहाँ भी "वसुपत्नी" का अर्थ – ब्रह्मविद्या करते हुए उसी का सम्यक् उपपादन किया है ।[2] सातवलेकर जी ने गाय को मन, प्राण, अपान और पञ्चभूत रूपी आठ वसुओ का पालन करने वाली बताते हुए उसे सारे ससार की पालिका कहा है ।[3]

वस्तुत प्रकृत मन्त्र मे "गो" को रश्मि के रूप मे ग्रहण करना चाहिए । ससार का सारा उत्कर्ष उन रश्मियो मे ही निहित है । वे "वत्स" के समान इसे चाहती है । सत्रहवे मन्त्र के प्रतिपादन के समान ये रश्मियाँ भी ज्ञानस्वरूपा है । इनका लाभ ले लेने के पश्चात् व्यक्ति आप्तकाम हो जाता है । अश्विनो के लिए दूध निकालने का तात्पर्य उनके विषय मे ज्ञान प्राप्त करना हो सकता है । इस ज्ञानात्मक रश्मिरूपा गो के सौभाग्य की वृद्धि की कामना करने का तात्पर्य ज्ञान की प्रशसा करना है । ज्ञान स्वय आलोकित होते हुए ज्ञानी को भी अलंकृत करता है ।

अट्ठाइसवे मन्त्र मे रम्भाती हुई गौ द्वारा आँखे बन्द किये हुए बछडे का सिर चाटने की बात कही गई है । वह बछड़े को अपने गरम थनो के पास ले जाती है तथा रम्भाते हुए उसे दूध पिलाती जाती है । सायण ने यहाँ भी "गौ" को मेघरूपा मानते हुए लोकरूपी वत्स के जल द्वारा सिञ्चन की बात कही है ।[4] आत्मानन्द ने इस मन्त्र मे ब्रह्मविद्या की प्रवृत्तियो का प्रतिपादन स्वीकार किया है ।[5]

---

1 द्रष्टव्य – ऋग्वेद 1 164 27 पर सायणभाष्य

2 वही, आत्मानन्द–भाष्य

3 वही, सातवलेकर जी का सुबोध भाष्य, पृष्ठ 438

4 वही, 1 164·28 पर सायणभाष्य

5 वही, आत्मानन्दभाष्य.

प्रकृत स्थल पर "गो" तथा "वत्स" के स्वाभाविक मिलन का यथार्थ निरूपण किया गया है । बछडे को देखकर गाय का रम्भाना नितान्त स्वाभाविक है । वह शीघ्र ही बछडे को चाटने लगती है तथा अपने थन को उसकी तरफ दूध पिलाने के लिए कर देती है । दूध पिलाते समय भी वह हुङ्कार प्रकट करती रहती है । मन्त्रस्थ "मिषन्तम्" पद का अर्थ – ऑखे खोले हुए करना उचित है, यद्यपि सायण तथा सातवलेकर जी ने इसका अर्थ – ऑखे बन्द किये हुए किया है ।[1] ज्ञान प्राप्त करते समय ज्ञानी का उन्मीलिताक्ष होना परमावश्यक है । लोक मे भी उन्मीलिताक्ष वत्स को देखकर ही गो का रम्भाना उपपन्न है । "गो" अपने हृदय के उल्लास से वत्स के सिर को सूघती है, जिससे वह भी रम्भाने लगे । इस वर्णन को मूल प्रकृति तथा उसके विश्वरूपी बछडे के साथ भी सम्बद्ध किया जा सकता है । दोनो एक–दूसरे के प्रति हार्दिक उल्लास से ओतप्रोत है । यही विश्व का हार्दिक या प्राणमय जीवन है । सूक्त के नवम मन्त्र मे "गो" को देखकर बछडे के रम्भाने की बात भी कही गई है । वह वत्स रम्भाने के बाद अपनी माँ का अनुगमन करते हुए तीन योजनो मे विश्व के सभी रूपो को देख लिया । मन, प्राण और पञ्चभूत ही विश्वरूप है । इनके अतिरिक्त इस विश्व मे कुछ भी नही है । "वत्स" का "गो" के साथ तीन योजन तक चलना इन तीनो रूपो के दर्शन अर्थात् वास्तविक ज्ञान के लिए आवश्यक है । प्रत्येक योजन की यात्रा मे एक–एक रूप का दर्शन हो सकता है । यह सम्पूर्ण विश्व इन्ही तीन रूपो की समष्टि है । प्रत्येक शरीर मे ये ही तीन रूप है । सर्वप्रथम स्थूल पञ्चभूतो से बना शरीर, पुन उसके अन्दर रहने वाला सूक्ष्म प्राणतत्त्व तथा प्राण से भी सूक्ष्म उसे सञ्चालित करने वाला मनस्तत्त्व है ।

सूक्त के उन्तीसवे मन्त्र मे "गौ" के आच्छादक तत्त्व द्वारा शब्द करने की बात कही गई है । वह गौ अपने आश्रय मे स्थित होकर ज्ञान द्वारा मनुष्यो को निम्न कर देती है । चमकती हुई वह अपने रूप को प्रकट करती है । सायण ने आच्छादक तत्त्व को "वत्स" मानते हुए गौ द्वारा मनुष्यो को निम्नस्थ करने को, मनुष्यो की अपेक्षा उसे अधिक स्नेह प्रकट करने वाली के रूप मे उपपन्न किया है । उन्होने वैकल्पिक रूप से माध्यमिका वाक् के रूप मे भी "गाय" को माना है ।[2]

---

1 ऋग्वेद 1 164.28 पर सायणभाष्य तथा सातवलेकर जी का सुबोध भाष्य, पृष्ठ 439.

2 द्रष्टव्य – ऋग्वेद 1 164.29 पर सायणभाष्य

ग्रिफिथ के अनुसार यहाँ "स " का अर्थ – गरजने वाला बादल तथा "गौं" का – मेघ है ।[1] सातवलेकर जी "गौ" को रश्मिवाचक मानते हुए कहते है – "बादल शब्द करते हुए आते है और सूर्य–किरणो को ढँक लेते है, तब उन बादलो मे स्थित बिजली गरजती है । जब वह पानी बरसाती है, तब मनुष्य उत्पन्न होते है (जल से अन्न, अन्न से वीर्य और वीर्य से पुरुष उत्पन्न होते है), जब पानी बरसने लगता है, तब उसका रूप और प्रकाशमान हो जाता है ।"[2] प्रकृत स्थल पर सातवलेकर जी की दृष्टि को उचित कहा जा सकता है । वस्तुत सूर्य की किरणे ही प्रकारान्तर से जल प्रदान करती है । बादल घिर जाने से ये रश्मियाँ तिरोहित होकर अपने आश्रय मे स्थित हो जाती है । मन्त्र का मूल तत्त्व यह है कि यद्यपि गाय अपने वत्स द्वारा आच्छादित हो जाती है, तथापि उसका आच्छादन वास्तविक नही है, वह तो और उन्नत स्थान मे स्थित हो जाती है । फिर गौ और वत्स दोनो मिलकर शब्द करने लगते है । वह मनुष्यो की सीमा से परे प्रकाशस्वरूप होकर अपना सुन्दर रूप दिखाती है । सुन्दर रूप दिखाने का तात्पर्य अन्धकार हटाने से है । इस तथ्य को उषा द्वारा सूर्य को प्रकट करने के रूप मे भी प्रस्तुत किया जा सकता है । वह उषा ही जगत् का अन्धकार तिरोहित करके सूर्य के रूप मे अपना सुन्दर रूप प्रकट करती है ।

सूक्त का चालीसवाँ मन्त्र भी "गाय" से ही सम्बद्ध है । इसमे अहननशीला गाय को "यव" का भक्षण करके धनवती या सौभाग्यवती होने की कामना की गई है । इसी से यजमान भी प्रसन्न या धनवान हो सकते है । पुनश्च गाय से तृण का भोजन करके शुद्ध जल पीकर विचरण करने की प्रार्थना की गई है । आत्मानन्द ने यहाँ "गौ" को बुद्धि का प्रतीक मानते हुए उससे ब्रह्मरस का आस्वादन करना उपपन्न किया है ।[3] वेङ्कटमाधव ने इसे "वाक्" माना है ।[4] वस्तुत प्रसङ्गानुसार यहाँ "गौ" का वाक्परक अर्थ ही करना चाहिए । वाणी रूपी धन से धनवान् होने पर ही व्यक्ति

---

1. He also : Probably parjanya, the personified Storm-Cloud. The Cow here is undoubtedly a cloud.
   ऋग्वेद 1 164 29 पर ग्रिफिथ की टिप्पणी
2 सातवलेकर – ऋग्वेद का सुबोध भाष्य, पृष्ठ 439
3. द्रष्टव्य – ऋग्वेद 1 164 40 पर आत्मानन्द–भाष्य
4 सर्वस्या एव वाच स्तुति । गोरूपा हि वागित्युक्तम् । वही, वेङ्कटमाधव–भाष्य

अक्षुण्ण रूप से धनी हो सकता है । वाणी को जानने का तात्पर्य उसके रहस्य को जानना है । ऐसी स्थिति मे ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान – तीनो एक हो जाएँगे तथा उनकी एकात्मक अचल प्रतिष्ठा हो जाएगी। इस प्रकार प्रस्तुत मन्त्र को भी ऊपर वाले मन्त्रो की शृङ्खला मे ही जोडते हुए "गो" को ज्ञानस्वरूपा रश्मियो के रूप मे भी प्रतिपादित किया जा सकता है ।

ऊपर विवेचित मन्त्रो के आधार पर यह कहा जा सकता है कि ऋषि ने "गो" तथा "वत्स" का प्रतीकात्मक प्रयोग करते हुए उन्हे गूढ अर्थों मे प्रयुक्त किया है । तात्त्विक दृष्टि से "गो" ज्ञानस्वरूप रश्मि है, तथा "वत्स" यह दृश्यमान जगत् ।

(9) **"सुपर्ण" तत्त्व** – प्रस्तुत सूक्त के गूढ तत्त्वो मे "सुपर्ण" का महत्त्वपूर्ण स्थान है । ऋषि ने 20, 21 तथा 22 वे मन्त्र मे इसका सम्यक् निरूपण किया है । सङ्केत के रूप मे यह सन्दर्भ 47 वे तथा 52 वे मन्त्र मे भी आया है । छियालीसवे मन्त्र मे तो यह देवैक्य का आधायक है । बीसवे मन्त्र मे दो सुन्दर पङ्खो वाले, समान योग वाले, मित्रभाव से अभिभूत पक्षियो को एक ही वृक्ष पर आरूढ बताया गया है । उनमे से एक मीठे फल का भक्षण करता है तथा दूसरा मात्र देखता है या प्रकाशित होता है । सायण ने इस मन्त्र मे दो लौकिक पक्षियो के माध्यम से जीवात्मा तथा परमात्मा की स्तुति का उपपादन किया है । सुपर्णस्थानीय वे–क्षेत्रज्ञ तथा परमात्मा "सयुज" अर्थात् समान योग वाले इसलिए है कि उनका सम्बन्ध तादात्म्य लक्षण वाला है, अत वे दोनो एक ही स्वरूप वाले है । "समानख्यान" होने के कारण वे सखा है । उनमे दृष्टान्त–दार्ष्टान्तिकभाव नही है, अपितु जैसा ख्यान या स्फुरण परमात्मा का है, वही जीवात्मा का भी है । इसीलिए वे सखा अर्थात् एकरूप प्रकाश वाले है । दोनो का आश्रय एक ही वृक्ष–देह है । इनमे से जीवात्मा पिप्पल के रूप मे अपने कर्मों के स्वादिष्ट फल का भोग कर रहा है, किन्तु आप्तकाम परमात्मा मात्र वहाँ साक्षिभाव से अवेक्षण कर रहा है ।[1] यहाँ सायण स्पष्टत वेदान्त दर्शन की

---

1 अत्र लौकिकपक्षिद्वयदृष्टान्तेन जीवपरमात्मानौ स्तूयेते। द्वौ सुपर्णस्थानीयौ क्षेत्रज्ञ–परमात्मानौ समानयोगौ योगो नाम सम्बन्ध । स च तादात्म्यलक्षण । यादृश ख्यान स्फुरण परमात्मन तदेव ख्यानमितरस्यापि जीवात्मन इति सखायावित्युच्यते । वृश्च्यत इति वृक्षो देह । स चोभयो समान एक एव । तयोरन्यो जीवात्मा पिप्पल कर्मफल स्वादुभूतमत्ति भुङ्क्ते । अन्य परमात्मा अनश्नन्नाप्तकामत्वेनाभुञ्जान । स्वात्मन्यध्यस्त जगत् साक्षित्वेनेक्षते ।
ऋग्वेद 1 164 20 पर सायणभाष्य

उत्पत्ति की ओर सङ्केत करते हुए दृष्टिगत होते है । आत्मानन्द ने भी प्रस्तुत ऋचा मे जीव तथा परमात्मा का ही उपपादन स्वीकार किया है ।[1] सातवलेकर जी भी इन्ही विद्वानो का अनुगमन करते है ।[2] वेङ्कटमाधव ने दो पक्षियो के रूप मे आदित्य और सोम को स्वीकार किया है । उन्होने सवत्सर को ही वृक्ष मानते हुए आदित्य या इन्द्र को फल का भोक्ता तथा सोम को द्रष्टा के रूप मे स्वीकार किया है ।[3]

इक्कीसवे मन्त्र मे यह बताया गया है कि सुन्दर पङ्खो वाले पक्षी उस वृक्ष पर बैठकर अपने ज्ञान से अमृत के भाग की स्तुति करते है । सम्पूर्ण विश्व के स्वामी तथा पालक बुद्धिमान् परमात्मा द्वारा ऋषि मे प्रवेश करने की बात भी की गई है । सायण ने मन्त्र की आधिदैविक व्याख्या करते हुए "सुपर्णा " का अर्थ – रश्मियाँ तथा "अमृत" का – "उदक" किया है । उन्होने आध्यात्मिक पक्ष मे "सुपर्ण" का अर्थ – अपने–अपने विषयो का ग्रहण करने मे कुशल चक्षु आदि इन्द्रियाँ तथा अमृत का – "विषयावच्छिन्न चैतन्य" किया है । वे "विदथा" का अर्थ – वेदन – "वृत्त्यवच्छिन्नचैतन्य द्वारा" करते है । मन्त्र के अन्तिम पाद की व्याख्या करते हुए उनका मन्तव्य है कि पहले अज्ञान की स्थिति मे मै "मुझसे अन्य कोई ईश्वर है" इस तथ्य को न जानते हुए आगे चलकर यह जान लिया कि सत्यज्ञानादि लक्षण वाला कोई सर्वज्ञ, सर्वेश्वर है । बाद मे गुरु तथा शास्त्रो के द्वारा यह जानकर कि वह ईश्वर मै ही हूँ, मै परिपूर्ण परमात्मा हो गया ।[4] आत्मानन्द सुपर्ण को मोक्षपक्षीय जीव तथा अमृत को सुखरूप ब्रह्म मानते हुए आध्यात्मिक व्याख्या प्रस्तुत करते है ।[5]

---

1 ऋग्वेद – 1 164 20 पर आत्मानन्द–भाष्य

2 वही, सातवलेकर जी का सुबोध भाष्य, पृष्ठ 436

3 द्वौ सुपतनौ आदित्यश्च सोमश्च सह एक वृक्ष सवत्सरम् । वही, वेङ्कटमाधवभाष्य.

4 सुपर्णा शोभनगमना रश्मय । अमृतस्य उदकस्य। सुपर्णा स्वस्वविषयग्रहणाय गमन–
–कुशलानीन्द्रियाणि चक्षुरादीनि अत्र विषयावच्छिन्न चैतन्यममृतमित्युच्यते । विदथा वेदनेन वृत्त्यवच्छिन्नचैतन्येन।. अपरिपक्वमना अह पूर्वमज्ञानदशाया मदन्य ईश्वरोऽस्तीत्य–
–विद्वान् तत परमस्ति कश्चित् सर्वज्ञ सर्वेश्वर सत्यज्ञानादिलक्षण इति निश्चित्य पश्चाद् गुरुशास्त्राभ्या स एवाहमस्मीति मत्वा परिपूर्ण परमात्माऽभूवम् ।
ऋग्वेद 1.164 21 पर सायणभाष्य

5 सुपर्णा मोक्षपक्षीया जीवा अमृतस्य सुखरूपस्य ब्रह्मण । वही, आत्मानन्दभाष्य

सूक्त के बाईसवे मन्त्र मे प्रतिपादित किया गया है कि विश्व के ऊपर जिस वृक्ष पर मधु का भक्षण करने वाले पक्षी निवास करते है तथा उत्पत्ति भी करते है, उसके ऊपरी भाग मे स्वादिष्ट फल है । जो पिता को नही जानता है, वह उस मीठे फल को नही प्राप्त कर सकता । वेङ्कट माधव ने इस मन्त्र मे "वृक्ष" को आदित्य तथा "सुपर्ण" को रश्मियाँ माना है ।[1] सायण ने यहाँ आधिदैविक रूप से "आदित्य" की तथा आध्यात्मिक रूप से "आत्मा" की प्रशसा स्वीकार की है । आध्यात्मिक अर्थ के अनुसार जिस परमात्मा रूपी वृक्ष पर शोभनगमना इन्द्रियाँ ज्ञान का भक्षण करने वाली है, प्रबोध होने पर वे पुन वही अपने-अपने विषयो को प्राप्त कर लेती है । उस परमात्मा के ससार से उद्धार कराने वाले स्वादिष्ट ज्ञानरूपी पिप्पल फल को "अग्रे" अर्थात् स्वरूप का ज्ञान हो जाने के पश्चात् प्राप्त किया जा सकता है । अत जो "आत्मा" को जानता है, वही मोक्षफल प्राप्त करता है ।[2] आत्मानन्द के अनुसार इस मन्त्र मे लिङ्गशरीर का ही भोक्तृत्व प्रतिपादित किया गया है ।[3] वेङ्कटमाधव आधिदैविक अर्थ ही प्रकट करते है ।[4] सातवलेकर जी "मध्वद सुपर्णा" का अर्थ – प्राणरस को पीने वाले पक्षी – जीवात्माएँ करते है । उनके अनुसार जब आत्माएँ शरीर के साथ सयुक्त होती है, तब वे जीवात्माएँ बनकर प्राणरूपी मधुर रस का पान करती है, (प्राणो वै मधु – प्राण ही मधु है – शतपथब्राह्मण 14 1 3 30) इस ससार वृक्ष मे सबसे ऊपर मीठे-मीठे फल लगे हुए है, जो इस ससार मे सर्वश्रेष्ठ बनता है, वही उन मीठे फलो को खा सकता है, पर जो उस सर्वपालक परमात्मा को नही जानता, वह उन फलो को नही पा सकता । परमात्मा को जाने बिना श्रेष्ठ बनना और श्रेष्ठ बने बिना उन मीठे फलो को पा सकना असम्भव है ।[5]

---

1 अस्मिन् आदित्यवृक्षे ... । ऋग्वेद 1 164 22 पर वेङ्कटमाधव-भाष्य

2 अत्र ...अधिदैवमादित्यमध्यात्ममात्मान च प्रशसति। सुपर्णा शोभनगमनानीन्द्रियाणि मध्वदो मधुनो ज्ञानस्यात्तृपि । ..प्रबोधकाले अधि विश्वे विश्वस्योपरि सुवते. ..स्वस्वविषयान् लभन्ते । तस्य परमात्मन पिप्पल पालक ससारत उद्धारक स्वाद्वास्वादनीयममृतत्वलक्षण ज्ञानम् । . तत्फलमग्रे स्वरूपज्ञानोत्तरकालमाहु ।
ऋग्वेद 1.164 22 पर सायणभाष्य

3 द्रष्टव्य, वही, आत्मानन्दभाष्य

4 वही, वेङ्कटमाधव-भाष्य

5 वही, सातवलेकर – ऋग्वेद का सुबोध भाष्य, पृष्ठ 437

उपर्युक्त तीनो मन्त्रो पर विचार करने पर हमे "सुपर्ण" के रूप मे "आत्मा" का परिचय प्राप्त होता है । बीसवॉं मन्त्र अद्वैतवेदान्तपरक न होकर त्रितत्त्ववादी विशिष्टाद्वैतवेदान्त की पृष्ठभूमि निर्मित करता है । उसमे जीवात्मा कर्तृत्व–भोक्तृत्व से युक्त बताया गया है । परमात्मा इन सबसे परे है । "वृक्ष" यह जगत् ही है । इस प्रकार आत्मा (चित्), जगत् (अचित्) तथा परमात्मा (ब्रह्म) के रूप मे तीन तत्त्वो की प्रतिष्ठा की गई है । इक्कीसवे मन्त्र मे बहुवचन मे आए "सुपर्ण" शब्द का अर्थ "जीवात्मा" ही करना चाहिए, क्योकि वे (जीवात्मा) ससार के आश्रय मे रहते हुए अपने ज्ञान द्वारा निरन्तर अमरता की प्रशसा किये जा रहे है । तात्पर्य यह है कि वे अमृतत्व को जानते तो है, किन्तु अज्ञानवश उन्हे अपने स्वय के अमरणधर्मा होने का ज्ञान नही है । ऋषि ने मन्त्र के उत्तरार्ध मे स्वय को अपरिपक्व मानते हुए अपने मे ईश्वर या परमात्मा के प्रवेश की बात कही है । इससे भी यही सिद्ध होता है कि पूर्वार्द्ध मे वर्णित सुपर्ण (जीवात्मा) अभी ऋषि की कोटि मे नही पहुँच पाए है। बाईसवे मन्त्र मे पुन उसी ससार रूपी वृक्ष की तथा जीवात्माओ की चर्चा आई है । ये जीवात्मा मधु का भक्षण करने वाले है तथा इस विश्व के आश्रय मे प्रजाओ की उत्पत्ति करते रहते है । इस जगत् रूपी वृक्ष के ऊपर स्वादिष्ट फल है, जिसे परमात्मा को जानने वाला व्यक्ति ही प्राप्त कर सकता है, न जानने वाला नही । तात्पर्य यह है कि इन लौकिक जीवो मे भी ज्ञानोदय हो जाने के पश्चात् ही ये सासारिक फलो के तत्त्व को जान सकते है । जब तक इन्हे परमात्मा का ज्ञान नही हो जाता, तब तक ये सासारिक फलो के रहस्य को भी नही जान सकते है । बीसवे मन्त्र मे जिसे "समान वृक्षम्" कहा गया है वही इक्कीसवे मे "यत्र" तथा बाईसवे मन्त्र मे "यास्मिन् वृक्षे" के रूप में अभिहित किया गया है । इसी प्रकार "परिषस्वजाते", "अभिस्वरन्ति" तथा "निविशन्ते", ये तीनो क्रियापद प्राय एक ही ध्वनि के सूचक है । बीसवे मन्त्र मे प्रतिपादित दोनो पक्षी एकरूप है, मात्र उनमे "उपाधि" का ही भेद है ।

सैतालीसवे मन्त्र मे भी "सुपर्ण" शब्द का बहुवचन मे प्रयोग किया गया है । यास्क उसे "रश्मि" का वाचक मानते है ।[1] सायण एव वेङ्कटमाधव ने भी उन्ही का अनुगमन किया है ।[2] आत्मानन्द प्रस्तुत मन्त्र मे भक्त के स्वरूप को उपपन्न करते है । उनके अनुसार "सुपर्णा" का अर्थ–

---

1 आदित्यस्य हरय सुपर्णा हरणा आदित्यरश्मय । निरुक्त 7 24

2 द्रष्टव्य – ऋग्वेद 1.164.47 पर सायण एव वेङ्कटमाधव–भाष्य

"गरुड के समान जातिवाले" है । वे सुपर्ण, सारूप्य इत्यादि के द्वारा विष्णु होकर समानता प्राप्त करते है ।[1] वस्तुत यहाँ सुपर्ण का अर्थ, – आदित्य की किरणें करना ही उचित प्रतीत होता है । उत्तरायण काल मे रसों को हरने वाली किरणे जल को लिए हुए द्युलोक मे चली जाती है । वे ही फिर दक्षिणायन के समय जल के आश्रयभूत "ऋत" से लौट आती है तथा उस समय पृथिवी जल से सीच दी जाती है ।

सूक्त के छियालीसवे मन्त्र मे "सुपर्ण" शब्द का प्रयोग एक वचन मे किया गया है । उसमे देवताओ की तात्त्विक एकता का प्रतिपादन करते हुए कहा गया है कि विप्र लोग उसे इन्द्र, मित्र, वरुण एव अग्नि कहते है तथा वह दिव्य सुन्दर पङ्खो वाला गरुत्मान् है । विप्र लोग इस एक ही "सत्" को बहुत प्रकार से कहते है । वे इसे अग्नि, यम और मातरिश्वा भी कहते है । स्पष्ट है कि यहाँ आया "सुपर्ण" शब्द उस देवतत्त्व का प्रतीक है, जिसे विचक्षण अनेक नामो से अभिहित करते है । यह "सुपर्ण" बीसवे मन्त्र मे प्रतिपादित दो पक्षियो मे से "साक्षिभाव" से देखने वाला दूसरा पक्षी है, जिसे परमात्मा के रूप मे प्रकट किया गया है । एक ही परमात्मा को अनेक नामो से अभिहित करने का तात्पर्य यही है कि उनमे केवल नाम का भेद है, तात्त्विक भेद नही है । इस प्रकार यह मन्त्र "वैदिक अद्वैतवाद" या "देवैकत्ववाद" की प्रतिष्ठा करता है । सायण ने मन्त्र मे प्रथम बार आए "अग्नि" का अर्थ – "अङ्गनादिगुणविशिष्ट" अग्नि तथा द्वितीय बार आए हुए का – "वृष्टि आदि का कारणभूत" अग्नि किया है ।[2]

सूक्त की अन्तिम ऋचा मे भी "सुपर्ण" शब्द का प्रयोग एकवचन मे ही किया गया है । वहाँ यह "सरस्वान्" के विशेषण के रूप मे प्रयुक्त है । ऋषि ने द्युलोक मे उत्पन्न होने वाले सुन्दर पक्षी, विशाल पक्षी, जलो तथा ओषधियो के गर्भ, दर्शनीय तथा वर्षा काल मे वृष्टि–जल से तृप्त करने वाले "सरस्वान्" को रक्षा करने के लिए बुलाया है । इससे यह ज्ञात होता है कि "सरस्वान्" अर्थात् "आदित्य" ही सबसे बडा रक्षक है । यह वही देव है, जिसे ऋषि ने प्रथम मन्त्र मे तीनो भाइयो मे

---

1 सुपर्णा सुपर्ण गरुडसमानजातिकम् आरूढा । विष्णवो भूत्वा सारूप्यादिना समानता प्राप्ता सुपर्णा । ऋग्वेद 1 164 47 पर आत्मानन्द–भाष्य

2 अग्निम् अङ्गनादिगुणविशिष्टम् एतन्नामकमाहु । अग्नि वृष्ट्यादिकारण वैद्युताग्निम् । ऋग्वेद 1 164 52 पर सायणभाष्य

प्रमुख होता के रूप मे अभिहित किया है । बीसवे मन्त्र मे परमात्मा के रूप मे व्याख्यात पक्षी भी यही है ।

इस प्रकार ऋषि ने सूक्त मे अनेक स्थलो पर "सुपर्ण" के माध्यम से "तत्त्व" का सुन्दर निरूपण किया है । यह तारतम्य प्रथम मन्त्र से लेकर अन्तिम मन्त्र तक बना हुआ है । अत यह कहा जा सकता है कि "सुपर्ण" का शाब्दिक अर्थ भले ही "पक्षी" क्यो न हो, इससे आत्मा तथा परमात्मा का सड्केत प्राप्त होता है ।

(10) **काव्यतत्त्व** – प्रस्तुत सूक्त के 23, 24 तथा 25 वे मन्त्र मे "काव्यतत्त्व" के रूप मे विभिन्न छन्दो का निरूपण किया गया है । तेईसवे मन्त्र मे रहस्यात्मक भाषा मे गायत्री के ऊपर गायत्री को अधिष्ठित कहा गया है । त्रैष्टुभ से त्रैष्टुभ की रचना हुई है । जगती पर जगत् अधिष्ठित है । इस तत्त्व को जानने वालो को अमृतत्व प्राप्त करने वाला कहा गया है । सायण ने गायत्री मे अग्नि, त्रैष्टुभ मे वायु तथा जगती मे आदित्य की उद्भावना की है । उन्होने आधियाज्ञिक व्याख्या करते हुए तीनो को प्रात सवन, माध्यन्दिन सवन तथा तृतीय सवन के साथ सम्बद्ध किया है ।[1] आत्मानन्द ने इस मन्त्र मे गायत्र, त्रैष्टुभ तथा जागत ब्रह्म की कल्पना करते हुए इनके ज्ञाता अर्थात अनुभवकर्त्ता के लिए इस लोक मे ही मोक्ष प्राप्त करने की बात कही है ।[2]

यदि इस मन्त्र का अर्थ छन्द परक भी किया जाए, तो कोई हानि नही है । ऐसी स्थिति मे ये तीनो छन्द अपने मे ही व्याप्त है, अर्थात् ये स्वय ही अपने घटक है । इनका प्रतिपाद्य परमात्मा है तथा उसे जानने वाला अमर हो जाता है । तात्पर्य यह है कि उसे वास्तविकता का ज्ञान प्राप्त हो जाता है ।

चौबीसवे मन्त्र मे गायत्र से अर्क, अर्क से साम तथा त्रैष्टुभ से वाक पुन वाक से वाक और द्विपद् तथा चतुष्पद् अक्षर से सात प्रकार की वाणियो को नापने या बनाने की बात कही गई है।

---

1 द्रष्टव्य – ऋग्वेद 1.164 23 पर सायणभाष्य

2 एव तावद् गायत्रत्रैष्टुभजागतसञ्ज्ञाभिर्ब्रह्मविषयास्त्रय पक्षा उपन्यस्ता । ये तु तद्ब्रह्म छन्दोभिरनुपहित निर्गुण तत्त्वमस्यादिलक्ष्य नि सञ्ज्ञक विदुरनुभवन्ति तेऽमृतत्वमिहैव मोक्षमानशु । वही, आत्मानन्दभाष्य

सायण ने तृतीय चरण मे आए "द्विपदा" तथा "चतुष्पदा" को "वाकेन" का विशेषण माना है । वे "अर्क" का अर्थ – अर्चन का साधन मन्त्र करते है । त्रैष्टुभ को अन्य छन्दों का उपादान मानते हुए वे वाक का अर्थ – सूक्त या छन्द करते है ।[1] आत्मानन्द अर्क का अर्थ -- सूर्य, साम का – सामाभिमानिनी देवता तथा वाक का – वागभिमानिनी देवता करते है । उनके अनुसार "अक्षर" अर्थात् उपासित ब्रह्म के द्वारा छन्द के रूप मे वाक् की अभिमानिनी देवता को प्राप्त करने की बात कही गई है ।[2]

मन्त्र मे आए "अर्क" का अर्थ – ऋक् एव "साम" का – सामवेद किया जा सकता है, किन्तु "वाक" का अर्थ निकालना दुष्कर है । यह "यजुष्" नही हो सकता, क्योकि इसकी उत्पत्ति त्रिष्टुप् से बताई गई है, जो छन्दोबद्ध होता है, जबकि यजुष् गद्यमय है । फिर उसी द्विपद् तथा चतुष्पद् वाक से वाक की उत्पत्ति बताई गई है । यहाँ "वाक" द्वारा ऋषि का प्रतिपाद्य स्पष्ट नही होता । सामान्य रूप से इसे सम्पूर्ण वाङ्मय का द्योतक माना जा सकता है । इन सबकी रचना मे अक्षर का सबसे प्रमुख स्थान है । इसीलिए अक्षर द्वारा ऋषि ने सात प्रकार की वाणियो का निर्माण होना बताया है । इन सात वाणियो को सात वैदिक छन्दो के साथ सम्बद्ध किया जा सकता है । इसी प्रकार इसका सम्बन्ध तीसरे मन्त्र के सप्त नामो तथा पाँचवे मन्त्र के सात तन्तुओ के साथ स्थापित किया जा सकता है ।

पच्चीसवे मन्त्र मे ऋषि ने जगत् द्वारा द्युलोक मे सिन्धु को स्थापित करने तथा रथन्तर मे सूर्य को देखने की बात कही है । उन्होने गायत्री की तीन समिधाओ की चर्चा करते हुए इसका अपने महत्त्व से ही प्रकाशित होना बताया है । सायण ने सिन्धु का अर्थ – स्यन्दनशील अथवा उदक का स्यन्दक आदित्य तथा रथन्तर का – रथन्तरनामक साम किया है । गायत्री की तीन समिधाओ को वे उसके तीन चरणो के रूप मे स्वीकार करते है । वैकल्पिक रूप से उन्होने इसे गायत्री, त्रिष्टुप् और

---

1 अर्कम् अर्चनसाधन मन्त्रम् त्रिष्टुबुपादानम् इतरच्छन्द प्रदर्शनार्थम् । वाक वक्तव्यमेकैक छन्द अथवा वाक सूक्तम् । ऋग्वेद 1 164.24 पर सायणभाष्य.

2 अर्क सूर्यम्.. .साम सामाभिमानिनी देवता. . वाक वागभिमानिनीं देवताम् । अक्षर--सञ्ज्ञकेन उपासितेन ब्रह्मणा मिमते गच्छन्ति सप्तसङ्ख्याका वाणी छन्दोरूपवागभिमानिनी देवता । वही, आत्मानन्दभाष्य

जगती के रूप मे भी कल्पित किया है ।[1] वेङ्कटमाधव ने प्राय सायण के समान ही व्याख्या की है ।[2] आत्मानन्द इसमे जागतब्रह्म का उपपादन करते हैं । वे तीन समिधाओ के रूप मे ब्रह्मा, विष्णु और शिव को कल्पित करते है ।[3]

वस्तुत यहाँ सिन्धु का अर्थ जल करना चाहिए, क्योंकि यह द्युलोक अथवा अन्तरिक्ष से ही क्षरित होता है । सूर्य का रथ के अन्दर आरूढ होना स्वय उपपन्न है । गायत्री की तीन समिधाएँ उसके तीन पाद ही है, इस प्रकार वह अपनी ही शक्ति तथा महत्त्व से प्रकाशित होती रहती है । इस मन्त्र मे कर्त्तृपद के रूप मे स्रष्टा को माना जा सकता है ।

ऋषि ने उपर्युक्त तीनो ऋचाओ के माध्यम से छन्दो का जो स्वरूप हमारे सम्मुख प्रस्तुत किया है, उसके आधार पर यह ज्ञात होता है कि ये छन्द ही परमतत्त्व के अभिधायक है । ऋषि इन छन्दो की चर्चा करके इनके प्रतिपाद्य तत्त्व की ओर सङ्केत करता है ।

[11] **जीवतत्त्व** – सूक्त के तीसवे, इकत्तीसवे, बत्तीसवे, सैतीसवे, अड़तीसवे तथा उन्तालीसवे मन्त्र मे "जीव" के स्वरूप का निरूपण किया गया है । तीसवे मन्त्र मे जीव तथा शरीर के सम्बन्ध को स्पष्ट किया गया है । ये दोनो "सयोनि" है अर्थात् एक समान उत्पत्तिस्थान वाले है। सायण ने इसे स्पष्ट करते हुए बताया है कि यद्यपि जीव का जन्म नही होता, तथापि शरीरविशेष के साथ उसका सम्बन्ध होने से दोनो को एक उत्पत्तिस्थान वाला कहना उचित है ।[4] आत्मानन्द ने जीव को जीवभाव स्वीकार करने वाले आत्मा के रूप मे माना है । उन्होने "स्वधा" को अन्न का पर्याय माना है । वैकल्पिक रूप से वे धर्माधर्मसस्कार को भी "स्वधा" के रूप मे मानते है ।[5] सायण इसका

---

1 द्रष्टव्य – ऋग्वेद 1 164 25 पर सायणभाष्य.

2 वही, वेङ्कटमाधवभाष्य

3 समिध फलाभिव्यञ्जकास्त्रिस्रो मूर्त्तयो भवन्ति। गायत्राद्युपासकाना ब्रह्मा वा विष्णुर्वा शिवो वा अवान्तरफलभोगानन्तर अर्चिरादिमार्गेण स्वकान् लोकान् नयन्ति । वही, आत्मानन्दभाष्य.

4 यद्यपि जीवस्य न जन्मास्ति तथापि वपुषस्तत्सद्भावात् तत्सम्बन्धेन उपचर्यते । ऋग्वेद 1.164.30 पर सायणभाष्य.

5 अन्ननामैतत्। उत्तरदेहभोगसाधनै स्वधाभि आत्मीय भोग दधद्भि वा धर्माधर्मसंस्कारै चरति। वही, आत्मानन्दभाष्य.

अर्थ – पुत्रो द्वारा "स्वधा" शब्द के साथ दिये गए अन्नो के रूप मे लेते है ।[1] वस्तुत "स्वधा" का अर्थ अपनी धारणा शक्ति से लेना चाहिए । इसे अपने पुराने धर्माधर्मसंस्कारो के रूप मे भी ग्रहण किया जा सकता है । जीव का विभिन्न स्थानो पर भ्रमण करना उसकी इच्छा या पुराने संस्कारो द्वारा अधिक सड्.गत प्रतीत होता है ।

आत्मा भ्रमणशील है । विभिन्न शरीरो मे भ्रमण करते रहना उसका निसर्ग है । जब यह आत्मा या जीव शरीर को छोडकर चला जाता है, तो शरीर घर मे निश्चेष्ट भाव से पड़ा रहता है । शरीर तथा जीव दोनो साथ–साथ रहने वाले है, किन्तु शरीर नश्वर तथा आत्मा अविनाशी या अमर्त्य है । मृत शरीर का जीव अपनी स्वधा अर्थात् आन्तरिक शक्ति या इच्छा द्वारा भ्रमण करता रहता है ।

प्रकृत मन्त्र के समान ही अडतीसवे मन्त्र मे भी जीवात्मा तथा शरीर के सम्बन्ध की व्याख्या की गई है । मन्त्र का पूर्वार्द्ध तो तीसवे मन्त्र के उत्तरार्द्ध का प्राय अनुवर्तन ही है । मन्त्र मे शरीर तथा जीव दोनो को ही शाश्वत, सर्वत्र गतिशील या विविध स्थानो पर जाने वाला तथा विरुद्ध दिशाओ मे जाने वाला बताया गया है । ये शाश्वत इसलिए है कि सूक्ष्म शरीर के रूप मे दोनो का साथ बना रहता है । इनमे से लोग शरीर के बारे मे तो जानते है, किन्तु जीवात्मा के बारे मे नही जानते है । आत्मा को न जानने का कारण इसका अप्रत्यक्ष होना है । सायण के अनुसार परमात्मा ही सूक्ष्मशरीर की उपाधि से युक्त होकर नाना प्रकार के कर्मों को करके उनका फल भोगने के लिए जीव के रूप मे लिड्.ग, सूक्ष्म और स्थूल – इन तीन शरीरो से युक्त होकर विभिन्न लोकों मे विचरण करता है । उनके अनुसार कुछ विवेकी लोग, कर्तृत्व तथा भोक्तृत्व दोनो से युक्त, इस शरीर के अतिरिक्त कोई और तत्त्व है – यह जानते है । कुछ अन्य लोग देहत्रय से व्यतिरिक्त आत्मा को नही जानते है । इसलिए आत्मज्ञान दुर्लभ है ।[2] आत्मानन्द ने इस मन्त्र में जीवन्मुक्त का लक्षण उपपन्न किया है ।[3]

---

1 पुत्रकृतै स्वधाकारपूर्वकदत्तैरन्नै चरति । ऋग्वेद 1.164 30 पर सायणभाष्य.

2 परमात्मैव सूक्ष्मशरीरोपाधिक सन् नानाविधकर्म कृत्वा तद्भोगाय जीवसञ्ज्ञा लब्ध्वा शरीरत्रयेण सम्बद्ध लोकान्तरेषु सञ्चरति। . . केचन विवेकिन कर्तृत्वभोक्तृत्वोपेतो देहातिरिक्त कश्चिदस्तीति अनुमिमते। न केऽपि देहत्रयव्यतिरिक्तमात्मान जानन्ति। अतो दुर्लभमात्मज्ञानम्। ऋग्वेद 1 164 38 पर सायणभाष्य.

3 द्रष्टव्य – वही, आत्मानन्दभाष्य.

इसी सन्दर्भ मे उन्तालीसवे मन्त्र पर भी विचार कर लेना अपेक्षित है । सायण ने इसमें जीवात्मा के पारमार्थिक स्वरूप का निरूपण स्वीकार किया है । उन्होने मन्त्र मे आए "ऋक्" शब्द से ऋगादि चारो वेदो को अङ्गो सहित अपरविद्या तथा अक्षर को ब्रह्म का वाचक माना है । वे देव इत्यादि के स्वरूप के लाभ को सभी वेदो का प्रतिपाद्य मानते है ।[1] आत्मानन्द ने विषयो को व्याप्त करने वाले को अक्षर अर्थात् जीवात्मा मानते हुए सारे वेदो को ब्रह्म और आत्मा के ऐक्य का प्रतिपादक, अथ च ब्रह्मात्मैक्य के ज्ञान को विशिष्टात्मज्ञान स्वीकार किया है ।[2]

वसतुत वेदो के अक्षर रूपी परमात्मा मे सारे देवता निवास करते है । तात्पर्य यह है कि ऋचाओ का प्रतिपाद्य देवतत्त्व या परमात्मतत्त्व ही है । जो व्यक्ति इस प्रतिपाद्य को नही जानता है, उसके लिए मात्र अक्षर के रूप मे उन मन्त्रो का कोई लाभ नही है । मन्त्रो का अपना विशिष्ट प्रयोजन या अर्थ है, जो गुह्य है । इस रहस्य को जानने वाले लोग इसका लाभ उठाते है । यहॉं तक कि वे देवताओ के साथ बैठते भी है ।

सूक्त के इकत्तीसवे मन्त्र मे ऋषि ने "रक्षक" के दर्शन करने की बात कही है । सायण ने "गोपाम्" पद का अर्थ – प्रकाश इत्यादि के द्वारा समस्त लोको का रक्षक अर्थात् आदित्य किया है उन्होने तैत्तिरीय आरण्यक (5.6 4) को उद्धृत किया है, जिसमे आदित्य को "गोपा" कहा गया है।[3] आत्मानन्द इसका अर्थ "ईश" करते है ।[4]

---

1 जीवात्मन पारमार्थिक रूपमस्ति। तदत्रोच्यते । अत्र ऋक्शब्देन ऋक्प्रधानभूता साङ्गापर– –विद्यात्मका चत्वारो वेदा उच्यन्ते । अक्षरशब्दस्य ब्रह्मवाचकत्वम् । तादृश देवादीना स्वरूपलाभास्पद कृत्स्नवेदै प्रतिपाद्य तात्पर्यम् .। ऋग्वेद 1 164.39 पर सायणभाष्य

2 अश्नुते व्याप्नोति विषयानित्यक्षरम्। तस्मिन्नक्षरे जीवात्मनि। . . एव सर्वेऽपि वेदा ब्रह्मात्मैक्यविषया इति ज्ञात्वा ब्रह्मात्मैक्यावधारण विशिष्टात्मज्ञानम् ।
ऋग्वेद 1.164 39 पर आत्मानन्दभाष्य

3 सर्वस्य लोकस्य वृष्टिप्रकाशादिना गोपायितारम्. .एव महानुभावमादित्यम्। . अपश्य गोपामित्याह असौ वा आदित्यो गोपा स हीमा प्रजा गोपयति – इत्यादि तैत्तिरीयक च द्रष्टव्यम् । ऋग्वेद 1 164 31 पर सायणभाष्य

4 गोपा गोप्तारमीशम् । वही, आत्मानन्दभाष्य

ऐसा प्रतीत होता है कि तीसवे मन्त्र मे जिस आत्मतत्त्व की चर्चा की गई है, ऋषि ने उसका साक्षात्कार कर लिया है और इसी की घोषणा वह प्रकृत मन्त्र मे कर रहा है । ऋषि द्वारा दृष्ट तत्त्व गतिशील होते हुए भी गिरने वाला नही है । वह पार्श्ववर्त्ती तथा दूरस्थ सभी मार्गों से चलता है । वह साथ–साथ भी चलता है तथा चारो ओर भी । वह अन्यो के आच्छादक के रूप मे भी है तथा लोको के भीतर बार–बार स्थित होता रहता है । स्पष्ट है कि तीसवे तथा अडतीसवे मन्त्र मे प्रतिपादित जीवात्मा के कुछ धर्म इसमे भी विद्यमान है । यदि इसे सूर्य के रूप में भी मान लिया जाए, तो कोई अनुपपत्ति नही है, क्योंकि ऋग्वेद मे ही सूर्य को स्थावर तथा जड़्गम सबका आत्मा कहा गया है ।[1]

बत्तीसवे मन्त्र मे आत्मज्ञान को दुष्कर बताते हुए जीव के क्लेशादि सहन करने की बात कही गई है। सायण के अनुसार यहाँ गर्भवास के क्लेश के साथ जन्म को प्रतिपादित करते हुए इसके परिहार – हेतु आत्मज्ञान का प्रतिपादन किया गया है ।[2] वेङ्कटमाधव के अनुसार इस जीव को उत्पन्न करने वाला पिता भी यह नही जानता कि यह जीव कहाँ से आता है तथा कैसा है ? यदि व्यक्ति इस जीव के बारे मे पूर्णत जान ले, तो वह बन्धन से मुक्त हो जाता है ।[3]

मन्त्र मे आए "बहुप्रजा " पद का अर्थ, सायण ने बहुत बार जन्म लेने वाला अथवा उत्पन्न होकर स्वय भी अपत्यो का उत्पादन करने वाला, किया है । ऐसा जीव निर्ऋति नामक घोर दु ख का अनुभव करता है ।[4] आत्मानन्द के अनुसार इस मन्त्र मे यह प्रतिपादित किया गया है कि आत्मज्ञान से ही मोक्ष प्राप्त किया जा सकता है, न तो कर्म से और न ही ज्ञान तथा कर्म के समुच्चय से ही ।

---

1. सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च । ऋग्वेद 1 115 1
2. अत्र गर्भवासक्लेशपूर्वकजननप्रतिपादनेन तत्परिहाराय आत्मा ज्ञातव्य इति अर्थात् प्रतिपाद्यते । ऋग्वेद 1.164 32 पर सायणभाष्य
3. य एतच्छरीर पिता चकार न स अमुम् वेत्ति जीव कुतोऽयमागच्छति कीदृश इति । . यद्येन जानाति ततो मुच्यत इति । वही, वेङ्कटमाधवभाष्य
4. बहुजन्मभाक् । अथवा उत्पन्न सन् स्वयमप्यपत्योत्पादनेन बहुप्रजा । निर्ऋतिनामक प्रदु खमनुभवति । ऋग्वेद 1.164 32 पर सायणभाष्य

इसीलिए ज्ञानकर्मसमुच्चय का निराकरण किया गया है ।[1] यहाँ जीव का विविध कष्टो को सहना उसके अज्ञान के कारण है । आत्मज्ञान होते ही वह सासारिक बन्धनो से मुक्त हो जाता है । यद्यपि जीव अनश्वर है, तथापि शरीर के साथ सम्बद्ध होने से शरीर के धर्मों से वह भी प्रभावित होता है ।

सूक्त के सैतीसवे मन्त्र मे भी आत्मज्ञान की दुरूहता तथा प्राप्ति का उल्लेख किया गया है। ऋषि को यह ज्ञात नही है कि वह अर्थात् उसका आत्मा किसके समान है ? वह मूढचेता है तथा मन अर्थात् इन्द्रियो के वश मे होकर जगत् मे व्यवहार करता है । मन का अर्थ विचार से भी लिया जा सकता है । ऐसी स्थिति मे अर्थ यह होगा कि ऋषि अपने विचारों के बल पर ससार के करणीय कार्यों का निष्पादन करता है । जब ऋत का प्रथम उत्पन्न भाग ऋषि के पास आया, तो उसी समय उसने वाणी के भाग को प्राप्त किया । सायण ने "ऋत" का अर्थ परमार्थ, परब्रह्म तथा पहले उत्पन्न होने वाले तत्त्व को प्रत्यक् प्रवणजनित अनुभाव माना है । उन्होने वाणी के भाग का तात्पर्य, ऐकात्म्य का प्रतिपादन करने वाली वाणी के भजनीय अर्थात् शब्दब्रह्म से व्याप्त होने योग्य ब्रह्मपद से लिया है ।[2] आत्मानन्द ने इसे ब्रह्मविद्या रूपी वाक् के भाग अर्थात् भजनीय के अर्थ मे लिया है ।[3] वस्तुत यह वाणी का रहस्य या प्रतिपाद्य है ।

प्रकृत मन्त्र के चतुर्थ, चरण का सम्बन्ध इकत्तीसवे मन्त्र के प्रथम चरण के साथ स्पष्टत परिलक्षित होता है । उसमे रक्षक के दर्शन की बात कही गई है, तो यहाँ वाणी का भाग प्राप्त करने की । दोनो मे कोई भेद नही है । उन्तालीसवाँ मन्त्र तो परब्रह्म को ही वाणी (वेद–वाणी) के प्रतिपाद्य के रूप मे प्रतिष्ठित करता है ।

---

1 प्राक्प्रतिपादितात्मज्ञानादेव मोक्ष न कर्मणा नापि समुच्चयेत इति वक्तु ज्ञानकर्मसमुच्चय–निराकरणम् । ऋग्वेद 1 164 32 पर आत्मानन्दभाष्य

2 ऋतस्य परमार्थस्य परस्य ब्रह्मण । प्रथमोन्मेष प्रथमोत्पन्नश्चित्तप्रत्यक्प्रवणजनितोऽनुभाव । ऐकात्म्यप्रतिपादिकाया उपनिषद्वाच भजनीय शब्दब्रह्मणा व्याप्तव्य पर ब्रह्मपदम्। ऋग्वेद 1 164.37 पर सायणभाष्य

3 ब्रह्मण सम्बन्धिन्या अस्या प्रकृताया ब्रह्मविद्यारूपिण्या वाच श्रुते भाग भजनीयम् । वही, आत्मानन्दभाष्य

ऊपर विवेचित मन्त्रो के आधार पर हमे जीव का जो स्वरूप ज्ञात होता है, उसके अनुसार वह अमर्त्य, शरीर के साथ सम्बद्ध पुन जन्म ग्रहण करने वाला, अपनी इच्छा शक्ति के द्वारा विचरण करने वाला तथा कर्मानुसार फल प्राप्त करने वाला है । उसका ज्ञान प्राप्त करना कठिन है तथा प्राप्त कर लेने के बाद मनुष्य कष्टो तथा सासारिक बन्धनो से मुक्त हो जाता है । ऋगादि का प्रतिपाद्य भी वह आत्मतत्त्व ही है

[12] **यज्ञ की अवधारणा** – मूलत ऋग्वेद मे अनेक देवताओ की स्तुतियाँ उपलब्ध होती है । इन स्तुतियो का विनियोग विभिन्न यज्ञो मे किया जाता है । प्रस्तुत सूक्त अल्पस्तव है । इसमे स्तुतिपरक मन्त्रो की सड्ख्या अत्यन्त न्यून है, किन्तु कुछ ऐसे मन्त्र उपलब्ध होते है, जिनसे यज्ञीय कर्मकाण्ड की पुष्टि होती है । इन मन्त्रो मे 19, 34, 35, 43, 50 तथा 51 वे को ग्रहण किया जा सकता है ।

सर्वप्रथम उन्नीसवे मन्त्र मे इन्द्र एव सोम का उल्लेख प्राप्त होता है । ये दोनो यज्ञ के आधायक है । अत इस दार्शनिक सूक्त मे भी हमे यज्ञीय कर्मकाण्ड के सड्केत प्राप्त होते है । चौतीसवे मन्त्र मे ऋषि ने चार प्रश्न उठाए है । पहले प्रश्न मे पृथिवी की पराकाष्ठा के बारे मे पूछा गया है । दूसरा प्रश्न भुवन की नाभि के ज्ञान से सम्बद्ध है । तीसरे प्रश्न के रूप मे वर्षक या शक्तिशाली अश्व के "रेतस्" के बारे मे पूछा गया है । चौथे प्रश्न मे वाणी के परम स्थान के बारे मे जिज्ञासा की गई है । सायण ने "नाभि" का अर्थ – सनाह या बन्धन से लिया है, जिसमे सब कुछ बाँध दिया जाता है । अश्व का अर्थ उन्होने – "व्याप्त आदित्य" किया है ।[1] आत्मानन्द "वृष्ण रेत " का अर्थ – देहेन्द्रियादि के स्वामी जीव के अश्व अर्थात् इन्द्रियरूप "मनस्" का रेतस् करते है।[2] यहाँ इतनी खीचतान के साथ अर्थ करने की आवश्यकता नही है । यद्यपि यह स्पष्ट नही हो पाता कि ऋषि ने किसके लिए "अश्व" शब्द का प्रयोग किया है, तथापि इतना तो कहा ही जा सकता है

---

1 नाभि सनाह बन्धनम् । यत्र सर्व सन्नद्ध भवति तम् । . अश्वस्य व्याप्तस्यादित्यस्य। ऋग्वेद 1 164 34 पर सायणभाष्य

2 वृष्णो देहेन्द्रियादिस्वामिनो जीवस्य य अश्व इन्द्रियम् तस्याश्वस्य मनसो रेतो रयणम् । वही, आत्मानन्दभाष्य

कि वह तत्त्व इस जगत् का कारण है । इस दृष्टि से इसे आदित्य के लिए प्रयुक्त माना जा सकता है । ग्रिफिथ ने इसे पिता द्युलोक माना है ।[1] इसी प्रकार दूसरे प्रश्न के रूप मे पूछे गए "नाभि" का अर्थ – केन्द्र बिन्दु करना चाहिए, क्योकि नाभि मध्य मे स्थित होता है । वह मूल बिन्दु होता है ।

ऊपर पूछे गए चारो प्रश्नो के उत्तर पैतीसवी ऋचा मे दिये गए है । "वेदि" को पृथिवी की पराकाष्ठा बताया गया है । ग्रिफिथ ने इसे द्युलोक के निकटतम स्थान के रूप मे बताया है, जहाँ देवता मनुष्यो के पास आते है ।[2] यज्ञ को भुवन की नाभि अर्थात् केन्द्रबिन्दु के रूप मे माना गया है। इससे यह स्पष्ट होता है कि सारा जगत् यज्ञ मे ही अनुस्यूत है । इसी प्रकार सोम को शक्तिशाली अश्व का "रेतस्" कहा गया है । यह प्रजनन का द्योतक है । अन्तिम प्रश्न के उत्तर के रूप मे ब्रह्मा को वाणी का परम स्थान निरूपित किया गया है । ग्रिफिथ ने "ब्रह्मा" का अर्थ – वेद पाठ करने वाले पुरोहित से लिया है ।[3] सायण ने ब्रह्मा को प्रजापति का वाचक माना है ।[4] वस्तुत यज्ञ के सन्दर्भ मे ब्रह्मा का अर्थ इस नाम वाले पुरोहित से ही लेना चाहिए । यज्ञ मे चार प्रकार के ऋत्विक् होते है – होता, अध्वर्यु, उद्गाता और ब्रह्मा ।[5] ब्रह्मा यज्ञ मे वह चौथा ऋत्विक् है, जो शेष तीनो के कर्मों का निरीक्षण करता है और स्वय मौन रहता है । अतएव ब्रह्मा मौन या अनिरुक्त वाक् का प्रतीक है । यास्क ने ब्रह्मा को "सर्वविद्य " अर्थात् सब कुछ जानने मे समर्थ बताया है ।[6] इसीलिए ब्रह्मा को वाणी का परमस्थान या उत्पत्तिस्थान कहा गया है ।

---

1. **The Stallion:** Dyaus, or Father Heaven.
   ऋग्वेद 1 164 35 पर ग्रिफिथ की टिप्पणी
2. **The Earth's extremest limit:** the altar, as the place nearest to heaven, the place where the Gods visit men. वही
3. **This Brahman:** The priest so named who recites the texts of the Veda. वही
4. अय ब्रह्मा प्रजापतिरेव । वही, सायणभाष्य
5. द्रष्टव्य – ऋग्वेद 10 71 11.
6. ब्रह्मैको जाते जाते विद्या वदति । ब्रह्मा सर्वविद्य सर्व वेदितुमर्हति । निरुक्त – 1 3

यदि मन्त्र के चारो चरणो पर विचार किया जाए, तो ज्ञात होता है कि उन सबके द्वारा यज्ञ का ही उपपादन किया गया है । एक अन्य वैशिष्ट्य यह है कि चारो चरणो मे क्रमश इयम्, अयम्, अयम् तथा अयम् पदो का प्रयोग किया गया है । ये चारो निकटता के सूचक है । अत यह स्पष्टत परिलक्षित होता है कि उक्त प्रश्नोत्तर यज्ञ-स्थल पर ही हो रहा है । इससे ऋषि का यज्ञ से निकट सम्बन्ध प्रकट होता है । सोम का उल्लेख होने से प्रकृत यज्ञ को सोमयाग माना जा सकता है ।

सूक्त के तैतालीसवे मन्त्र मे ऋषि ने पहले दूर से धूम-दर्शन की, बाद मे उसके कारण भूत अग्नि को देखने की चर्चा की है । वहाँ वीर पुरुषो अर्थात् यजमानो ने चितकबरे सोम को पकाया । इस प्रक्रिया को प्राथमिक धर्म बताया गया है । सायण ने इस मन्त्र मे अनुमान प्रमाण की उद्भावना की है । उन्होने "विषूवता" पद का अर्थ – व्याप्तिमान् किया है । वे "पर" का अर्थ – उसका कारणभूत अग्नि करते है । "पृश्नि" का अर्थ उन्होने शुक्लवर्ण किया है ।[1] ग्रिफिथ ने "पृश्नि" का अर्थ – धब्बेदार तथा "उक्षा" का बैल किया है । वे इसे "सोम" का अभिधायक मानते हुए पूरी प्रक्रिया को बादलो के एकत्र होने का आलङ्कारिक वर्णन मानते है ।[2] आत्मानन्द ने भी अनुक्रमणिका के आधार पर "उक्षा" को सोम का अभिधायक माना है ।[3]

वस्तुत· प्रकृत मन्त्र मे सोम याग का ही उपपादन किया गया है । इसमे यज्ञ के समय सोम-लता का रस पीया जाता है । उसे ही यजमान गोबर के कण्डे पर पका रहे है । उससे उत्पन्न होने वाले धूम को दूर से ही ऋषि ने देखा तथा व्याप्ति ज्ञान के आधार पर वहाँ अग्नि की भावना भी कर ली । बाद मे सोम को भी पकाए जाते हुए देखा । इस प्रकार की प्रक्रिया को ऋषि ने

---

1 विषूवता व्याप्तिमता एना अनेन अवरेण निकृष्टेन धूमेन पर परस्तात् तत्कारणभूतमग्निम– –पश्यम्। उक्षाण फलस्य सेक्तारम्। पृश्नि शुक्लवर्णम्। ऋ.1 164.43 पर सायणभाष्य

2 **The spotted bullock:** the Soma. The whole may, perhaps, be a figurative description of the gathering of the rain-clouds. वही, ग्रिफिथ की टिपपणी

3 अत्रैव मन्त्रे उक्षाण पृश्निम् – इति उक्षपदेन सोम उच्यते इत्यनुक्रमणिका । वही, आत्मानन्दभाष्य.

प्राथमिक धर्म कहा है । तात्पर्य यह है कि ऋषि के काल के पूर्व समय से ही सोमयाग या अन्य याग प्रचलन मे थे । प्राथमिक धर्म का तात्पर्य धार्मिक विधान से है ।

सूक्त का पचासवाँ मन्त्र यज्ञ–कर्त्ताओ की 'गति' के बारे मे बताता है । देवताओ ने यज्ञ से ही यज्ञ को सम्पन्न किया । वे प्रारम्भिक धर्म थे । वे महिममण्डित देव लोग नाक लोक को प्राप्त कर लिए, जहाँ पहले से ही प्राचीन साध्य देव निवास करते है । सायण ने मन्त्र मे पहले आए "यज्ञ" का अर्थ – निर्मथ्याग्नि तथा द्वितीय बार आए हुए का – होमसाधन आहवनीय किया है । उनका तात्पर्य यह है कि देवो ने अनुष्ठान हेतु आहवनीयाग्नि को स्थापित किया । देवो का अर्थ उन्होने यजमान किया है ।[1] आत्मानन्द के अनुसार जो यज्ञ अर्थात् काम्य कर्म से यष्टव्य ईश्वर का यजन करते है, वे स्वर्ग मे दीप्यमान देव हो जाते है ।[2] साध्य देव उन्हे कहते है, जिन्होने पूर्णत आत्मसाक्षात्कार नहीं किया है, किन्तु वे इसके निकट पहुँच गए है । अथर्वन् तथा अङ्गिरा सञ्ज्ञक पितर इस कोटि मे आते है । ये देवताओ से निम्न कोटि मे आते हैं, अत मन्त्र के प्रथम चरण मे आए "देवा" पद का अर्थ यजमान करना पडेगा, क्योंकि देवताओ के साध्य बनने तथा स्वर्ग प्राप्त करने का कोई महत्त्व ही नही है । मनुष्य के लिए ही वह पद अभिलषित हो सकता है । उन्हे देव इसलिए कहा गया है कि अपने कर्म द्वारा वे देवत्व प्राप्त कर सकते है । इस दृष्टि से प्रकृत स्थल को उन्तालीसवे मन्त्र के अन्तिम चरण से सम्बद्ध किया जा सकता है, जिसमे देवताओ का स्थान जानने वालो के लिए उनके साथ बैठने की बात कही गई है ।

इक्यावनवे मन्त्र मे यज्ञ द्वारा पृथिवी एव द्युलोक के मध्य सामरस्य की बात कही गई है । जल एक ही है, किन्तु वह सूर्य की किरणो द्वारा ऊपर जाता रहता है । पुन वही जल नीचे आता है । पर्जन्य भूमि को तृप्त करते है तथा द्युलोक को अग्नियाँ तृप्त करती है । आत्मानन्द ने "उदक" का पदच्छेद "उत् + अक" करते हुए यह प्रतिपादित किया है कि देशकालादि मे समान होने पर भी

---

1 यज्ञेन निर्मथ्याग्निना यज्ञ होमसाधनमाहवनीय पूजितवन्त । अनुष्ठानाय सयोजितवन्त इत्यर्थ । देवा व्यवहर्त्तार यजमाना । ऋग्वेद 1 164 50 पर सायणभाष्य

2 ये यज्ञेन काम्यकर्मणा यष्टव्यमीश्वर यजन्ति ते देवा भवन्ति स्वर्गे दीप्यमाना । वही, आत्मानन्दभाष्य

दु ख से ऊपर उठा हुआ यह ब्रह्म धर्माधर्मसंस्कारवाली इन्द्रियो तथा प्राणो से उपहित जीव के रूप मे देवता इत्यादि का अनुभव करता है तथा नीचे भी मनुष्यादि के रूपो का अनुभव करता है ।[1]

वस्तुत यज्ञ द्वारा बौद्धिक तथा धार्मिक दोनो पक्षो का समन्वय हो जाता है । चिन्तन बुद्धि का तथा यज्ञ धर्म का लक्षण है । इस प्रकार उक्त मन्त्रो मे यज्ञ का निरूपण करते हुए दीर्घतमा ने भी दर्शन तथा कर्मकाण्ड दोनो का ही सुन्दर समन्वय प्रस्तुत किया है ।

[13] **वाणी का स्वरूप** – सूक्त के अनेक मन्त्रो मे वाणी का सम्यक् निरूपण किया गया है । यद्यपि 3, 23, 24, 25, 35, 37, 39, 40 प्रभृति मन्त्रो मे वाणी के विषय मे कोई न कोई सड्केत अवश्य किया गया है, तथापि मन्त्र सड्ख्या 41, 42, 45 और 47 मे इसका विशेष रूप से प्रतिपादन किया गया है ।

इकतालीसवे मन्त्र मे वाणी को गौरी रूपा मानते हुए उसे जल का तक्षण करने वाली कहा गया है । वह लोक मे एकपदी, द्विपदी, चतुष्पदी, अष्टापदी तथा नवपदी होती हुई तथा परमाकाश मे हजारो अक्षरो वाली है । यास्क के अनुसार वह मध्यम अर्थात् मध्यमलोक के ऊपर एकपदी, मध्यम तथा आदित्य के रूप मे द्विपदी, चारो दिशाओं के रूप मे चतुष्पदी, दिशाओ तथा अवान्तर दिशाओ के रूप मे अष्टापदी, दिशाओ, अवान्तर दिशाओ और आदित्य के रूप मे नवपदी तथा परम व्योम मे बहूदका है ।[2] सायण, आत्मानन्द प्रभृति आचार्यों ने भी वाणी के विभिन्न पदो का उपपादन अपने–अपने ढग से किया है ।[3]

---

1 समान देशकालादौ समानमपि उदक अकात् दु खात् उद्गतमप्येतद्ब्रह्म अहभि अहीयमानै धर्माधर्मसंस्कारै इन्द्रियै प्राणैश्चोपहित जीवभूत सत् उदेति देवतादित्वमनुभवति । अव च नीचैरपि मर्त्यै मनुष्यादिरूपमनुभवति च ।

ऋग्वेद 1 164 51 पर आत्मानन्दभाष्य

2 एकपदी मध्यमेन । द्विपदी मध्यमेन चादित्येन च । चतुष्पदी दिग्भि । अष्टापदी दिग्भिश्चावान्तरदिग्भिश्च । नवपदी दिग्भिश्चावान्तरदिग्भिश्चादित्येन च सहस्राक्षरा बहूदका परमे व्यवने । निरुक्त 11.40

3 द्रष्टव्य – प्रकृत शोध प्रबन्ध के सप्तम अध्याय मे "वाक्तत्त्व"

उपर्युक्त मन्त्र मे "गौरी" शब्द का प्रयोग किया गया है, जिसका अर्थ महिषी होता है । इसीलिए ग्रिफिथ ने इसे महिषी मानते हुए मेघ के रूप मे ग्रहण किया है ।[1] सामान्यत "गो" शब्द का व्यवहार वाणी के लिए भी किया जाता है । यहाँ इसी अर्थ मे प्रयुक्त है । वाणी के विभिन्न पदो का अभिप्राय किसी छन्द या छन्दो के विभिन्न चरणो के रूप मे लिया जा सकता है । इस दृष्टि से विचार करने पर हमें ऋग्वेद मे नव चरणो वाला कोई छन्द उपलब्ध नही होता है, जबकि तीन चरणो वाला गायत्री छन्द प्रधान होते हुए भी यहाँ परिगणित नही है । अत· वाणी के पदो के रूप में ऋषि की मूल दृष्टि के बारे मे कुछ नही कहा जा सकता है । परम व्योम मे वाणी को सहस्राक्षरा कहने का तात्पर्य उसको अपरिमित मानना है ।

सूक्त के बयालीसवे मन्त्र मे इसी वाणी से समुद्रो को प्रवाहित होने वाला बताया गया है । समुद्र के जल के कारण चारो दिशाएँ जीवित है । वही से अक्षर निकलता है, जिसके आधार पर सारा विश्व जीवित है । सायण ने समुद्र का अर्थ – मेघ तथा अक्षर का – उदक किया है ।[2] यास्क एव वेङ्कटमाधव ने भी उदकपरक अर्थ ही किया है ।[3] आत्मानन्द ने "मुद्रा" का अर्थ – ब्रह्मविद्या तथा जो इसके सहित हो अर्थात् इससे एकवाक्यता को प्राप्त करने वाली अवान्तरवाणी को समुद्र कहा है।[4] ज्ञातव्य है कि वाणी ने अपना उत्पत्ति-स्थान समुद्र मे बताया है ।[5] इस प्रकार वाणी के अधिष्ठान के रूप मे समुद्रो का प्रवाहित होना तथा उनसे ही अक्षर की उत्पत्ति होना – दोनो बाते उपपन्न हो जाती है । उसी अक्षर पर सारा विश्व आश्रित है ।

1· **The buffalo hath lowed : the great rain-cloud has thundered.** ऋग्वेद 1 164 41 पर ग्रिफिथ की टिप्पणी.

2· समुद्रा वृष्ट्युदकसमुन्दनाधिकरणभूता मेघा । अक्षरमुदकम् ।
ऋग्वेद 1·164 42 पर सायणभाष्य.

3 द्रष्टव्य – वही, यास्क एव वेङ्कटमाधव की व्याख्याएँ

4 मुदम् आनन्द राति ददाति इति मुद्रा ब्रह्मविद्या इति च । तत्सहिता तदेकवाक्यता गता· अवान्तरवाच समुद्रा । वही, आत्मानन्दभाष्य

5 ऋग्वेद 10 125 7

पैतालीसवे मन्त्र मे वाणी के चार भागो की चर्चा आई है, जिसे इकतालीसवे मन्त्र मे प्रतिपादित "चतुष्पदी" गौरीवाक् के साथ सम्बद्ध किया जा सकता है । वाणी के इन चारो स्थानो या रूपो को ब्रह्मवेत्ता मनीषी ही जानते है । इसके तीन रूप गुहा मे निहित है तथा मनुष्य मात्र इसके चौथे रूप का व्यवहार करते है । दार्शनिक दृष्टि से इन चार रूपो को व्याकरणदर्शन मे प्रतिपादित वाणी के चार भेदो – परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी के रूप मे समझा जा सकता है । परा वाणी मूलचक्र मे, पश्यन्ती नाभि मे, मध्यमा हृदय मे तथा वैखरी कण्ठ मे स्थित होती है ।[1] इस प्रकार वाणी के चार रूप है ।

सूक्त के उन्चासवे मन्त्र में ऋषि ने वाणी को सरस्वती देवी के रूप मे प्रतिष्ठित किया है, जो आज भी लोकविश्रुत है । उसने सरस्वती के स्तन को सुखकारक, रत्नो को धारण करने वाला, धनो को धारण करने वाला तथा सुष्ठु प्रदाता कहा है । सरस्वती उस स्तन से समस्त वरणीय पदार्थों को पुष्ट करती है । ऋषि ने सरस्वती के इस प्रकार के स्तन को पीने के लिए अपनी तरफ करने की प्रार्थना की है । सायण ने "स्तन" का अर्थ – शिशुस्थानीय प्राणियो के पान-हेतु लौकिक एव वैदिक अच्छे शब्दो के रूप वाला स्तन किया है । उन्होने वसुवित् का अर्थ – धनो का वेत्ता, प्राप्त करने वाला या प्राप्त कराने वाला किया है ।[2] आत्मानन्द ने इस मन्त्र मे वाक्, देवता तथा नदी के रूप मे तीन प्रकार की सरस्वती की कल्पना करते हुए प्रत्येक विशेषण की तदनुकूल व्याख्या की है ।[3]

ऋषि द्वारा उपर्युक्त मन्त्रो मे किये गए वाणी के निरूपण से इसकी सर्वव्यापकता सिद्ध होती है । एक तरफ वाणी का दार्शनिक एव आध्यात्मिक पक्ष प्रस्तुत किया गया है, तो दूसरी तरफ सरस्वती या वैखरी के रूप मे उसका लौकिक पक्ष । वस्तुत वाणी सर्वत्र अनुप्रविष्ट है । जगत् का

---

1. परा वाङ्मूलचक्रस्था पश्यन्ती नाभिसंस्थिता ।
   हृदिस्था मध्यमा ज्ञेया वैखरी कण्ठदेशगा ।। नागेश – परमलघुमञ्जूषा, पृष्ठ 23.

2 स्तन स्तनवच्छिशुस्थानीयाना प्राणिनामाप्यायनकारी लौकिकवैदिकसुशब्दरूप स्तन । वसुवित् वसूना वासयित्रीणा धनाना वेत्ता लब्धा वेदयिता वा ।
   ऋग्वेद 1 164 45 पर सायणभाष्य

3 तत्र वाग्रूपिणी देवतारूपिणी नदीरूपिणी च क्रमादुक्ता ।
   वही, आत्मानन्दभाष्य

व्यवहार इसके बिना असम्भव है । यह प्राणिमात्र मे समायी हुई है । इसी तथ्य को ऋषि ने अनेक रूपो मे स्पष्ट किया है ।

अस्यवामीय सूक्त के ऊपर किये गए विवेचन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि प्रकृत सूक्त मे सृष्टिविद्या से सम्बद्ध अनेक पहेलियो को निरूपित किया गया है । ऋषि के काल मे सृष्टि के जिन रहस्यो पर विचार किया जाना अपेक्षित था, उसने यहाँ कही विस्तृत तो कही सक्षिप्त रूप से कर दिया है । सवत्सर की अवधारणा बडे ही सुन्दर ढग से प्रस्तुत की गई है । पूरी सृष्टि-प्रक्रिया मे इसका बडा ही महत्त्वपूर्ण स्थान है । वस्तुत इसी मे पूरी सृष्टि पिरोयी गई है । उसे कालचक्र के रूप मे तथा विभिन्न ऋतुओ के विभाग के रूप मे देखना ऋषि की मौलिक विशेषता है । इसी प्रकार आदित्य को इसके साथ सम्बद्ध करना भी महत्त्वपूर्ण है । सूक्त मे 3, 5, 6, 7 इत्यादि सड्ख्याओ का रहस्यात्मक प्रयोग किया गया है । सृष्टि के सन्दर्भ मे माता-पिता तथा वत्स की अवधारणा नितान्त अपेक्षित है । ऋषि ने अनेक मन्त्रो मे इस तथ्य को स्फुट किया है । "वत्स" के रूप मे यह "जगत्" अर्थात् सृष्टि ही हमारे सम्मुख आती है । ऋषि ने जगत् के आदि कारण को जानने की इच्छा व्यक्त की है । इस दृष्टि से उसने विभिन्न प्रकार के तत्त्वज्ञो का स्वरूप प्रदर्शित किया है । पूरे सूक्त मे अनेकत्र "गो" के स्वरूप का निरूपण किया गया है । यह "गो" अपने "वत्स" को देखकर शब्द करती है, वत्स भी ऐसा ही करता है । इस प्रकार के स्वाभाविक तथा साहित्यिक वर्णन भी सूक्त मे उपलब्ध होते है ।

सृष्टि के अतिरिक्त जो आधुनिक दर्शन के अन्य महत्त्वपूर्ण तत्त्व है, उन पर भी ऋषि ने सम्यक् दृष्टिपात किया है । ऋषि द्वारा प्रस्तुत "जीव" की धारणा एव शरीर से उसका सम्बन्ध-प्रतिपादन आधुनिक या परवर्ती दार्शनिक जगत् के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है । इसी प्रकार "अज" को परमतत्त्व के रूप मे प्रतिष्ठित करना भी इस सूक्त की प्राथमिक और मौलिक विशेषता है । देवैक्य का प्रतिपादन भी बहुत स्पष्ट शब्दो मे किया गया है । दार्शनिक वृत्ति को याज्ञिक कर्मकाण्ड से जोडना सर्वविध सामञ्जस्य का प्रतीक है ।

अभिव्यक्ति का एक माध्यम काव्य या कोई भी रचना है । ऋषि ने उसके तत्त्वो तथा प्रतिपाद्य को भी सम्यक् निरूपित किया है । वस्तुत. काव्य का प्रमुख उद्देश्य परमतत्त्व को स्पष्ट करना ही है । इसी दृष्टि से ऋषि ने वाणी का भलीभाँति प्रतिपादन किया है । यहाँ तक कि उसे सरस्वती के रूप मे भी मण्डित किया है ।

अध्याय – 5

पुरुषसूक्त (ऋग्वेद 10.90) एवं उसमें निहित तत्त्व

(क) पुरुष शब्द का तात्त्विक विवेचन

(ख) पुरुष सूक्त

(ग) सूक्त मे विद्यमान विभिन्न तत्त्वो की समीक्षा

- (1) पुरुष का सहस्रत्व
- (2) दशाङ्गुलम्
- (3) इद सर्वम्
- (4) महिमा
- (5) त्रिपाद
- (6) पुरुष का विष्वङ्–क्रमण
- (7) विराट्
- (8) आदिम यज्ञ
- (9) यज्ञपुरुष
- (10) बर्हिषि प्रौक्षन्
- (11) साध्य, ऋषि और देव
- (12) सर्वहुत्–यज्ञ
- (13) पृषदाज्यम्
- (14) वायव्य, आरण्य और ग्राम्य पशु
- (15) वेद का आविर्भाव
- (16) पञ्च पशुओ की उत्पत्ति
- (17) चार वर्णों की उत्पत्ति
- (18) ब्रह्माण्डीय अवयवो की उत्पत्ति
- (19) सप्त परिधियाँ
- (20) इक्कीस समिधाएँ
- (21) पुरुष–पशु
- (22) प्रथम धर्म
- (23) नाकलोक

[क] "पुरुष" शब्द का तात्त्विक विवेचन

प्राचीन वाड् मय मे "पुरुष" शब्द का प्रयोग "आत्मा" और "परमात्मा" दोनो अर्थों मे प्राप्त होता है । सामान्यत इसका निर्वचन "पुरि शरीरे शेते इति पुरुष " किया जाता है । इस रूप मे इसका अर्थ होगा – शरीर मे निवास करने वाला आत्मा । "शतपथब्राह्मण" मे पुरुष शब्द की व्याख्या करते हुए बताया गया है कि "दृश्यमान लोकों" को "पुर" कहते है, उस पुर मे रहने वाला व्यापक तत्त्व "पुरुष" है ।[1] "पिपर्ति इति पुरुष " इस व्युत्पत्ति के अनुसार सारे पदार्थों को भरने वाले, किवा सबमे अनुस्यूत तत्त्व को पुरुष कहते है । इसी प्रकार यदि "पुर शेते इति पुरुष " ऐसी व्युत्पत्ति की जाए तो अर्थ होगा – सभी पदार्थों के पूर्व मे स्थित पुरुष । "पृ" धातु का अर्थ पूर्ण या आप्यायित करना भी होता है । इस दृष्टि से इसका अर्थ हो सकता है – जो साधको को पूर्ण या आप्यायित करने वाला है, तृप्ति एव शान्ति देने वाला है, वह पुरुष है । बृहदारण्यकोपनिषद् मे बताया गया है कि "आत्मा ने इन सबसे पूर्व सारे पापो को जलाया, अत वह पुरुष कहा जाता है ।"[2] "पुरुष" की एक और व्युत्पत्ति – "पुरुषु बहुषु शेते" भी की जा सकती है । इसका अर्थ होगा – बहुतो मे शयन करने वाला । सायण ने अव्यक्त महदादि से विलक्षण चेतन तत्त्व को पुरुष माना है ।[3] उन्होने उसी स्थल पर प्राणिसमूह की समष्टि के रूप मे स्थित ब्रह्माण्डशरीरी विराट् नामधारी को भी पुरुष माना है ।[4]

यास्काचार्य ने "पुरुष" का निर्वचन तीन प्रकार से किया है ।[5] "पुरिषाद " "पू " पूर्वक "सद्" धातु से बनता है, जिसके अर्थ विशरण, गति और अवसाद है । स्कन्दस्वामी ने गति अर्थ

---

1 "इमे वै लोका पूरयमेव पुरुषो योऽय पवते सोऽस्या पुरि शेते तस्मात् पुरुष "। शतपथब्राह्मण – 13 6 2 1

2 स यत्पूर्वोऽस्मात् सर्वस्मात् सर्वान् पाप्मन औषत् तस्मात् पुरुष । बृहदारण्यकोपनिषद् – 1 4 1

3 "अव्यक्तमहदादिविलक्षणश्चेतनो य पुरुष "। ऋ 10 90 1 पर सायण का विनियोग.

4 सर्वप्राणिसमष्टिरूपो ब्रह्माण्डदेशो विराडाख्यो य पुरुष । वही, सायणभाष्य

5. पुरुष पुरिषाद , पुरिशय , पूरयतेर्वा । यास्क – निरुक्त, 2 3 1

को ग्रहण करके उसे भोक्ता और शरीरधारी कहा है ।[1] दुर्गाचार्य ने पू का अर्थ शरीर अथवा बुद्धि करते हुए इसमे विषयोपलब्धि के लिए रहने वाले को पुरुष माना है ।[2] यास्क के दूसरे निर्वचन "पुरिशय " के अनुसार "पुर" मे शयन करने वाले को पुरुष कहते है । उनका तीसरा निर्वचन "पूरयतेर्वा" पुरुष को अन्तर्यामी होकर सर्वत्र व्याप्त होने वाला प्रतिपादित करता है ।

स्वामी दयानन्द ने "पुरुष" को सारे ससार मे व्याप्त होकर रहने वाला माना है । उनका तात्पर्य है कि जिसने अपनी व्यापकता से इस जगत् को पूर्ण कर रखा हो, वह पुरुष है ।[3]

आचार्य उव्वट ने पुरुष को नारायणनामधारी पुरुष माना है ।[4] जबकि महीधर ने उसे अव्यक्त, महदादि से विलक्षण चेतन पुरुष ही माना हे ।[5]

गीता मे क्षर, अक्षर और उत्तम पुरुष के रूप मे तीन प्रकार के पुरुष बताए गए है । सम्पूर्ण प्राणियो को "क्षर" तथा आत्मा को "अक्षर" कहा गया है [6] इन दोनो से पृथक् परमात्मा को "उत्तम पुरुष" का अभिधान दिया गया है ।

वैदिक पृष्ठभूमि मे धर्म या तत्त्व की दृष्टि से "पुरुष" की धारणा महत्त्वपूर्ण है । इसमे "पुरुष" शब्द से विश्व के अन्तिम सत्य पुरुषरूप परमेश्वर का सड्केत किया गया है । वेदो मे आदिपुरुष को अग्निरूप अथवा सूर्यरूप मे स्वीकार किया गया है । अग्निचयन मे आहित "हिरण्मय पुरुष" इसी "सौर पुरुष" का प्रतिनिधित्व करता है । तामस पाश के छिन्न हो जाने पर साधक

---

1 पुर शरीर भोक्तृत्वेन गच्छतीति । निरुक्त – 2 3 1 पर स्कन्द-भाष्य

2 पू शरीर बुद्धिर्वा तयोरसौ सीदतीति पुरिषाद इति पुरुष । वही, दुर्गवृत्ति ।

3 पुरि सर्वस्मिन् ससारेऽभिव्याप्य सीदति वर्तत इति पुरुष ।
दयानन्द – ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका, सृष्टि–उत्पत्ति विषय ।

4 शुक्लयजुर्वेद–संहिता – 31 1 पर उव्वट भाष्य

5 वही, महीधर भाष्य

6 द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च ।
क्षर सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते ।।
उत्तम पुरुषस्त्वन्य परमात्मेत्युदाहृत । गीता – 15 16–17

आदित्यवर्ण उस महान् पुरुष को जानकर मृत्यु को अतिक्रान्त कर जाता है । परम पुरुष ही वास्तविक अयन है । इस अयन तक पहुँचने के लिए अन्य कोई मार्ग नही है ।[1] मानव-चेतना, काल-चेतना तथा विश्व-चेतना मे "पुरुष" तत्त्व के रूप मे स्थित है । आदित्य मे स्थित पुरुष कालचैतन्य है । इस कालचैतन्य के अभाव मे सवत्सरात्मक काल का ज्ञान असम्भव है । ऐसी स्थिति मे ऋतुचक्र भी निरन्तर प्रवर्तित नही हो सकता । विश्वचेतना का परमतत्त्व विराट् पुरुष है । उसी की एक मूर्च्छना मानव-चैतन्य आत्मा है । उपनिषदो का प्रतिपाद्य यही मानव-चैतन्य आत्म पुरुष है । इसी दृष्टि से बृहदारण्यकोपनिषद् मे याज्ञवल्क्य ने शाकल्य से इसी आत्म पुरुष के बारे मे जिज्ञासा की है ।[2] ऋग्वेद के विद्वान् महदुक्थ मे उसी की मामासा करते है । अध्वर्यु अग्निचयन मे उसी का विचार करते है । सामवेदी महाव्रत मे इसी का चिन्तन करते है । पृथिवी, स्वर्ग, वायु, आकाश, जल, ओषधियो, वनस्पतियो, चन्द्रमा, नक्षत्रो तथा समस्त प्राणियो मे इसी की ब्रह्म के रूप मे उपासना की जाती है ।[3]

(ख) पुरुषसूक्त

"पुरुषसूक्त" कृष्ण यजुर्वेद को छोडकर लगभग सभी सहिताओ मे मिलता है । यह ऋग्वेद के दशम मण्डल का नब्बेवा सूक्त है । शुक्लयजुर्वेद के इकतीसवे अध्याय मे यह सम्पूर्ण सूक्त उपलब्ध होता है । इसके अन्त मे छ नई ऋचाएँ जोड दी गई है, जिसे "उत्तरनारायण" कहते है । इस प्रकार कुल बाईस ऋचाएँ हो गई है । इसमे मन्त्रक्रम के अतिरिक्त मन्त्रगत पदो मे भी पार्थक्य है। सामवेद (1 13) मे सख्या तीन सौ सत्रह से लेकर इक्कीस तक मात्र पाँच ऋचाओ को परिवर्तन के साथ ग्रहण किया गया है । अथर्ववेद के उन्नीसवे काण्ड का छठा सूक्त भी पुरुषसूक्त है तथा यह क्रम और पद दोनो दृष्टियो से ऋक् तथा यजुष् से कुछ भिन्न है । तैत्तिरीय आरण्यक (3 12) मे पुरुषसूक्त की सोलह ऋचाओ के अन्त मे दो त्रिष्टुप् और जोड दिये गए है ।

---

1 शुक्लयजुर्वेदसंहिता - 31 18

2 त त्वोपनिषद पुरुष पृच्छामि । बृहदारण्यकोपनिषद् - 3.9 26

3 एत ह्येव बह्वृचा महत्युक्थे मीमासन्त एतमग्नावध्वर्यव एत महाव्रते छन्दोगा एतस्यामेत दिव्येत वायावेतमाकाश एतमप्स्वेतमोषधीष्वेत वनस्पतिष्वेत चन्द्रमस्येत नक्षत्रेष्वेत सर्वेषु भूतेष्वेतमेव ब्रह्मेत्याचक्षते । ऐतरेयारण्यक - 3 2 3

"पुरुषसूक्त" दार्शनिक दृष्टि से बहुत महत्वपूर्ण है । इस सूक्त मे जगत् की उत्पत्ति का वर्णन किया गया है । यह सूक्त स्तवनात्मक न होकर वर्णनात्मक है । इसके अतिरिक्त इसमे तथ्यो का भी स्पष्टत निरूपण किया गया है । वेद को समझने के लिए इस सूक्त को समझना आवश्यक माना जाता है । इस सूक्त मे जहाँ मानव–व्यवहार की व्याख्या की गई है, वही दार्शनिक तत्त्वो का भी आख्यान है । यही कारण है कि यह सूक्त ऋग्वेद के दार्शनिक सूक्तो मे निर्विवाद रूप से परिगणित है । यह सूक्त बहुत लोकप्रिय है । इसकी लोकप्रियता का मुख्य कारण यह है कि इसमे किसी बाह्य पदार्थ से जगत् की सृष्टि न बताकर जनसामान्य द्वारा बोधगम्य पुरुष से ही सृष्टि का विकास दर्शाया गया है । अत लोगो की भावनाओ के सन्निकट होने के कारण यह सूक्त अधिक लोकप्रिय हुआ । सामान्यत इस सूक्त के आधार पर "पुरुषमेध" की कल्पना की जाती है । ऋग्वेद तथा ऐतरेयब्राह्मण मे उपलब्ध शुन शेप का उपाख्यान भी पुरुषमेध को सड् केतित करता है । वस्तुत ऋग्वेद के युग मे भी पुरुषमेध नही होता था । ब्राह्मणो तथा सूत्रो मे वर्णित पुरुषमेध शुद्ध रूपक है । यज्ञ परम्परा के सूत्र अत्यन्त प्राचीनकाल मे भी उपलब्ध होते है । यहूदी तथा भारतीय आर्यों मे यज्ञ अत्यन्त महत्वपूर्ण संस्था थी, किन्तु कही भी नरमेध की प्रथा के प्रमाण नही मिलते है । वस्तुत. इस प्रकार की कथाओ का सड् केत देवता के प्रति अपनी सबसे अधिक प्रिय वस्तु का समर्पण करना है ।

ऋग्वेद के पुरुषसूक्त[1] मे "सर्वेश्वरवाद" अथवा "एकेश्वरवाद" की पूर्ण प्रतिष्ठा की गई है । यज्ञो के प्राधान्य के कारण ही ऋषियो को धार्मिक जगत् मे उन्ही से सम्बद्ध रूपको पर आधृत होना पडा । वैदिक ऋषि सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को यज्ञमय मानता है । इसलिए सृष्टिकर्म भी यज्ञ ही है । विराट् पुरुष यज्ञ मे अपने को अर्पित करके अनेक रूपो मे प्रकट होता है । प्रस्तुत सूक्त मे विराट् पुरुष और उसके अड् गो का वर्णन किया गया है । इस सूक्त के ऋषि नारायण तथा देवता पुरुष है । मन्त्र सड् ख्या एक से लेकर पन्द्रह तक अनुष्टुप् तथा सोलहवाँ मन्त्र त्रिष्टुप् मे उपनिबद्ध है ।

(ग) सूक्त मे विद्यमान विभिन्न तत्त्वों की समीक्षा

पुरुष एव उससे उत्पन्न सृष्टि के बारे मे सम्यक् ज्ञान प्राप्त करने के लिए सूक्त मे आए विभिन्न तत्त्वो की समीक्षा आवश्यक है । इसे निम्नवत् प्रस्तुत किया जा सकता है ।

---

1 ऋग्वेद – 10 90 इस सूक्त के सभी मन्त्र तथा उनके हिन्दी–अनुवाद परिशिष्ट "क" मे दिये गए है ।

{1} **पुरुष का सहस्रत्व** .- सूक्त के प्रथम मन्त्र मे पुरुष को "सहस्रशीर्षा", "सहस्राक्ष" और "सहस्रपात्" कहा गया है । यहाँ सायण ने "सहस्र" को उपलक्षण माना है । अत उनके अनुसार इसका अर्थ "अनन्त शिरो से युक्त पुरुष" हुआ ।[1] ससार के सभी प्राणी उस पुरुष से ही उत्पन्न होते है, अत उनका शरीर भी उसी पुरुष का है । उव्वट ने "सहस्र" शब्द को अनेक का पर्याय माना है ।[2] महीधर ने इसे "बहुत्व" का वाचक माना है और इसका अर्थ "असख्य शिरो वाला" किया है ।[3] यदि "सहस्र" को बहुत्ववाची न मानकर सख्यावाचक माना जाएगा, तो उसकी दो हजार आँखे माननी पडेगी, जबकि मन्त्र मे ही उसे "सहस्राक्ष" बताया गया है । वस्तुत पुरुष के अङ्गो की सहस्रता उसकी अनन्तता, सार्वभौमिकता और अलौकिकता का द्योतक है । अद्वैत की दृष्टि से विचार करने पर अधिदैवत जगत् के सहस्रो ब्रह्माण्डो के सहस्रो द्युलोक शिर होगे, सहस्रो सूर्य-चन्द्र नेत्र होगे और सहस्रो भूमियाँ पैर होगे । आधिभौतिक जगत् के सहस्रो प्राणियो के सहस्रो शिर मानो उस एक अद्वैत पुरुष के ही सहस्रो शिर है । अनन्त नेत्र और पैर मानो उसी के अनन्त नेत्र और पैर है । मुशीराम शर्मा ने द्वैतदृष्टि से लक्षणा का आश्रय लेते हुए "सहस्र शीर्षा" का अर्थ अनन्त ज्ञान, "सहस्राक्ष" का सर्वदर्शिता और "सहस्रपात्" का अर्थ अनन्तगतिशीलता तथा सर्वव्यापकता या सर्वप्राप्तता किया है ।[4] इस रूप मे परमेश्वर एक ऐसा पुरुष है, जिसके ज्ञान, दर्शन तथा प्राप्ति {व्यापकता} की कोई सीमा नही है । इस प्रकार पुरुष के सहस्रत्व मे उसकी सार्वभौकिता, दिव्यता और नित्यता {अमरता} निहित है ।

{2} **दशाङ्गुलम्** - प्रथम मन्त्र मे ही आए इस पद का अर्थ सायण ने "दश अङ्गुल स्थान" करते हुए उसे उपलक्षण माना है । वह पुरुष ब्रह्माण्ड के अन्दर ही नही, अपितु बाह्य पदार्थों मे भी व्याप्त होकर स्थित है ।[5] ग्रिफिथ ने "दशाङ्गुलम्" को मानव के हृदय का वह स्थान बताया है, जहाँ आत्मा का निवास है ।[6] उव्वट ने इसका अर्थ "दश अङ्गुल के प्रमाण वाला

---

1 द्रष्टव्य - 10 90 1 पर सायण-भाष्य

2 शुक्लयजुर्वेद - 31.1 पर उव्वट-भाष्य.

3 वही, महीधरभाष्य

4 शर्मा मुशीराम - वेदार्थ-चन्द्रिका, पृष्ठ 39

5 ऋग्वेद - 10 90 1 पर सायणभाष्य.

6 वही, ग्रिफिथ का अनुवाद और टिप्पणी

हृदय प्रदेश'' अथवा ''नासिका का अग्रभाग'' किया है ।[1] दश अड्गुली मोडने पर मुट्ठी बँध जाती है और उसके अन्दर की सभी वस्तुएँ व्यक्ति के अधीन होती है । इस प्रकार यह ब्रह्माण्ड तो उस पुरुष की मुट्ठी के अन्दर है ही, इसका अतिक्रमण करके भी अर्थात् इसके बाहर भी वही है, यह तात्पर्य भी हो सकता है । मन्त्रस्थ भूमि का अर्थ पृथ्वी ही नही, अपितु समस्त ब्रह्माण्डो की समष्टि से है ।

पुरुष के शिर, चक्षु और पाद को सहस्र के साथ जोडने मे भी ऋषि का कोई अभिप्राय हो सकता है । उसका शिरोभाग सृष्टि से अस्पृष्ट प्रतीत होता है, क्योंकि उसका स्थान ऊपर है । पाद का तात्पर्य सीमित या सान्त सृष्टि से प्रतीत होता है तथा इन दोनो – सृष्टि से परे और सृष्टिगत रूपो के द्रष्टा के रूप मे स्थित पुरुष इनमे पार्थक्य को सूचित करता है । उसका चक्षुष्मान् होना दिव्यता और भौतिक सृष्टि का भेदक तत्त्व प्रतीत होता है । इस दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि ''दशाड्गुल'', ''जीवात्म पुरुष'' है, जो अपने पैर की दश अड्गुलियो पर स्थित है तथा पुरुष से अवर है और पुरुष उसका अतिक्रमण करके स्थित है ।

(3) **इदं सर्वम्** :– आचार्य सायण, उव्वट और महीधर ने सूक्त के द्वितीय मन्त्र मे आए ''इदम्'' का अर्थ ''यह वर्तमान जगत्'' किया है ।[2] वस्तुत ''इद सर्वम्'' का तात्पर्य दृश्यमान सृष्टि या भौतिक जगत् से है । यहाँ पुरुष की भौतिक जगत् से अभिन्नता प्रतिपादित की गई है । यह पूरा ब्रह्माण्ड मृत्यु के अधीन है । एक अमृत तत्त्व है, जो इस पूरे ब्रह्माण्ड का अतिक्रमण करने वाला है । सभी भौतिक पदार्थ अन्न है तथा सभी प्राण इनके भोक्ता है ।अन्न तत्त्व मर्त्य है, किन्तु प्राणतत्त्व अमृत है ।

(4) **महिमा** .– सूक्त के तृतीय मन्त्र मे आया ''महिमा'' पद पुरुष के अतिरिक्त इस जगत् के महत्त्व को भी द्योतित करता है । देश–काल की सीमा मे आबद्ध यह ब्रह्माण्ड पुरुष की महिमा का प्रतिफल है । पुरुष की महिमा की कोई सीमा नही है । उसे न तो तारो वाले आकाश तक केन्द्रित किया जा सकता है और न भौतिक पदार्थों के सूक्ष्म रूप तक ही । वस्तुत· उसे मानव–

---

1 शुक्लयजुर्वेदसंहिता – 31 1 पर उव्वटभाष्य

2 उक्त मन्त्र पर सायण, उव्वट एव महीधर–भाष्य द्रष्टव्य

मस्तिष्क तथा विज्ञान के विभिन्न उपकरणो से भी नही नापा जा सकता है । इस दृश्यमान जगत् के अनन्त स्वरूप का वर्णन करने मे वाणी कम पड जाती है ।

(5) त्रिपात् – साधारणत ब्रह्म या पुरुष को चार पैरो वाला माना जाता है । उसका एक भाग ये सारे प्राणी है तथा तीन भाग इस सासारिक सृष्टि से परे है । यहीं इस ब्रह्माण्ड रूपी वृक्ष की जडे निहित है । यदि आदिपुरुष को अक्षय स्रोत के रूप मे देखा जाए, तो उसे तीन भागो वाला तथा इस ब्रह्माण्ड को एक भाग मानना पडेगा । जितना मर्त्य भाग है, उसका तीन गुना अमर्त्य भाग है । यह विभाग जगत् और जीव की दृष्टि से है । जगत् बार–बार जन्म लेकर पुन प्रलय मे लीन हुआ करता है । जीव भी कर्म के अनुसार विभिन्न योनियो मे आया–जाया करता है । इन दोनो की अपेक्षा से ही पुरुष को कर्त्ता तथा भोक्ता के रूप मे एक पाद से सम्बद्ध कर के उपस्थित किया गया है । पुरुष का अपना वास्तविक रूप तो सर्वातिशायी और अगोचर है ।

यद्यपि पुरुष अखण्ड है, उसका भाग नही किया जा सकता, उसकी कोई इयत्ता नही है, तथापि यह ससार ब्रह्म के स्वरूप की अपेक्षा अल्प है इसीलिए पाद–विभाग किया गया है ।[1] वस्तुत यह विश्व पुरुष के एक भाग मे ही स्थित है ।अत मन्त्र मे आया "पाद" शब्द उसका परिमाण बताने के लिए नही आया है, बल्कि वह देश–विशेष को निर्दिष्ट करता है । स्वामी दयानन्द की भी ऐसी ही मान्यता है ।[2]

(6) पुरुष का विष्वङ्- क्रमण – सूक्त के चौथे मन्त्र मे पुरुष का चतुर्दिक् क्रमण विहित है । इसमे सर्वोपरि गतिशीलता का सङ्केत किया गया है, जो सृष्टि की मूल प्रवृत्ति है तथा जिसके द्वारा एक साथ ही देश और काल का परिच्छेद हुआ है । "साशन" तथा "अनशन" पदो से "चेतन" तथा "अचेतन" तत्त्व अभिप्रेत है । "अचेतन" पदार्थों को "चेतन" अपना आहार बना लेते है । मिट्टी "अचेतन" है, जल उसे खा जाता है, जल को अग्नि, अग्नि को वायु और वायु को आकाश खा जाता है । अत. सापेक्ष दृष्टि से एक "अनशन" तथा दूसरा "साशन" बनता जाता है । आदिपुरुष ने इन दोनो को चारो ओर से व्याप्त कर लिया । यह कार्य भी उसके मायाच्छन्न चतुर्थांश ने ही सम्पन्न किया, क्योंकि उसका मूल त्रिपात् तो ऊपर द्युलोक मे अमृतरूप मे अवस्थित हो गया था । आचार्य सायण और महीधर ने "ऊर्ध्व उदैत्" का अर्थ – इस अज्ञानकार्य ससार से बहिर्भूत तथा

---

1 द्रष्टव्य – ऋ 10 90 3 पर सायणभाष्य

2 द्रष्टव्य – स्वामी दयानन्द – ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका, सृष्टिविद्या-विषय

इसके गुण–दोषो के सस्पर्श से रहित पुरुष उत्कर्षपूर्वक स्थित हुआ, किया है ।[1] उस पुरुष का पाद या लेश यहाँ माया मे सृष्टि और सहार के रूप मे बार–बार आता है । माया मे आने के बाद वह पुन देव, मनुष्य, तिर्यग् आदि रूपो मे आने के बाद वह पुन देव, मनुष्य, तिर्यग् आदि रूपो मे विविध प्रकार से होता हुआ चेतन और अचेतन को लक्ष्य कर के व्याप्त हो जाता है ।[2] आचार्य सायणएव महीधर के इस भाष्य के आलोक मे वेदान्तदर्शन की वह प्रक्रिया स्पष्टत परिलक्षित होती है, जिसके अनुसार अज्ञान अथवा माया की उपाधि से विशिष्ट चैतन्य को ही नामरूपात्मक जगत् कहा गया है । आचार्य शड्कर के शब्दो मे – "एक ही परमेश्वर जो माया को जानता है तथा कूटस्थनित्य और विज्ञान-धातु है, अविद्या या माया के द्वारा अनेक प्रकार से कल्पित कर लिया जाता है ।[3] पुरुषसूक्त मे वर्णित "त्रिपात्पुरुष" वेदान्त का मायोपाधिरहित कूटस्थ नित्य ब्रह्म प्रतीत होता है, जो सदा एकरस है । इसके अतिरिक्त मन्त्र मे जिस एक पाद के इस लोक मे पुन होने की बात कही गईहै, वह वेदान्तप्रतिपादित मायोपाधिविशिष्ट ब्रह्म प्रतीत होता है, जो अनेक प्रकार से स्थावर–जड्गम जगत् के रूप मे व्यक्त है ।गीता मे श्रीकृष्ण ने भी कहा है – मै एक अश से इस पूरे जगत् को विशेष रूप से धारण करके स्थित हूँ ।[4]

(7) विराट् – सूक्त के पाँचवे मन्त्र मे आदिपुरुष से विराट् की उत्पत्ति बताई गई है । सायण एव महीधर ने विराट् का अर्थ – "जिसमे विविध पदार्थ विराजमान हों वह विराट् है", किया है ।[5] इसकी व्याख्या – विशेषेण राजते इति विराट्, अर्थात् जो विशेष रूप से दीप्तिमान् हो वह विराट् है, भी की जा सकती है । स्वामी दयानन्द ने विराट् का अर्थ करते हुए लिखा है – "विराट् जिसका ब्रह्माण्ड के अलड्कार से वर्णन किया है, जो उसी पुरुष के सामर्थ्य से उत्पन्न हुआ है, जिसको मूल प्रकृति कहते है, जिसका शरीर ब्रह्माण्ड के समतुल्य, जिसके सूर्य–चन्द्रमा नेत्रस्थानी है, वायु जिसका प्राण और पृथिवी जिसका पग है – इत्यादि लक्षण वाला जो यह

---

1 द्रष्टव्य, ऋग्वेद 10 90 4 पर सायण एव महीधरभाष्य

2 वही

3 एक एव परमेश्वर कूटस्थनित्यो विज्ञानधातुरविद्यया मायया मायाविदनेकधा विभाव्यते ।
ब्रह्मसूत्र, शाड्करभाष्य – 1 3 19

4 विष्टभ्याहमिद कृत्स्नमेकाशेन स्थितो जगत् । गीता – 10 42

5 ऋग्वेद – 10.90 5 पर सायण एव महीधरभाष्य

आकाश है, वही विराट् कहलाता है ।[1] इस प्रकार उनके मतानुसार विराट् का अर्थ आकाश है । वस्तुत विराट् का अर्थ स्पष्ट करने के लिए तीन श्रेणियाँ बनानी पडेगी । प्रथम श्रेणी स्वयम्भू, दूसरी विराट् या विराज् तथा तीसरी वैराज पुरुष की श्रेणी होगी । प्रथम श्रेणी पिता की, द्वितीय माता की और तृतीय सन्तति की है । पहली दो श्रेणियाँ अप्रकट है और तीसरी सूर्य या वैश्वानर के रूप मे प्रकट है । प्रत्येक उत्पत्ति मे माता और पिता की आवश्यकता होती है । सृष्टि के प्रारम्भ मे ऋत पिता और सत्य माता है । ऋग्वेद के एक मन्त्र मे ऋत को पिता कहा गया है तथा सूर्य को उसका पुत्र होने का सङ्केत किया गया है ।[2] सूर्य का एक नाम इन्द्र भी है । एक अन्य मन्त्र मे इन्द्र अर्थात् सूर्य को सत्य का सूनु कहा गया है ।[3] इसके द्वारा सत्य का माता होना प्रतिपादित होता है । सत्य का पुत्र ही सत्य का पालक है ।

पुरुष की उक्त त्रिविध स्थिति के अतिरिक्त पुराणो तथा भागवत–परम्परा मे नारायण पुरुष की धारणा भी दृष्टिगत होती है । इस परम्परा के अनुसार पितृतत्त्व स्वयम्भू को नर तथा मातृतत्त्व विराज् को नार कहा जाता है । नार ही आप अर्थात् जल है । इस सार्वभौम माता–पिता के युग्म से उत्पन्न सन्तति नारायण कहलाती है । यह नारायण ही सूर्य, हिरण्यगर्भ, मनु, अग्नि, इन्द्र, प्राण इत्यादि नामो से अभिहित किया जाता है । मनु ने अपनी स्मृति मे इसे स्पष्टत प्रस्तुत किया है ।[4] मन्त्रस्थ "विराजो अधि पूरुष" द्वारा इसी वैराज नारायण पुरुष की ओर सङ्केत किया गया है । सायण एव महीधर ने इसका अर्थ करते हुए लिखा है – विराज् के शरीर को अधिकरण बनाकर उस शरीर का अभिमानी एक पुरुष उत्पन्न हुआ । सर्ववेदान्त-वेद्य वही परमात्मा अपनी माया से ब्रह्माण्ड रूप विराट् देह की सृष्टि कर उसमे जीव के रूप मे प्रविष्ट होकर ब्रह्माण्डाभिमानी देवतात्मा जीव

---

1 स्वामी दयानन्द सरस्वती – ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, सृष्टिविद्या-विषय

2 अहमिद्धि पितुष्परि मेधामृतस्य जग्रभ । अह सूर्य इवाजनि । ऋग्वेद – 8.6.10

3 ऋग्वेद – 8 69 4

4 आपो नारा इति प्रोक्ता आपो वै नरसूनव ।
ता यदस्यायन प्रोक्त तस्मान्नारायण स्मृत ।
एतमेके वदन्त्यग्नि मनुमन्ये प्रजापतिम् ।
इन्द्रमेके परे प्राणमपरे ब्रह्म शाश्वतम् ।। मनुस्मृति 12 123

हुआ ।[1] विराट् की प्रस्तुत व्याख्या मे वेदान्त दर्शन का स्वरूप और भी स्पष्ट रूप से हमारे समक्ष उपस्थित होता है । वेदान्त दर्शन मे स्थूल शरीर की समष्टि के अभिमानी मायोपाधिविशिष्ट चैतन्य का नाम "विराट्" या वैश्वानर है । वहाँ स्थूल शरीर की व्यष्टि के अभिमानी जीव को विश्व कहा गया है ।[2]

विराज् से उत्पन्न वैराज पुरुष ने पीछे तथा आगे की भूमि का अतिक्रमण कर दिया । सायण और महीधर ने इसका अर्थ इस प्रकार किया है – उत्पन्न होने वाला वह विराट् पुरुष अतिरिक्त हो गया – देव, तिर्यक्, मनुष्य आदि रूपो वाला हो गया । देव इत्यादि की सृष्टि के पश्चात् भूमि एव शरीरो की रचना की ।[3] इन विद्वानो ने 'पुर' का अर्थ शरीर किया है । डॉ वासुदेवशरण अग्रवाल ने भूमि को द्यौ का भी द्योतक माना है । उनके अनुसार मन्त्रस्थ "पश्चात्" पद भूमि के लिए और पुर अर्थात् पुरस्तात् का प्रयोग द्यौ के लिए किया गया है ।[4] इसका भाव यह निकाला जा सकता है कि वह वैराज पुरुष द्युलोक तथा पृथिवी का अतिक्रमण कर दिया अर्थात् इनकी सीमा से परे हो गया ।

(8) **आदिम यज्ञ** .– सूक्त के छठे मन्त्र मे आदिम यज्ञ के उपादानो–सामग्रियो की चर्चा की गई है । सायण एव महीधर ने इसकी व्याख्या करते हुए लिखा है – पूर्व कथित क्रम से शरीर रचना हो जाने के बाद देवो ने उत्तरसृष्टि की कामना की । उस समय तक कोई भी बाह्य द्रव्य उत्पन्न नही हुआ था । इस कारण यज्ञ सम्पन्न करने हेतु हवि का अभाव था । इसी समस्या के समाधान के लिए देवताओ ने पुरुष के स्वरूप की हवि के रूप मे मानसिक आकल्पना की और उसी पुरुष-हवि से मानस–यज्ञ सुप्रतिष्ठित हुआ । इस यज्ञ मे आज्य, समिधा एव हवि के रूप मे

---

1. ऋग्वेद 10.90 5 पर सायण और महीधर का भाष्य
2. एतत्समष्ट्युपहित चैतन्य वैश्वानरो विराडित्युच्यते ।
   एतद्व्यष्ट्युपहित चैतन्य विश्व इत्युच्यते । सदानन्द वेदान्तसार, खण्ड 31–32
3. ऋग्वेद 10 90 5 पर सायण एव महीधर भाष्य
4. Bhūmı whıch also ımplıes Dyauh........ Dyauh ıs Purastāt and Bhūmı ıs Paśchāt.
   अग्रवाल, डॉ वासुदेवशरण – वैदिक लेक्चर्स, पृष्ठ 172

क्रमश वसन्त, ग्रीष्म तथा शरद् ऋतुओ का उपयोग किया गया ।[1] तात्पर्य यह है कि देवताओ को हविष्य जुटाने मे विशेष परिश्रम नही करना पडा, क्योंकि यज्ञ आरम्भ करने के पूर्व ही कालचक्र का प्रवर्तन हो चुका था । ऋतुएँ क्रमश अपनी–अपनी बारी से आने–जाने लगी थी । उनमे से वसन्त को आज्य बनाया गया । आज्य तपाए गए घृत को कहते है । घृत चिक्वण होता है । वसन्त भी चिक्वणता – सरसता का प्रतीक है । इसके आगमन पर जड–चेतन अखिल जगत् रसस्निग्ध हो उठता है । जिस प्रकार घृताहुति देने से अग्नि प्रज्वलित हो जाता है, वैसे ही वसन्त के आने से सबका अन्त स्थल उत्फुल्ल हो जाता है । इसीलिए वसन्त को आज्य कहा गया है । सूखी समिधा ही शीघ्र आग पकड़ती है । ग्रीष्म मे कोई भी वस्तु जल्दी सूख जाती है । सूर्य की किरणे वनस्पतियो के रस को खीच लेती है । इस प्रकार ग्रीष्म अग्नि के लिए शीघ्र जलने योग्य सामग्री को प्रस्तुत कर देता है। इसीलिए ग्रीष्म को इध्म या समिधा के रूप मे प्रकल्पित किया गया है । शरद् ऋतु मे हव्य अन्नो – चावल, उडद, मूग, तिल इत्यादि की फसले तैयार हो जाती है । यही कारण है कि मन्त्र मे हवि शरद् के साथ समीकृत है ।

आचार्य उव्वट ने उक्त मन्त्र मे आत्मयज्ञ को निष्पादित किया है । उनके अनुसार जिस प्रकार इन्द्र आदि देवो ने पुरुष-हवि से यज्ञ किया और उसमे वसन्त, ग्रीष्म एव शरद् को क्रमश आज्य, इध्म तथा हवि के रूप मे प्रयुक्त किया गया उसी प्रकार से योगिजन आत्मयज्ञ का सम्पादन करते है । आत्मयज्ञ से योगी लोग अमृतस्वरूप देदीप्यमान पुरुष–प्रतीक आत्मा के द्वारा सम्यक् अधिकार प्राप्त करते है । इस आत्मयज्ञ मे सत्व, रजस्, तमस् गुणो का हवन किया जाता है । वसन्त सत्वगुण का, ग्रीष्म रजोगुण का तथा शरद् तमोगुण का प्रतीक है ।[2] डॉ वासुदेवशरण अग्रवाल ने यज्ञ के आधार को त्रिमूर्त्तिपरक माना है, जो तीन ऋतुओ के प्रतीक के रूप मे मन्त्र मे निर्दिष्ट है । ये तीनो कालचक्र या सवत्सर की तीन तीलियाँ है तथा द्रव्य–यज्ञ के तीन तत्त्वो – आज्य, ईधन और हविष्यान्न को द्योतित करती है ।[3] उन्होने वसुओ, रुद्रो और आदित्यो को भी कालचक्र की तीलियो

---

1 ऋग्वेद – 10 90 6 पर सायण तथा महीधर के भाष्य

2 द्रष्टव्य – उक्त मन्त्र पर उव्वट-भाष्य

3 The foundation or the basic pattern of the sacrifice is that of trinity, symbolised here as three seasons.
अग्रवाल, डॉ.वासुदेवशरण – वैदिक लेक्चर्स, पृष्ठ 173

के रूप मे माना है । इसके अतिरिक्त उनके मत मे तीन देव – अग्नि, वायु और आदित्य, तीन लोक – पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्यौ , तीन द्वन्द – गायत्री, त्रिष्टुप् और जगती, तीन पुरोहित तथा तीन प्राण भी ब्रह्माण्डीय सृष्टि के त्रिमूर्तिपरक तत्त्व है ।[1]

(9) **यज्ञ–पुरुष** .– सूक्त के सातवे मन्त्र मे पुनश्च यज्ञ का सम्पादन प्रस्तुत किया गया है । वस्तुत यह अग्रजात यज्ञपुरुष विराट् से उत्पन्न होने वाला वैराज पुरुष ही है । आदिम यज्ञ मे आदिपुरुष ही हवि के रूप मे आकल्पित था । यहाँ पहले उत्पन्न वैराज पुरुष का यज्ञ के साथ तादात्म्य स्थापित किया गया है । डॉ अग्रवाल ने इसे द्वैतीयक यज्ञ माना है ।[2]

(10) **बर्हिषि प्रौक्षन्** – आचार्य सायण एव महीधर ने "बर्हिषि" का अर्थ – मानसिक यज्ञ और "प्रौक्षन्" का "प्रोक्षितवन्त " किया है ।[3] ग्रिफिथ ने प्रथम पद को यज्ञो मे प्रयुक्त होने वाली पवित्र घास कहा है ।[4] वस्तुत यह पवित्र घास कुशा है, जिसका प्रयोग यज्ञीय कर्मकाण्ड के समय किया जाता है । डॉ अग्रवाल ने अनेक ब्राह्मण ग्रन्थो का उद्धरण देते हुए इसे प्रजावाचक मानकर वैराज पुरुष या मनु से उत्पन्न प्रजाओ के रूप मे स्वीकार किया है ।[5] सभी प्रजाएँ मनुष्य, पशु और वनस्पति इन तीन रूपो मे सृष्ट है तथा इन तीनों श्रेणियो मे एक तथ्य सर्वनिष्ठ है कि ये सभी अपने अस्तित्व के लिए अन्न या रस पर आश्रित है । गीता मे श्रीकृष्ण ने भी कहा है – मैं रसात्मक सोम होकर सभी ओषधियो को पुष्ट करता हूँ ।[6] मूर ने "प्रौक्षन्" का अर्थ "बलि" किया है । उनका

---

1 The foundation or the basic pattern of the sacrifice is that of trinity, symbolised here as three seasons.
अग्रवाल, डॉ वासुदेवशरण – वैदिक लेक्चर्स, पृष्ठ 173

2 वही, पृष्ठ 173

3 ऋग्वेद – 10 90 7 पर सायण एव महीधर के भाष्य

4 वही, ग्रिफिथ का अनुवाद

5 अग्रवाल, डॉ वासुदेवशरण – वैदिक लेक्चर्स, पृष्ठ 174

6 पुष्णामि चौषधी सर्वा सोमो भूत्वा रसात्मक । गीता – 15 13

तात्पर्य है कि पवित्र घास अर्थात् कुशा पर पुरुष की बलि दी गई ।[1] पीटर्सन ने इसका अर्थ "छिटकना" किया है ।[3] वस्तुत सृष्टि की पूर्वावस्था देवयुग की अवस्था है । इसमे प्राणतत्त्व की प्रबलता है । पुरुष यज्ञार्थ तप रहा है । इसी तप से, प्राण के श्रम से स्वत स्वेद की बूँदे प्रकट हुई । इसी से विराट् पुरुष का सेचन किया गया । यज्ञ-प्रक्रिया मे वेदी पर कुशाएँ बिछाई जाती है। उन्ही कुशाओ पर यजमान बैठता है । कुशाओ से ही उसके ऊपर जल छिड़का जाता है । कुशो को सर्वत्र पवित्राधायक माना गया है ।

उव्वट ने इस मन्त्र का अर्थभी आत्मयज्ञपरक किया है । जिस प्रकार अग्निष्टोम यज्ञ मे कुशप्रोक्षित पुरुष उत्पन्न हुआ, उसी प्रकार आत्मयज्ञ मे प्राणायाम से प्रदीप्त पुरुष उत्पन्न होता है। प्राणायाम की साधना से दिव्यज्ञान का उद्भव होता है । बर्हि प्राणायाम एव पुरुष दिव्यज्ञान का प्रतीक है । इन्द्र, साध्य एव ऋषियों ने उस पुरुष से यजन किया है । योगी कपिल इत्यादि एव अन्य ऋषि इस आत्मयज्ञ मे प्रणवपुरुष से यज्ञ करते हैं ।[3] उव्वट के विचार से विधिपरक यज्ञ एव आत्मयज्ञ मे कोई विभेदक रेखा नही है ।

(11) **साध्य, ऋषि और देव** :- आचार्य सायण एव महीधर ने "साध्य" का अर्थ सृष्टिसाधन के योग्य प्रजापति आदि तथा "ऋषि" का अर्थ तदनुकूल मन्त्रद्रष्टा किया है ।[4] पीटर्सन ने इनका अर्थ क्रमश पवित्र, ऋषि और देव किया है ।[5] मैकडानेल के अनुसार साध्य प्राचीन स्वर्लोकीय प्राणियो के समूह का बोधक है ।[6] ग्रिफिथ के अनुसार साध्य, याज्ञिको का एक वर्ग है, जिसका सम्बन्ध प्राचीन देव याज्ञिको से है ।[7] यह शब्द निघण्टु (1 5.14) मे रश्मिवाचक नामो के साथ

---

1 मूर - ओरिजिनल सस्कृत टेक्स्ट, भाग 5, पृष्ठ 371

2 पीटर्सन - हिम्स फ्राम द ऋग्वेद, पृष्ठ 323

3 द्रष्टव्य - शुक्लयजुर्वेद-संहिता - 31.9 पर उव्वट भाष्य.

4 ऋग्वेद 10 90 7 पर सायण एव महीधर के भाष्य

5 पीटर्सन - हिम्स फ्राम द ऋग्वेद.

6 मैकडानेल - वैदिक रीडर फार स्टूडेन्ट्स, पुरुषसूक्त मन्त्र 7 की टिप्पणी

7 ऋग्वेद - 10.90.7 पर ग्रिफिथ का अनुवाद एवं टिप्पणी

पठित है, अत नैरुक्तो ने इसे रश्मिवाचक ही माना है । ऋषि शब्द की व्याख्या करते हुए शतपथ-ब्राह्मण मे बताया गया है कि जिन्होने श्रम तथा तपस्या की वे ऋषि कहलाए ।[1] ऋग्वेद मे भी इसी आशय का एक मन्त्र आया है ।[2] निरुक्त मे मन्त्रो – स्तोत्रो का दर्शन करने के कारण ऋषियो को ऋषि कहा गया है ।[3] डॉ.अग्रवाल ने साध्य को देवताओ का ही एक विशेष नाम माना है । देवो और ऋषियो मे भेद प्रदर्शित करते हुए उन्होने बताया है कि ऋषि मन के प्राचीनतम सिद्धान्त का प्रतिनिधित्व करते है तथा साध्य देव प्राणतत्त्व का । एक असत् है तो दूसरा सत् है । पहला धारणाओ अथवा मस्तिष्क को द्योतित करता है, तो दूसरा प्राणों के द्वारा जीवन्तता को । पहला "असत्सृष्टि" है और इसका परिणाम दूसरा सत् सृष्टि है । पहले का सम्बन्ध पूर्वयुग से है और दूसरे का उत्तरयुग से । साध्यदेवो को पूर्वदेव माना गया है, जो ऐसी शक्तियाँ है कि अपने उद्गम मे छिपी हुई है तथा देवो के देवदूतीय शक्तियो के बराबर है ।[4] पुरुष सूक्त के ही सोलहवे मन्त्र में साध्यो का निवास स्थान नाकलोक मे बताया गया है ।

जयदेव वेदालङ्कार ने इस मन्त्र की दूसरी पङ्क्ति का अर्थ करते हुए लिखा है – उस विराट् के पूजन से देव, साध्य और ऋषि प्रादुर्भूत हुए ।[5] सम्भवत उन्होने "अजयन्त" का अर्थ "उत्पन्न हुए" किया है । यज् धातु का अर्थ कही भी उत्पन्न होना नहीं बताया गया है अपितु इसका अर्थ यजन–पूजन करना ही होता है ।[6] अत वेदालङ्कार जी का अर्थ नितान्त भ्रामक एवं अशुद्ध तथा अपरम्परागत प्रतीत होता है ।

(12) **सर्वहुत्-यज्ञ** – पुरुषसूक्त के आठवे मन्त्र मे यज्ञ को सर्वहुत् कहा गया है। सायण ने इसका अर्थ – "सर्वात्मक पुरुषो यस्मिन् यज्ञे हूयते सोऽय सर्वहुत्" अर्थात् जिसमे सर्वात्मक

---

1 ये यत्पुरास्मात् सर्वस्माद् इदमिच्छन्त. श्रमेण तपसारिषन् तस्माद् ऋषय ।
शतपथब्राह्मण – 6 1 1 1

2 ऋग्वेद 10 109 4

3 ऋषिर्दशनात् स्तोमान् ददर्शेत्यौपमन्यव । निरुक्त – 2 3 3

4 अग्रवाल, डॉ वासुदेवशरण – वैदिक लेक्चर्स, पृष्ठ 176

5 वेदालङ्कार, जयदेव – वैदिक दर्शन, पृष्ठ 257

6 यज देवपूजासङ्गतिकरणदानेषु – धातुपाठ, 1027

पुरुष का हवन किया गया है" किया है ।[1] महीधर ने "सर्व हूयते यस्मिन् स सर्वहुत्" अर्थात् जिसमें सब कुछ हवन किया जाता है, ऐसा अर्थ किया है ।[2] ग्रिफिथ ने महान् यज्ञ[3] और पीटर्सन ने पूर्णत अनुष्ठित यज्ञ[4] इस प्रकार अनुवाद किया है । वस्तुत इसका अर्थ – जिसमे सबका हवन किया जाता है, करना अधिक सङ्गत प्रतीत होता है । सायण ने यज्ञ का अर्थ मानस यज्ञ तथा महीधर ने "पुरुषमेध यज्ञ" किया है ।[5] उव्वट ने इसे "अग्निष्टोम यज्ञ" माना है । मूलत वे इसे आत्मयज्ञ ही मानते हुए कहते है – इस प्रकार के सर्वहुत् आत्म-यज्ञ के द्वारा उत्पन्न ज्ञानरूपी तेज से योगिजन सारे पशुओ तथा सारे भूतो को करतलगत देखते है ।[6]

(13) **पृषदाज्यम्** – पृषत् च तद् आज्यमिति । आज्य का अर्थ – तपाया गया घृत होता है । सायण महीधर ने "पृषदाज्यम्" का अर्थ "दधिमिश्रित घृत" किया है ।[7] ग्रिफिथ इसे बूँद के आकार का घी मानते है ।[8] पीटर्सन "बटर" अर्थात् घी अर्थ करते है ।[9] मैकडानेल इसे घनीभूत – जमा हुआ घृत मानते है ।[10] यज्ञ–प्रक्रिया मे घी का बडा महत्त्वपूर्ण स्थान है । प्राय प्रत्येक यज्ञ मे हविष्य के अतिरिक्त स्वतन्त्र रूप से घृत का हवन किया जाता है । ऐसी स्थिति मे हवन करते समय घी की बूँदे यत्र–तत्र टपकती रहती है । अत यहाँ "पृषदाज्यम्" का अर्थ "घी की बूँदे" करना सुसङ्गत है । ऐसा करने से ही "सम्भृतम्" (एकत्र किया गया) पद का अर्थ इसके साथ पूर्णत बैठ पाएगा । घृत उर्वरता का प्रतीक है । इसीलिए मन्त्र मे उससे पशुओ की उत्पत्ति बताई गई है ।

---

1 ऋग्वेद 10 90 8 पर सायणभाष्य

2 वही, महीधर भाष्य.

3 वही, ग्रिफिथ का अनुवाद

4 वही, पीटर्सन का अनुवाद

5 वही, सायण और महीधर–भाष्य

6 शुक्लयजुर्वेद्र सहिता – 31 6 पर उव्वटभाष्य

7 ऋग्वेद 10 90 8 पर सायण–महीधर भाष्य

8 वही, ग्रिफिथ का अनुवाद

9 वही, पीटर्सन का अनुवाद.

10 वही, मैकडानेल का अनुवाद

इस घृत को हवन के पश्चात् अग्नि से एकत्र किया गया है, अत इसका अग्नि के साथ तादात्म्य प्रतीत होता है । वस्तुत यह सृष्टि यज्ञ का ही परिणाम है और यज्ञ अग्नि पर आधारित है । अत अग्नि इस ब्रह्माण्डीय सृष्टि का ऐसा देवता है, जिसके द्वारा सारी दैवी शक्तियाँ सृष्टि से प्रवृत्त होती है । डॉ वासुदेवशरण अग्रवाल ने इस सृष्टि के लिए अग्नि को बीज और सोम को माता माना है । उन्होने सृष्टि के आरम्भ मे विद्यमान जलराशि को मातृतत्त्व के रूप मे माना है । ऐसा प्रतीत होता है कि जलराशि ही यज्ञ के समय सोमरस के रूप मे उपस्थित है ।[1]

(14) **वायव्य, आरण्य और ग्राम्य पशु** – आचार्य सायण एव महीधर ने वायु देवता से सम्बद्ध पशुओ को वायव्य, लोकप्रसिद्ध वन्य पशुओ को आरण्य तथा गाँव मे होने वाले गो, अश्व इत्यादि को ग्राम्य पशु माना है ।[2] पाश्चात्य विद्वानो ने भी प्राय इन शब्दो के यही अर्थ स्वीकार किये है ।[3] यहाँ वायु, वन और ग्राम इन तीनो से सम्बद्ध पशुओ की उत्पत्ति का वर्णन किया गया है । ध्यातव्य यह है कि मन्त्र मे जलीय पशुओ की चर्चा नही की गई है । डॉ अग्रवाल ने तीनो प्रकार के पशुओ को तीन प्रकार के प्राणीय ऊर्जा (Prānic Energy) का प्रतीक माना है, जो किसी भी पशु–स्वरूप के निर्माण मे अपनी भूमिका का निर्वाह करती है ।[4] यहाँ ग्राम्य पशुओ से पञ्च भौतिक तत्त्वो का सङ्केत प्राप्त होता है, जो एक साथ ही रहते है । वायव्य पशु प्राणतत्त्व का सङ्केत देते है तथा आरण्य पशु, जो अपनी इच्छा से इधर–उधर विचरण करते है, मनस्तत्त्व को द्योतित करते है । मन भी स्वेच्छया इतस्तत भ्रमणशील है । यह स्पष्ट है कि प्रत्येक प्राणी, मन, जीवन तत्त्व (प्राण) और भौतिक तत्त्व के सम्मिश्रण से ही बना है ।

डॉ मुशीराम शर्मा ने आज्य और त्रिविध पशुओ के साथ ब्रह्मचर्यादि चारो आश्रमो को युक्त किया है । उन्होने पृषदाज्य को ब्रह्मचर्याश्रम, ग्राम्य पशु को गार्हस्थ्य, आरण्य को वानप्रस्थ तथा

---

1 अग्रवाल, डॉ वासुदेवशरण – वैदिक लेक्चर्स, पृष्ठ 177

2 ऋग्वेद 10.90 8 पर सायण एव महीधर के भाष्य

3 द्रष्टव्य, उक्त मन्त्र पर ग्रिफिथ, पीटर्सन और मैकडानेल के अनुवाद

4 अग्रवाल, डॉ.वासुदेवशरण – वैदिक लेक्चर्स, पृष्ठ 178

वायव्य को सन्यास आश्रम का प्रतीक माना हैं ।[1] आरण्य तथा वायव्य पशुओ को बाँधा नही जा सकता । वे अरण्य एव आकाश (वायु) मे स्वच्छन्दतापूर्वक विचरण करते है ।

(15) **वेद का आविर्भाव :-** सूक्त के आठवे मन्त्र मे पशु-सृष्टि का उल्लेख करने के पश्चात् ऋषि ने नवे मन्त्र मे वेद के आविर्भाव को बताया है । डॉ अग्रवाल ने आधुनिक शब्दो मे पशुसृष्टि को स्वरूप (Form) तथा वेद के आविर्भाव को विचार (Idea) माना है ।[2] ये दोनो ऐसे यज्ञ है, जो एक-दूसरे का निष्पादन करते है । स्वरूप बिना विचार के नही बन सकता और न स्वरूप के बिना विचारो का ही कोई अर्थ हो सकता है । नवे मन्त्र के अनुसार उसी सर्वहुत् यज्ञ से ऋचाएँ अर्थात् ऋग्वेद, सामवेद, छन्द तथा यजुर्वेद उत्पन्न हुए । ऋग्वेद मे स्थित मन्त्रो को ऋक् या ऋचा कहते है । जिन मन्त्रो मे अर्थ के कारण पाद व्यवस्थित रहते है, उन्हे ऋक् कहते है ।[3] उव्वट के शब्दो मे ऋक् नियत अक्षर और पादो वाली होती है ।[4] गेय ऋचाओ को साम कहते है ।[5] ऋक् और साम से पृथक् मन्त्रो को यजुष् कहते है ।[6] उव्वट के शब्दो मे अनियत अक्षर और पादो वाले मन्त्रो को यजुष् कहते है ।[7] मन्त्रस्थ "छन्दांसि" पद का अर्थ सायण और महीधर ने गायत्री आदि छन्द किया है ।[8] मूर ने इसे अथर्ववेद का वाचक माना है ।[9] पीटर्सन भी इन्ही का अनुगमन करते है ।[10] वस्तुत अथर्ववेद के छन्दोबद्ध होने के कारण "छन्दासि" को उसका वाचक माना जा सकता है । डॉ अग्रवाल ने प्रथम तीन वेदो को तीन अग्नियो तथा चतुर्थ अर्थात्

---

1 शर्मा, डॉ मुशीराम - वेदार्थ-चन्द्रिका, पृष्ठ 49

2 अग्रवाल, डॉ. वासुदेवशरण - वैदिक लेक्चर्स, पृष्ठ 176

3 तेषामृग् यत्रार्थवशेन पादव्यवस्था । जैमिनिसूत्र - 2 1 35

4 नियताक्षरपादावसाना ऋक् । उव्वट - शुक्लयजुर्वेदसहिता - 1 1 पर भाष्य

5 गीतिषु सामाख्या । जैमिनिसूत्र - 2.1 36

6 शष यजु । वही - 2 1 37

7 अनियताक्षरपादावसान यजु । उव्वट - शुक्लयजुर्वेदसहिता - 1 1

8 ऋग्वेद 10 90 9 पर सायण एव महीधर के भाष्य

9 मूर - ओरिजिनल सस्कृत टेक्स्ट, भाग 5, पृष्ठ 373

10 ऋग्वेद 10 90.9 पर पीटर्सन का अनुवाद

अथर्ववेद को सोम का प्रतीक माना है ।[1] डॉ शर्मा ने वाणी के इन चार प्रकारो को ऋत और सत्य मे अन्तर्भावित किया है । उन्होने सम्पूर्ण गद्यात्मकता को सत्य तथा पद्यात्मकता को ऋत माना है ।[2] उव्वट ने इस मन्त्र का भी अध्यात्मयज्ञपरक अर्थ करते हुए लिखा है – पहले बताए गए प्रणवपुरुष से आत्मयज्ञ के प्रदीप्त हो जाने पर मनुष्य स्वत ज्ञान का अधिष्ठान बन जाता है ।[3]

(16) पञ्चपशुओ की उत्पत्ति :– सूक्त के दशम मन्त्र मे पॉच पशुओ की उत्पत्ति का वर्णन किया गया है । वे पशु है – अश्व, ऊपर तथा नीचे दोनो ओर दॉत वाले पशु, गाय, भेड और बकरियॉ । उक्त सभी पशु मनुष्यो के लिए अत्यन्त उपयोगी है । इसके साथ ही यज्ञ की सफलता मे पशुओं की भी महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है । अत मानवसृष्टि के पूर्व मानवोपयोगी पशुओ की सृष्टि आवश्यक थी । सायण, उव्वट, महीधर इत्यादि विद्वानो ने "उभयादत " का अर्थ गधे, खच्चर इत्यादि किया है ।[4] डॉ अग्रवाल ने इसे "पुरुष पशु" के लिए प्रयुक्त माना है ।[5] उन्होने पॉच पशुओ को पॉच प्रकार के प्राण सम्बन्धी स्पन्दो के रूप मे स्वीकार किया है । अश्व गति का एक प्रभावशाली प्रतीक है, जो मूल बिन्दु से आगे की तरफ जाता है । पुरुष मे गति के सारे रूप विद्यमान है । गाय एक ऐसी शक्ति का प्रतीक है, जो बाहर से मूलबिन्दु की ओर आती है । वस्तुत यह आन्तरिक गतिशीलता का प्रतीक है । उक्त पशुओ मे हर प्रकार की गतिशीलता दृष्टिगत होती है । अश्व अपकेन्द्रीय गति तथा गाय अभिकेन्द्रीय गति का प्रतिनिधित्व करते है । भेड मन्दगति तथा बकरियॉ त्वरित गति को सूचित करती है । पुरुष मे ये सभी प्रकार की गतियॉ विद्यमान है ।[6]

(17) चार वर्णो की उत्पत्ति – सूक्त के ग्यारहवे मन्त्र मे पुरुष के विभिन्न अड्गो की सञ्ज्ञाओ के बारे मे जिज्ञासा की गई है । वस्तुत पुरुष को समस्त चराचर जगत् का

---

1 अग्रवाल, डॉ वासुदेवशरण – वैदिक लेक्चर्स, पृष्ठ 179

2 शर्मा, डॉ मुशीराम – वेदार्थ–चन्द्रिका, पृष्ठ 50

3 शुक्लयजुर्वेदसंहिता – 31 7 पर उव्वट भाष्य

4 ऋग्वेद 10 90 10 पर सायण, महीधर एव उव्वट भाष्य

5 The animal with teeth on both sides is Purush.
अग्रवाल, डॉ वासुदेवशरण – वैदिक लेक्चर्स, पृष्ठ 179

6 वही, पृष्ठ 179

कारण माना गया है । पशुओ की सृष्टि के पश्चात् मानवीय सृष्टि अपेक्षित है । यह मानवीय सृष्टि पुरुष के ही विभिन्न अड् गो से हुई है । बारहवे मन्त्र मे यह बताया गया है कि उस पुरुष का मुख ब्राह्मण हुआ, दोनो भुजाओं को क्षत्रिय बनाया गया, जाँघो को वैश्य बनाया गया तथा उसके पैरो से शूद्र की उत्पत्ति हुई । इस प्रकार यहाँ चारो वर्णो की उत्पत्ति उस पुरुष के ही विभिन्न अड् गो से बताई गई है । ऋग्वेद मे सर्वप्रथम हमे यही चार वर्णो का उल्लेख प्राप्त होता है । समाज की सुदृढ व्यवस्था के लिए चारो वर्णो का होना आवश्यक है । ब्राह्मण आध्यात्मिक शक्ति का प्रतीक है । आधुनिक शब्दो मे इसे विधायिका कहा जा सकता है । राजन्य या क्षत्रिय शारीरिक शक्ति का प्रतीक है । इसे कार्यपालिका कहा जा सकता है । ब्राह्मण का सम्बन्ध मुख से होने से उसमे समस्त ज्ञानराशि तथा विचारणाशक्ति निहित है । अत कोई भी निर्णय वह भलीभाँति विचार करके ही देगा । क्षत्रिय का कार्य रक्षा करना है । इसके अतिरिक्त ब्राह्मण या मस्तिष्क द्वारा सुझाए गए कार्यो मे वह प्रवृत्त होता है । सामान्य रूप से भी कोई समस्या या सड् कट आने पर व्यक्ति सर्वप्रथम अपनी रक्षा हाथो से ही करता है । वैश्य का कार्य अन्य तीनो वर्णो का भरण–पोषण करना तथा शूद्र का कार्य सबकी सेवा करना है । इस प्रकार चारो वर्णो के परस्पर प्रेम एव सौहार्द्र से ही यह समाज भलीभाँति चल सकता है । वैदिक ऋषियो की यह चातुर्वर्ण्य–व्यवस्था, विच्छेद और भेद–भाव के लिए नही है, अपितु परस्पर प्रेम एव सहयोग की भावना बढाने के लिए है ।

डॉ॰ मुशीराम शर्मा ने इस विभाजन को पशुओं तक भी व्याप्त माना है । उनके अनुसार गो ब्राह्मण है, अश्व क्षत्रिय है, अजा वैश्य है तथा अवि शूद्र है । पक्षियों मे हस ब्राह्मण है, श्येन क्षत्रिय है, वया वैश्य है और काक शूद्र है ।[1] मन्त्र मे ब्राह्मणादि को पुरुष के विभिन्न अवयवो के रूप मे उपस्थित किया गया है । ये समस्त अवयव यज्ञकर्त्ता देवो के रूप मे ही है । इनका उद्देश्य यज्ञ को निरन्तर आगे बढ़ाते रहना है । वेद आध्यात्मिक ज्ञानयज्ञ करते है, तो ब्राह्मणादि वर्ण सामाजिक यज्ञ की साधना करते है । पशु–पक्षी भी इस यज्ञ मे सहायक है । एक मानव–शरीर ही यज्ञ का सुन्दर क्षेत्र है, जिसके सब अड् ग परस्पर एकता के सूत्र मे बँधे हुए यज्ञ का पुनीत सम्पादन करते है । एकत्व मे यज्ञ का सम्पादन नही हो सकता । इसके लिए बहुत्व या विभाग आवश्यक है । यज्ञ मे भी ऋत्विक्, होता, अध्वर्यु, उद्गाता, ब्रह्मा आदि का देव–विभाग तथा समिधा, आज्य,

---

1 शर्मा, डॉ मुशीराम – वेदार्थ–चन्द्रिका, पृष्ठ 55

हव्य आदि का सामग्री–विभाग है । यह सृष्टि यज्ञ है । इसमे पुरुष की ही आहुति दी गई है । देव यज्ञकर्त्ता है, जो उस पुरुष के ही अड्.ग है । विभाजन के सभी अड्.ग एक–दूसरे के पूरक है। उनके सम्मिलित कार्य की परिणति ही यज्ञ है । डॉ शर्मा ने ब्राह्मणादि मे प्रत्येक के विभक्त कार्य से चेतना का विकास होना भी स्वीकार किया है । उनके अनुसार इस सामाजिक यज्ञ से शूद्रत्व वैश्यत्व मे, वैश्यत्व क्षत्रियत्व मे, क्षत्रियत्व ब्राह्मणत्व मे और ब्राह्मणत्व सर्वहुत यज्ञ पुरुष मे विकसित हो रहा है ।[1]

तैत्तिरीय ब्राह्मण मे वेदो को ब्राह्मणादि वर्णों से सम्बद्ध किया गया है । उसके अनुसार वैश्य की उत्पत्ति ऋग्वेद से हुई है, यजुर्वेद क्षत्रिय का उत्पत्तिस्थान है, ब्राह्मणो की प्रसूति सामवेद है तथा शूद्रो की उत्पत्ति अथर्ववेद से है ।[2]

(18) **ब्रह्माण्डीय अवयवो की उत्पत्ति** – पुरुषसूक्त के तेरहवे तथा चौदहवे मन्त्रो मे विभिन्न ब्रह्माण्डीय अवयवो की उत्पत्ति बताई गई है । पुरुष के मन से चन्द्रमा उत्पन्न हुआ, नेत्रो से सूर्य, मुख से इन्द्र और अग्नि तथा प्राण से वायु उत्पन्न हुआ । उसकी नाभि से अन्तरिक्ष उत्पन्न हुआ, सिर से द्युलोक हुआ । उसके पैरो से भूमि और कानो से दिशाएँ बनी । मन से चन्द्रमा की उत्पत्ति बताने का तात्पर्य यह है कि चन्द्रमा ओषधियो का स्वामी है और मन का भी ओषधियो से प्रगाढ सम्बन्ध है । सूर्य ज्योति-स्वरूप है अत ज्योति-प्रदायिनी आँखो से उसकी उत्पत्ति सड्.गत है । मुख मे ही वाणी प्रतिष्ठित है तथा वाणी अग्नि के तैजस अशो से निर्मित होती है । इसी प्रकार इन्द्र तथा अग्नि परस्पर सम्बद्ध है । इसीलिए मुख से इन्द्र तथा अग्नि दोनो की ही उत्पत्ति बताई गई है । प्राण भी एक प्रकार का वायु है । इस पर पूरा जीवन आश्रित है । अत प्राणतत्त्व से वायु की उत्पत्ति बताई गई है । नाभि जिस प्रकार शरीर का केन्द्र या मध्यभाग है, उसी प्रकार

---

1 शर्मा, डॉ मुशीराम – वेदार्थ–चन्द्रिका, पृष्ठ 57

2 "ऋग्भ्यो जातं वैश्य वर्णमाहु यजुर्वेद क्षत्रियस्याहुर्योनिम्
सामवेदो ब्राह्मणाना प्रसूति पूर्व पूर्वेभ्यो वच एतदूचु ।
तैत्तिरीय ब्राह्मण 3 12 9

अन्तरिक्ष भी ब्रह्माण्ड का मध्यभाग है । इसीलिए पुरुष की नाभि से अन्तरिक्ष की उत्पत्ति बताई गई है । शिर शरीर मे सबसे ऊपर स्थित है । वह प्रकाश स्वरूप भी है । इसी प्रकार द्यौ भी ब्रह्माण्ड का ऊर्ध्वस्थ प्रकाशमय स्थान है । इसीलिए इसकी उत्पत्ति शिर से हुई है । भूमि ब्रह्माण्ड से नीचे की ओर स्थित है, इसीलिए उसकी उत्पत्ति पैरो से बताई गई है । शब्द दिशाओ मे व्याप्त रहते है। वे कानों के विष है । अत दिशाओ की उत्पत्ति कानो से निरूपित की गई है ।

मन्त्र मे आए हुए "तथा लोकानकल्पयन्" के द्वारा लोको की सृष्टि का निर्देश किया गया है । उसी मन्त्र मे क्रमश अन्तरिक्ष, द्युलोक और पृथिवी – इन तीन लोको की सृष्टि बताई गई है । इस प्रकार पूरी ब्रह्माण्डीय सृष्टि को उपपन्न किया गया है । सारे ब्रह्माण्डीय अवयव भी यज्ञ करने मे सन्नद्ध है । इनका कोई व्यक्तिगत स्वार्थ नही है, ये सभी समष्टिगत ब्रह्माण्ड के लिए कर्मरत है। इनमे से अपने लिए कोई कुछ नही चाहता, पुनरपि सबका अस्तित्व यज्ञ द्वारा ही सुरक्षित है । आध्यात्मिक तथा भौतिक दोनो यज्ञ निर्बाध गति से चल रहे है ।

{19} **सप्त परिधियाँ** – यज्ञ के सम्पादन मे परिधियो की आवश्यकता होती है ।इनकी सङ्ख्या पन्द्रहवे मन्त्र मे सात बताई गई है । ये सात परिधियाँ कौन सी है ? इस विषय मे आचार्यो ने अपने–अपने मत प्रस्तुत किये है । यज्ञ–मण्डप मे आहवनीय अग्नि के तीन ओर रखी जाने वाली हरी लकडी को परिधि कहते है । इनकी लम्बाई बाहु के बराबर होती है । इनका निर्माण पलाश, विककत या कर्ष्मरि वृक्ष के काष्ठ से होता है । आहवनीय अग्नि ऐष्टिक एव याज्ञिक भेद से दो प्रकार का होता है । दक्षिण, पश्चिम एव उत्तर की ओर परिधि लगा दी जाती है, किन्तु पूर्व की ओर परिधि के रूप मे आदित्य की ही भावना की जाती है । तैत्तिरीय संहिता मे कहा गया है कि पूर्व की ओर लकड़ियाँ नही रखनीं चाहिए, वहाँ आदित्य स्थित होकर विघ्नकारक राक्षसो को नष्ट करता है ।[1] शतपथब्राह्मण मे भी ऐसा ही विधान किया गया है ।[4] इस प्रकार ऐष्टिक और

---

1 न पुरस्तात् परिदधात्यादित्यो ह्येवोद्यन् पुरस्ताद् रक्षास्यपहन्ति ।
तैत्तिरीयसंहिता – 2.6.6 3.

2 गुप्त्यै वा अभित परिधयो भवन्त्यथैतत् सूर्यमेव पुरस्ताद् गोप्तार करोति ।
शतपथब्राह्मण – 1 3.4 8

औत्तरवेदिक परधियो का योग करने पर इनकी सख्या छ तथा एक आदित्य को जोडकर सात हो जाती है । आचार्य सायण एव महीधर ने गायत्री, उष्णिक्, अनुष्टुप्, बृहती, पङ्क्ति, त्रिष्टुप् और जगती इन सात छन्दो को ही सात परिधियो के रूप मे स्वीकार किया है ।[1] उव्वट ने सात परिधियो के रूप मे सात समुद्रो – क्षीरोद, लवणोद, इक्षुरसोद, सुरोद, दधिमण्डोद, स्वादूक तथा घृतोद को माना है । उन्होने गायत्री आदि सात छन्दो का भी उल्लेख करते हुए आत्मयज्ञपरक अर्थ मे पृथिवी, अप्, तेज, वायु, आकाश, इन पञ्चमहाभूतो तथा मनस् और बुद्धि को मिलाकर सात परिधियो की कल्पना की है।[2] डॉ अग्रवाल ने मन, प्राण (लाइफ) तथा पॉच महाभूतो को सप्त परिधियो के रूप मे माना है ।[3] डॉ शर्मा के अनुसार भू से लेकर सत्य तक (भू , भुव , स्व , मह , जन , तप और सत्यम्) जो सात लोक या धाम है, वे ही यज्ञ की सात परिधियॉं है ।[4] स्वामी दयानन्द सरस्वती ने सात परिधियो को सात आवरण कहा है, जिनमे समुद्र, त्रसरेणु, मेघमण्डल, वृष्टिजल, उसके ऊपर का वायु, धनञ्जय नामक सूक्ष्म वायु तथा सर्वत्र व्याप्त सूत्रात्मा की गणना की गई है ।[5]

बृहदारण्यकोपनिषद् मे सात अन्नों का उल्लेख किया गया है । एक अन्न साधारण है, दो अन्न देवो के, तीन आत्मा के और एक पशुओ के लिए है ।[6] साधारण अन्न वह है जो खाया जाता है । हुत और प्रहुत देवों के अन्न है । ये दोनो दर्श एव पूर्णमास यज्ञ की विशिष्ट आहुतियॉं है । मन, वाणी और प्राण आत्मा के अन्न है । दूध पशुओ का अन्न है । मनुष्य तथा पशु दोनो ही प्रारम्भ मे दूध पर ही आश्रित रहते है । यज्ञ मे अन्नो का विशेष महत्त्व होता है । सात परिधियो को इन सात प्रकार के अन्नो के रूप मे भी समझा जा सकता है । स्वर मूलत तीन है – उदात्त, अनुदात्त एव स्वरित । ये तीन स्वर ही मिश्रण से षड्ज, ऋषभ, गान्धार, मध्यम, पञ्चम, धैवत और

---

1 ऋग्वेद 10 90 15 पर सायण एव महीधर के भाष्य

2 शुक्लयजुर्वेदसहिता 31 15 पर उव्वट भाष्य

3 अग्रवाल, डॉ वासुदेवशरण – वैदिक लेक्चर्स, पृष्ठ 183

4 शर्मा, डॉ मुशीराम – वेदार्थ–चन्द्रिका, पृष्ठ 67

5 सरस्वती, स्वामी दयानन्द – ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, सृष्टिविद्याविषय

6 बृहदारण्यकोपनिषद् – 1 5

निषाद के रूप मे सात बन जाते है । यज्ञ मे देवो के आह्वान तथा आहुति इत्यादि प्रदान करने हेतु मन्त्रो, स्तुतियो को गाया जाता है । अत सात परिधियो के रूप मे इन सात स्वरो को भी माना जा सकता है ।

ऐतरेय ब्राह्मण मे दिशाओ को परिधि माना गया है ।[1] तैत्तिरीय ब्राह्मण मे लोको को भी परिधि माना गया है ।[2] वैदिक साहित्य मे सात सख्या का अनेक स्थलो पर प्रयोग किया गया है। सप्तधाम[3], सप्तमर्यादाएँ[4], अग्नि की सात रश्मियाँ[5], सात नदियाँ[6], सात विप्र[7], अग्नि के सात धाम[8], सूर्य की सात रश्मियाँ[9] इत्यादि वैदिक साहित्य मे प्रसिद्ध है ।

(20) **इक्कीस समिधाएँ** – यज्ञ मे समिधाओ का होना परमावश्यक है । इन्हे सामिधेनी ऋचाओ के द्वारा अग्नि मे छोडकर उसे प्रज्वलित किया जाता है । सूक्त के पन्द्रहवे मन्त्र मे इनकी सख्या इक्कीस बताई गई है । सायण और महीधर क्रमश तैत्तिरीयसंहिता[10] तथा शतपथ-ब्राह्मण[11] के आधार पर बारह मास, पाँच ऋतु (हेमन्त तथा शिशिर को एक मानते हुए) तीन लोक एव एक आदित्य को मिलाकर इक्कीस समिधाओ के प्रतीक के रूप मे ग्रहण करते है ।[12] इस यज्ञ

---

1 "दिशा परिधय ।" ऐतरेय ब्राह्मण, 5.28

2 इमे वै लोका परिधय । तैत्तिरीय ब्राह्मण – 3 8 814

3 ऋग्वेद 1 22 16

4 ऋग्वेद 10 5 6

5 ऋग्वेद 2 5.2.

6 ऋग्वेद 2.12 3, 12, 3 1.4

7 ऋग्वेद 3.7 7 , 8 31.5 , 4 2 15

8 ऋग्वेद 4 7 5

9 ऋग्वेद 4 13 3, 16 3

10 द्वादशमासा पञ्चर्तव इमे लोका असावादित्य एकविश । तैत्तिरीय संहिता 5 1 10 3

11 द्वादशमासा. पञ्चर्तव इमे लोका असावादित्य । शतपथब्राह्मण – 7 1 1.34

12 ऋग्वेद 10 90.15 पर सायण तथा महीधर के भाष्य

मे इक्कीस समिधाओ के स्थान पर उक्त इक्कीस तत्त्वो की भावना की गई ।महीधर के विचार से एक अन्य प्रकार से भी इन समिधाओ की गणना की जा सकती है । इन इक्कीस समिधाओ के प्रतीक के रूप मे गायत्री, उष्णिक्, अनुष्टुप्, बृहती, पङ्क्ति, त्रिष्टुप् और जगती ये सात छन्द, अतिजगती, शक्वरी, अतिशक्वरी, अष्टि, अत्यष्टि, धृति एव अतिधृति – ये सात छन्द तथा कृति, प्रकृति, आकृति, विकृति, सकृति, अतिकृति और उत्कृति ये सात छन्द, इस प्रकार इन इक्कीस छन्दो को माना जा सकता है।[1] उव्वट के मतानुसार पृथिवी, अप्, तेज, वायु और आकाश – ये पञ्चमहाभूत, गन्ध, रस, रूप, स्पर्श और शब्द – ये पञ्चतन्मात्राएँ, नासिका, जिह्वा, चक्षु, त्वक्, श्रोत्र – ये पाँच बुद्धीन्द्रियाँ, पायु, उपस्थ, पाणि, पाद और वाक् – ये पाँच कर्मेन्द्रियाँ तथा मन कुल मिलाकर ये इक्कीस तत्त्व ही आत्मयज्ञ मे समिधा के रूप मे प्रयुक्त होते है ।[2] डॉ शर्मा ने महत्तत्त्व से लेकर पञ्चतन्मात्राओ तक की सात प्रकृति–विकृतियो के सत्त्व, रजस् तथा तमस् इन तीन–तीन भेदो से इक्कीस भेद करके उन्हे समिधाओ के रूप मे आकल्पित किया है ।[3] डॉ अग्रवाल ने "त्रि सप्त" मे आए "त्रि" एव "सप्त" को क्रमश त्रिविध पुरुष तथा सप्तविध सुपर्णचिति का प्रतीक माना है ।[4] वैदिक ऋषियो ने अनेक स्थलो पर "त्रि सप्त" का प्रयोग किया है । उन्होने आदित्य के त्रि सप्त पद माने है ।[5] गिरि के भी त्रि सप्त सानुओ को स्वीकार किया है ।[6] नदियो की सख्या भी त्रि सप्त मानी गई है ।[7]

(21) पुरुष–पशु :– आदिपुरुष और यज्ञ दोनो एक ही है । सभी देवताओ ने मिलकर ब्रह्माण्डीय यज्ञ सम्पन्न किया । इस यज्ञ मे उन्होंने दिव्य पुरुष को ही हविष्य बनाया । पुरुष को ही पशु के रूप मे कल्पित किया । जो पुरुष दिव्य और अलौकिक था, वही भूत के रूप

---

1 ऋग्वेद 10 90 15 पर महीधर भाष्य

2 शुक्लयजुर्वेदसंहिता – 31 15 पर उव्वटभाष्य.

3 शर्मा, डॉ मुशीराम – वेदार्थ–चन्द्रिका, पृष्ठ 67

4 अग्रवाल, डॉ वासुदेवशरण – वैदिक लेक्चर्स, पृष्ठ 182

5 ऋग्वेद 8 69 7

6 ऋग्वेद 8 96 2

7 ऋग्वेद 10 64.8

मे सामने उपस्थित हो गया । अमर्त्य, मर्त्य के रूप मे प्रकट हुआ । यही पुरुष–पशु है, जिसे देवताओ ने यज्ञ सम्पन्न करते समय यूप मे बाँधा । डॉ शर्मा ने देवत्व की सुरक्षा के लिए पशुत्व को बाँधना आवश्यक बताया है ।[1] उन्होने पशु को बाँधने का एक अन्य तात्पर्य भी स्पष्ट किया है । पशु दर्शन है, ज्ञान है । यज्ञ मे ज्ञान आबद्ध किया जाता है, उसका प्रयोग किया जाता है, क्योकि यज्ञ मे कर्मकाण्ड की प्रमुखता है । यज्ञ प्रयोगात्मक ज्ञान है । ज्ञान को आहुत करने का अर्थ है – उसे यज्ञ–कर्म मे परिणत करना, आचार के साँचे मे ढालना, समाजोपयोगी रूप देना । जब तक ज्ञान बाँधा नही जाएगा और आचरण का रूप नही धारण करेगा, तब तक उसका प्रयोजन व्यक्ति एव समाज के लिए कुछ नही है । यज्ञकर्म–रहित ज्ञान कोरी जल्प है । ज्ञान की शोभा तदनुकूल आचरण करने मे ही निहित है ।[2] आचार्य उव्वट ने "अबघ्नन्" का अर्थ "अगृह्णन्" करते हुए यह बताया है कि योगियो ने समाधि नामक यज्ञ का विस्तार करते हुए पुरुषमेघ के पशु के रूप मे ज्ञान को ग्रहण किया ।[3] इस प्रकार उन्होने पुरुष को ज्ञानस्वरूप माना है ।

(22) प्रथम धर्म – सूक्त की अन्तिम ऋचा मे यज्ञ के द्वारा यज्ञ को सम्पन्न करने की क्रिया को प्राथमिक धर्म कहा गया है । यह यज्ञ उन्नत स्थिति है । इसका सम्बन्धदेवयुग के साथ है । धन रखने वाले धन से, ज्ञानी ज्ञान से यज्ञ कर सकते है । जिस व्यक्ति के पास कुछ भी न हो, वह कैसे यज्ञ कर सकता है, उसे अपने से स्वय से ही स्वय का यज्ञ करना होगा । आत्मा तो यज्ञरूप है ही । उसे आत्मा के द्वारा ही आत्मयज्ञ सम्पन्न करना होगा । ऐसा यज्ञ करना दुष्कर है । यह देवो द्वारा ही शक्य है । ऋषि इस यज्ञ को प्रथम धर्म इसीलिए कहता है कि यज्ञ अभी देवो तक ही सीमित था । ऋषियो का क्रम देवो के बाद आता है ।

(23) नाकलोक :– नाक का शाब्दिक अर्थ – "दु खरहित" होता है । वेदो मे नाकलोक की अवधारणा प्राप्त होती है । यह लोक सूर्य के नीचे है, किन्तु स्व से ऊपर है । देव सर्वप्रथम इसी लोक मे अधिरोहण करते है, जहाँ पहले से ही मुक्तात्मा विद्यमान है । नाकलोक से

---

1 शर्मा, डॉ. मुंशीराम – वेदार्थ–चन्द्रिका, पृष्ठ 67.

2. वही, पृष्ठ 68.

3. शुक्लयजुर्वेदसंहिता – 31 15 पर उव्वट भाष्य

धीरे–धीरे वे द्युलोक तक पहुँच जाते है । सूक्त के अन्तिम मन्त्र से एक ध्वनि यह भी निकल रही है कि पूर्वकल्प मे जिन जीवो ने साधना द्वारा देवत्व प्राप्त किया था, वे नवीन कल्प मे दिव्य सृष्टि मे उत्पन्न होकर यज्ञ करते रहे और उसके पश्चात् नाक लोक के अधिकारी बने । साध्य देव वहाँ पहले से ही विद्यमान थे और मोक्ष के आनन्द का उपभोग कर रहे थे । इस प्रकार अन्तिम मन्त्र मे यज्ञ का फल बताया गया है ।

डॉ. अग्रवाल ने "नाक" की तात्त्विक व्याख्या की है । उनके अनुसार नाक, एक को दूसरे से पृथक् करने वाले चैतन्य का मध्यबिन्दु है ।[1] पृथिवी से लेकर द्यौ तक तीन लोक है – पृथ्वी, अन्तरिक्ष एव द्यौ । ये तीनो लोक क्रमश अग्नि, वायु और आदित्य, इन तीन देवताओ की महिमा के रूप मे है । "नाक" ऊपर तथा नीचे की विभाजक रेखा के मध्य मे स्थित है । ऊपर उसका सम्बन्ध दिव्य शक्तियो से है, साथ ही वह भौतिक सृष्टि से भी सम्बद्ध रहता है । उसका स्थान सूर्य के नीचे है । साध्यदेव उस बिन्दु पर निवास करते है, जो अलौकिक को लौकिक या भौतिक सृष्टि से पृथक् करता है । उव्वट ने नाक को सनकादि का स्थान माना है ।[2]

इस प्रकार पुरुषसूक्त मे एक पुरुष का अस्तित्व प्रतिपादित करके उसी से सम्पूर्ण सृष्टि का उद्भव बताया गया है । पुरुष को इस सृष्टि का सर्वेसर्वा माना गया है ।अकेला पुरुष ही यह सम्पूर्ण विश्व है, जो प्राचीनकाल से उत्पन्न हुआ तथा जो आगे भविष्य मे भी उत्पन्न होने वाला है। यह सर्वेश्वरवाद का सिद्धान्त पाश्चात्त्य विद्वानो की दृष्टि मे आर्यो. के प्रौढ धार्मिक विकास का सूचक है तथा ऋग्वेदीय युग की अन्तिम प्रौढ दार्शनिक विचारधारा का परिचायक है । सृष्टिके उत्पादन मे यज्ञ की कल्पना कितनी जागरूक तथा क्रियाशील होती है, इसका परिचय हमे इसी सूक्त मे प्राप्त होता है । देवताओ ने इस पुरुष की बलि यज्ञ मे की और उससे जगत् के नाना प्राणियो की उत्पत्ति हुई । इसी सूक्त मे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र की उत्पत्ति पुरुष के विभिन्न अड्.गो से बताई गई है । ऋग्वेद के अन्य किसी भी मन्त्र मे इन चारो वर्णों के नाम नही आए है । इससे यह ज्ञात होता है कि समाज मे चातुर्वर्ण्य की व्यवस्था अवान्तर युग मे ही हुई ।

---

1. अग्रवाल, डॉ. वासुदेवशरण – वैदिक लेक्चर्स, पृष्ठ 185
2 शुक्लयजुर्वेदसंहिता – 31.16 उव्वट भाष्य.

पुरुष सूक्त मे तीन प्रकार के पुरुषो का उल्लेख प्राप्त होता है – आदिपुरुष, विराट् पुरुष तथा उससे उत्पन्न देहाभिमानी जीवात्म पुरुष । सम्भवत पुरुष सूक्त के आधार पर ही साख्य दर्शन मे पुरुष का बहुत्व प्रतिपादित किया गया है । डॉ फतहसिह के मन्तव्यानुसार पुरुषसूक्त मे वर्णित पहला पुरुष शुद्ध अथवा निष्क्रिय है । विराज् प्रकृति–पुरुष है और विराज् से उत्पन्न होने वाला पुरुष प्रकृति से आवृत पुरुष है, जिसका यज्ञ मे बलिदान हो जाने पर सारे विश्व की सृष्टि होती है ।[1]

कारणता के सिद्धान्त के अनुसार इस सृष्टि की व्याख्या दो प्रकार से की जा सकती है – परिणामवाद तथा विवर्तवाद । परिणामवाद के अनुसार कारण से कार्य की उत्पत्ति यथार्थत होती है । विवर्तवाद मे यह अयथार्थ या भ्रम स्वरूप होती है । पुरुषसूक्त मे पूरी सृष्टिप्रक्रिया को पुरुष के अङ्गो द्वारा ही उपपन्न किया गया है । अत यह सूक्त दार्शनिक दृष्टि से परिणामवाद का पक्षधर प्रतीत होता है । यह वैदिक एकेश्वरवाद (Monotheism) का सर्वोच्च प्रतिपादक है । वैदिक आर्यों की सामाजिक तथा आध्यात्मिक धारणाओ का परिचायक होने के कारण यह सूक्त नितान्त महत्त्वपूर्ण है ।

---

1 डॉ सिह, फतह – वैदिक दर्शन, पृष्ठ 206

अध्याय – 6

प्रजापति (हिरण्यगर्भ) का स्वरूप एवं हिरण्यगर्भ सूक्त (ऋग्वेद 10.121)

(क) प्रजापति या हिरण्यगर्भ का स्वरूप

(ख) हिरण्यगर्भ सूक्त

(ग) सूक्त मे विद्यमान विभिन्न पदो की समीक्षा

(1) हिरण्यगर्भ
(2) समवर्तत
(3) कस्मै
(4) आत्मदा
(5) बलदा
(6) अमृत–मृत्यु
(7) प्राणत
(8) निमिषत
(9) द्विपद चतुष्पद
(10) यस्येमे हिमवन्तो महित्वा
(11) प्रदिश
(12) येन द्यौ उग्रा पृथिवी च दृळ्हा
(13) स्व और नाक
(14) रजसो विमान
(15) क्रन्दसी
(16) अवसा
(17) तस्तभाने
(18) रेजमाने
(19) मनसा
(20) बृहती आप
(21) गर्भ दधाना
(22) अग्नि जनयन्ती
(23) तत.
(24) एक असु
(25) दक्षम्
(26) यज्ञ जनयन्ती
(27) सत्यधर्मा
(28) चन्द्रा आप
(29) परि बभूव
(30) रयीणा पतय

[क] प्रजापति या हिरण्यगर्भ का स्वरूप :-

ऋग्वेद के समस्त देवता सर्वशक्तिमान् वर्णित किये गए है । अनेक मे एक के दर्शन करना विकसित मानवबुद्धि का स्वभाव है । ऋग्वेद के अनेक देवो के प्रति अपने हृदय के भक्तिपूर्ण उद्‌गारो को व्यक्त करते हुए तथा उन सबके लिए यज्ञो का आयोजन करते हुए वैदिक ऋषियो की दृष्टि उन सबके मूल अथवा आदिकर्त्ता की ओर जानी स्वाभाविक थी, जिसे वे ससार के अकेले जनक के रूप मे स्वीकार कर सके और इन्द्र, वरुण आदि देवो मे से प्रत्येक को स्रष्टा के रूप मे जानने की विषमता से मुक्त हो सके । यही वह समय था, जब लोगो ने शतक्रतु इन्द्र के अस्तित्व के प्रति भी सन्देह करना प्रारम्भ कर दिया था।[1] इन्द्र के अतिरिक्त अन्य देवताओ के प्रति भी सन्देह की भावना हमे दृष्टिगत होती है।[2] अत ऋग्वेद के परवर्त्ती सूक्तो मे हमे कुछ ऋषि समस्त देवताओ के मूल कारण की खोज मे तत्पर दिखाई देते है। कही-कही अनेक देवो का सम्बन्ध श्रेष्ठ देवता से भी स्थापित किया गया है। एक सूक्त[3] मे सत्य को ही निखिल विश्व का आधार माना गया है। यद्यपि "ऋत" और "सत्य" मे भेद है, तथापि वहाँ उस "ऋत" के अर्थ मे ही "सत्य" प्रयुक्त है, जिसके बिना कुछ भी सम्भव नही है। इसी पृष्ठभूमि मे वैदिक ऋषि शनै शनै विभिन्न देवताओ की आराधना से सर्वोत्तम देवता की तरफ प्रवृत्त हुए। ऋग्वेद के मन्त्रो मे यह विचार भी व्यक्त किया गया कि सभी देवताओं मे एक ही दिव्य शक्ति है। सबका सामर्थ्य एक ही है और एक को ही विद्वान् लोग अग्नि, यम, वरुण आदि नामो से पुकारते है ।[4] उससे भी आगे एक अन्य भावना हमे दिखाई देती है, जिसके अनुसार एक ही व्यापक शक्ति मे समस्त विश्व अधिष्ठित है ।[5] एक देव की पर्येष्टि मे सलग्न ऋषियो ने "प्रजापति" अथवा "हिरण्यगर्भ" नामक अमूर्त्त देवता को ढूँढ निकाला। "प्रजापति" का शाब्दिक अर्थ - प्रजाओ का स्वामी होता है । सृष्टिकर्त्ता देव के रूप मे प्रजा का अर्थ सम्पूर्ण सृष्टि तथा पति का अर्थ स्रष्टा होगा। इस प्रकार "प्रजापति" मे सृष्टि तथा स्रष्टा दोनो ही अन्तर्भूत है । ब्रह्माण्ड मे दो प्रकार के तत्त्व है - देवतत्त्व तथा भूततत्त्व । इनमे देवतत्त्व अमरणधर्मा तथा भूत मरणधर्मा है । प्रजापति दोनो तत्त्वो

---

1 ऋग्वेद 2 12

2 ऋग्वेद 5 33-34, 6 18 3-4 इत्यादि.

3 ऋग्वेद 10.37

4 ऋग्वेद 1 164 46

5 ऋग्वेद 10 82 6

को अपने अन्दर समाहित किये हुए है । "प्रजापति" को 'विश्वकर्मा' के नाम से भी अभिहित किया जाता है । वस्तुत· प्रजापति भी एक यज्ञकर्ता ही है, जिसने जगत् की सृष्टि के लिए स्वयं का हवन कर दिया । यह सृष्टिस्रष्टा के मन मे आए हुए विचार का ही परिणाम है ।

"प्रजापति" को एक स्थान पर ऋषि, होता तथा पिता के रूप मे चित्रित किया गया है।[1] ये तीनो रूप क्रमश "मनस् तत्त्व", "प्राणतत्त्व" और "भूततत्त्व" को द्योतित करते है । "प्रजापति" मे ये तीनो तत्त्व निहित है । उसे "उपाशु" और "तूष्णीम्" भी कहा जाता है । "तूष्णीम्" का अर्थ मौन होता है । मौन असीम है, उसी से अखिल सृष्टि उद्भूत है । प्रजापति की सारी अव्यक्त शक्तियाँ "उपाशु" या "तूष्णीम्" मे निहित है । शतपथ ब्राह्मण ने उपाशु को प्रजापति का रूप कहा है ।[2] उसी मे प्रजापति को "आत्मन्" भी कहा गया है । आत्मा के समान ही प्रजापति मनस्तत्त्व, प्राणतत्त्व और वाक्तत्त्व से युक्त है ।[3] "वाक्" को पञ्चभूतो का प्रतीक माना जाता है । वस्तुत सूक्ष्म से स्थूल की ओर जाना ही सृष्टि है । सूक्ष्म भावो का उत्तरोत्तर विकास स्थूल रूपो मे होता है । इस प्रकार सृष्टिप्रक्रिया मे सर्वप्रथम "महत्तत्त्व" या "बुद्धि" का आविर्भाव होता है । इसके पश्चात् "अहङ्कार" उत्पन्न होता है । यह व्यष्टिरूप है । इसके अनन्तर "पञ्चतन्मात्रों" तथा "पञ्चमहाभूतों" की उत्पत्ति होती है । पञ्चभूतो मे सबसे सूक्ष्म और प्राथमिक "आकाश" है । आकाश का तन्मात्र "शब्द" है । "शब्द" ही "वाक्तत्त्व" है । अत "शब्द"या "वाक्तत्त्व" को ही पञ्चभूतो के प्रतीक के रूप मे स्वीकार किया जाता है । इसीलिए पूर्वोद्धृत ब्राह्मण वचन मे "वाक्" का अर्थ भूततत्त्व करना इष्ट है । शतपथब्राह्मण मे ही एक स्थल पर प्रजनन-क्रिया को प्रजापति कहा गया है ।[4] अन्यत्र "वाक्" को प्रजापति के रूप मे माना गया है ।[5] प्रजापति को "मन" के रूप

---

1 ऋग्वेद 10.81.1

2 स यदुपाशु तत्प्राजापत्य रूपम् । शतपथब्राह्मण 1 6 3 27

3 एतन्मयो वा अयमात्मा मनोमयो वाङ्मय प्राणमय । वही, 14 4 3 10.

4 प्रजनन प्रजापति । शतपथब्राह्मण 5 1 3 10.

5 वही, 5 1 5 6 तथा तैत्तिरीय ब्राह्मण 1.3.4 5

मे भी माना गया है ।[1] वस्तुत प्रजापति पञ्चमहाभूतो के रूप मे ही इस सृष्टि मे व्यक्त होता है । "ताण्ड्य ब्राह्मण" मे कहा गया है कि प्रारम्भ मे प्रजापति ने अपना अस्तित्व ग्रहण किया । इसके बाद वह वाक् के साथ सयुक्त होकर उसमे गर्भाधान किया ।[2] इस प्रकार यह सृष्टि पञ्चभूतो के सूक्ष्मतम रूप – वाक् के गर्भ मे प्रजापति द्वारा आहित बीज का परिणाम है । वस्तुत बिना पुरुष और स्त्री का सयोग हुए सृष्टि–प्रक्रिया सम्भव ही नही है । वैदिक अवधारणा के अनुसार पिता, माता तथा जायमान पुत्र – ये तीनो प्रजापति के ही विभिन्न रूप है ।[3] डॉ अग्रवाल ने वैदिक साहित्य के अनुशीलन के आधार पर प्रजापति के अनेक नामो की परिगणना की है । उनमे कुछ प्रमुख नाम निम्नलिखित है – हिरण्यगर्भ, एक, तूष्णीम्, परोक्ष, ऊर्ध्व, नभ्य, स्थाणु, गुहा, उक्थ, अग्र, अमृत, तत्, हृदय, केन्द्र, योनि, गर्भ, अव्यक्त[4] इत्यादि । "शतपथब्राह्मण" के अनुसार प्रजापति के दो रूप है – "अनिरुक्त" और 'निरुक्त" अथवा "अपरिमित" और "परिमित" ।[5] "अनिरुक्त प्रजापति" शब्दातीत है और 'निरुक्त" शब्दब्रह्मस्वरूप । विश्व प्रजापति का परिमित रूप है और उसका "विश्वातीत रूप" अपरिमित या असीम है । जिसको मापा जा सके, उसे "परिमित" कहते है तथा जिसकी कोई मात्रा न हो अथवा जिसे मापा न जा सके उसे अपरिमित कहते है । "यजुर्वेद" के एक मन्त्र मे कहा गया है – प्रजापति गर्भ के भीतर विचरण करता है । वह उत्पन्न न होता हुआ भी विविध रूपो मे उत्पन्न होता है । धीर चारो तरफ उसके उत्पत्ति स्थान को देखते है । उसमे सम्पूर्ण भुवन अवस्थित है।[6] उक्त मन्त्र के अनुसार प्रजापति के दो रूप है – प्रथम रूप अजायमान अर्थात् अज या अजन्मा है । इसे ही गर्भप्रजापति के नाम से जाना जाता है । दूसरा रूप वह है, जो अव्यक्त या गर्भ से ही

---

1 प्रजापतिर्वा हि मन । शतपथब्राह्मण 4 1 1 22.

2 प्रजापतिरिदमासीत्तस्य वाग् द्वितीयासीत् मिथुनं समभवत् सा गर्भमाधत्त ।
ताण्ड्य ब्राह्मण 20 14 2

3 माता पिता च प्रजापति । शतपथब्राह्मण 5 1 5 26

4 अग्रवाल, डॉ वासुदेवशरण – वैदिक लेक्चर्स, पृष्ठ 125

5 उभयम्वेतत्प्रजापतिर्निरुक्तानिरुक्तश्च परिमितश्चापरिमितश्च । शतपथब्राह्मण 6 5 3.7

6 प्रजापतिश्चरति गर्भे अन्तरजायमानो बहुधा विजायते ।
तस्य योनिं परिपश्यन्ति धीरास्तस्मिन् तस्थुर्भुवनानि विश्वा । शुक्लयजुर्वेद – 31 19.

उत्पन्न होता है तथा जिसे बहुधा या विजायमान कहते है । इसी की सञ्ज्ञा "पुरुरूप" या विश्वभुवन होती है । यह विश्वभुवन जिस अव्यक्त मूलस्रोत मे अन्तर्निहित रहता है, वही योनि प्रजापति है ।

प्रजापति को हृदय भी कहा गया है ।[1] हृदय से मन की प्रतिष्ठा होती है । मन के रूप मे ही सबसे पहले विश्व तथा व्यक्ति दोनो का आविर्भाव होता है । ऋग्वेद मे एक स्थल पर विश्वकर्मा के रूप मे प्रजापति की स्तुति की गई है तथा उसे सम्बोधित करते हुए यह कहा गया है – जिसने हम सबको जन्म दिया है, उसे तुम नही जानते हो । यद्यपि वह हम सबके भीतर स्थित है, तथापि उसका कोई और ही रूप दिखाई देता है उसके विषय मे जितनी चर्चा है, वह सब तुषाराच्छादित है । जो मन्त्रो का गान करने वाले है, वे भी केवल गाते रहने से तृप्ति का अनुभव नही करते ।[2]

डॉ अग्रवाल ने पुराणो के आधारपर प्रजापति की पाँच धारणाओ को स्पष्ट किया है – स्वयम्भू प्रजापति, परमेष्ठी प्रजापति, हिरण्यगर्भ प्रजापति, ब्रह्मा प्रजापति और कश्यप प्रजापति ।[3] इनमे से स्वयम्भू प्रजापति सम्पूर्ण सृष्टि का दिव्य स्रोत है । उसे क, ऊर्ध्व, अज, अव्यक्त आदि नामो से जाना जाता है । यह सबका पिता है, जिसमे सृष्टि का बीज निहित है । उसे अपनी सिद्धि के लिए अन्य प्रमाण नही चाहिए । इसीलिए मनुस्मृति मे उसे "स्वयमुद्भौ" कहा गया है ।[4] इसका तात्पर्य यही है कि स्वय अपनी इच्छा या अपने निमित्त से और अपने ही आभ्यन्तर मे लीन उपादान से उस प्रजापति ने स्वय अपना आविर्भाव इस विश्व के रूप मे किया है । परमेष्ठी प्रजापति मातृतत्त्व है । इसे महत् तत्त्व भी कहा जा सकता है । इसकी सृष्टि स्वयम्भू प्रजापति ने अपने स्त्रीभाव के रूप मे की । इसी के गर्भ मे वह जगत् का बीज आहित करता है । इस प्रकार एक ही प्रजापति पिता और माता इन दो रूपो को धारण करता है । इनसे उत्पन्न होने वाला पुत्र सूर्य है, जिसे हिरण्यगर्भ प्रजापति कहा जाता है । अथर्ववेद मे भी कहा गया है कि अदिति–पुत्र आदित्य सूर्य ही हिरण्यगर्भ

----

1 एष प्रजापतिर्यद् हृदयम् । शपतथब्राह्मण 4 5 4 1

2 ऋग्वेद 10 82.7.

3. अग्रवाल, डॉ वासुदेवशरण – वैदिक लेक्चर्स, पृष्ठ 141.

4 मनुस्मृति 1 7

है । उसे रोहित भी कहा जाता है ।[1] यह सूर्य पहले समुद्र मे छिपा था, जिसे विश्वरचना के तक्षपात्मक धक्को ने ऊपर उछाला है । समस्त सृष्टि मे यह सबसे अधिक सुन्दर, विचित्र और परिपूर्ण कृति है, जो सूर्य के रूप मे द्युलोक मे प्रत्यक्ष है । कितने ही नामो से उस एक देव का वर्णन किया जाता है । जैसे – रुद्र, महादेव, अर्यमा, वरुण, अग्नि, सूर्य, महायम आदि ।[2] इन्द्र के रूप मे भी वही सूर्य द्युलोक मे विद्यमान है ।[3] पाश्चात्त्य विद्वान् मैकडानेल का भी विचार यही है कि "हिरण्यगर्भ" की कल्पना उदय होते हुए सूर्य के आधार पर की गई है ।[4] सूर्य अग्नि का ही रूप है । अतएव अग्नि को "अपानपात्" भी कहा जाता है । द्यावापृथिवी के मध्य चन्द्रमा की स्थिति है । यह चन्द्र अन्तरिक्ष का प्रतीक है । इसे ही ब्रह्मप्रजापति कहा जाता है । पृथिवी को कश्यपप्रजापति के नाम से जाना जाता है । इस प्रकार प्रजापति उक्त पॉच रूपो मे अवस्थित है ।

जहॉ तक "प्रजापति" के "हिरण्यगर्भ" रूप का प्रश्न है, वह सूर्य का ही विकसित रूप प्रतीत होता है । वेदो मे "हिरण्यगर्भ" महत्त्वपूर्ण प्रतीक के रूप मे प्रयुक्त हुआ है । प्राण की सञ्ज्ञा "हिरण्य" है । समस्त विश्व का जो एक बीज या रेत है, जिसकी शक्ति से यह विश्व आविर्भूत होता है, उसे "भुवनस्य रेत " कहा गया है ।[5] उसी की सञ्ज्ञा हिरण्य है । तैत्तिरीय ब्राह्मण मे उसी "रेत" और "शुक्र" को हिरण्य कहा गया है ।[6] इस दृष्टि से ब्राह्मण ग्रन्थो मे हिरण्य की अनेक परिभाषाएँ मिलती है तथा सभी सङ्गत है । आयु, अमृत, देव, प्राण, तेज, ज्योति तथा सत्य ये सभी हिरण्य के ही पर्याय है । इसके अतिरिक्त ये सारे तत्त्व सृष्टि के अनुकूल है । इनके प्रतिकूल तम, असुर, अनृत, मृत्यु आदि जो तत्त्व है, वे सृष्टि–विरोधी है । जो हिरण्यगर्भ है, वही सूर्य या अग्नि है । उसे अपानपात् या अपागर्भ भी कहते है । प्रलयकाल मे जो अवशिष्ट जल या समुद्र के भीतर जो प्राणतत्त्व छिपा रहता है, वही सृष्टि के समय बालक के रूप मे जन्म लेता है

---

1 अथर्ववेद 13 1 1.

2 वही 13 4 4–5

3 स इन्द्रो भूत्वा तपति मध्यतो दिवम् । वही 13 3 13

4 मैकडानेल – ए हिस्ट्री ऑफ सस्कृत लिटरेचर, पृष्ठ 135

5 ऋग्वेद 1 164 36

6 रेतो हिरण्यम् । तैत्तिरीय ब्राह्मण 3 8 2 4 तथा-शुक्र हिरण्यम् । वही 1 7 6 3

और उसी का रूप अग्नि और सूर्य है । द्युलोक मे जो सूर्य है, वह भौतिक पदार्थों का समुदाय तो है, किन्तु ऋषियो ने उसे उस महती शक्ति का प्रतीक माना है, वही विज्ञानघन शक्ति ब्रह्म है । यजुर्वेद के ऋषि ने प्रश्न किया है कि सूर्य के समान दूसरा ज्योति कौन सा है ? उसी ने स्वय उत्तर भी दिया है कि ब्रह्म सूर्य के समान दूसरा ज्योति है ।[1] इसका अर्थ यह है कि हम जिस विभ्राट् ज्योति के सूर्य के रूप मे नित्य दर्शन करते है, वह उस महान् विज्ञानमय या चैतन्यमय शक्ति का प्रतीक है, जो समस्त विश्व का मूल कारण है और जिसके ज्ञानमय तप से यह सृष्टि उत्पन्न हुई है, वही ब्रह्म है । इसी दृष्टि से सूर्य को चराचर का आत्मा कहा गया है ।[2] प्रश्नोपनिषद् मे उसी उदीयमान सूर्य को प्रजाओ का प्राण कहा गया है ।[3] मनुस्मृति के अनुसार सृष्टि की इच्छा करने वाले स्वयम्भू ने ध्यान कर अपने शरीर से पहले जल की सृष्टि की और बीज डाला । वह बीज सूर्य के समान प्रकाश वाला स्वर्णिम अण्डा हो गया । उसमे से सम्पूर्ण लोक के पितामह ब्रह्मा उत्पन्न हुए । उस अण्डे मे सवत्सरपर्यन्त निवास कर भगवान् ने अपने ध्यान से स्वय ही उस अण्डे के दो टुकड़े कर दिये । उन दोनो टुकडो से उन्होने द्युलोक एव पृथिवीलोक का निर्माण किया ।[4] इन उद्धरणो से यह प्रतीत होता है कि सूर्य ही विकासक्रम मे प्रजापति या हिरण्यगर्भ बन गया । हिरण्यगर्भ की उत्पत्ति के सम्बन्ध मे शतपथब्राह्मण मे भी कहा गया है कि पहले सर्वत्र जल ही था । उन जलो ने सोचा कि कैसे प्रजनन किया जाए । इस प्रकार विचार करके उन्होने तपस्या करना प्रारम्भ किया । तपस्या करती हुई जलराशि मे सुनहला अण्डा उत्पन्न हुआ । उत्पन्न होकर वह अण्डा सवत्सरपर्यन्त स्थित रहा । पुनश्च उससे सम्पूर्ण सृष्टि हुई ।[5]

---

1 शुक्लयजुर्वेद 23 47 तथा 23 48.

2 सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च । ऋग्वेद 1 115 1

3 प्राण प्रजानामुदयत्येष सूर्य । प्रश्नोपनिषद् 1 8

4 मनुस्मृति 1.8 9 12.13

5 आपो ह वा इदमग्रे सलिलमेवास । ता अकामयन्त कथ नु प्रजायेमहीति ता अश्राम्यँस्ता–स्तपोऽतप्यन्त तासु तपस्तप्यमानासु हिरण्मयमाण्डं सम्बभूवा, जातो ह तर्हि सवत्सर आस। शतपथब्राह्मण 11 1.6 1

"प्रजापति" या "हिरण्यगर्भ" को ऋग्वेद के एक सूक्त मे "क" नाम से अभिहित किया गया है ।[1] तैत्तिरीय ब्राह्मण" मे एक कथा आई है कि प्रजापति ने देवो के पीछे इन्द्र को बनाया और कहा – जाओ तुम इन देवो के अधिपति बनो । देवो ने कहा – तुम हो कौन ? हम तुमसे बडे है । इन्द्र प्रजापति के पास आया और बोला – देव कहते है तुम हो कौन ? हम तुमसे बडे है । प्रजापति के पास वह तेज था, जो आदित्य मे है । इन्द्र ने कहा – अपना वह तेज मुझे दे दो तो मै देवो का अधिपति बन सकूँगा । प्रजापति ने कहा – इसे दे दूँ तो फिर मै क्या रहूँगा ? इन्द्र ने कहा – तुम "क " रहोगे । अतएव प्रजापति या हिरण्यगर्भ की सञ्ज्ञा "क" है ।[2] ऐतरेय ब्राह्मण मे भी इसी कथा का अनुवर्तन किया गया है ।[3]

(ख) हिरण्यगर्भ सूक्त –

ऋग्वेद के दशम मण्डल का एक सौ इक्कीसवा सूक्त प्रजापति या हिरण्यगर्भ सूक्त के नाम से जाना जाता है । इसके ऋषि प्रजापति–पुत्र हिरण्यगर्भ तथा देवता "क" शब्दाभिधेय प्रजापति है । सम्पूर्ण सूक्त मे दश ऋचाएँ है, जो त्रिष्टुप् छन्द मे उपनिबद्ध है ।[4] ऋग्वेद के देवमण्डलो मे सर्वोच्च देवता की सर्वोत्तम शब्दो मे स्तुति करने वाला यह सूक्त वैदिक साहित्य मे अनुपम है । इसकी महत्ता इस कारण भी है कि इसमे वैदिक कालीन भारतीय ऋषियो द्वारा कल्पित देवो मे सबसे आश्चर्यजनक देवता "क" को प्रतिष्ठित किया गया है । वालिस के मन्तव्यानुसार हिरण्यगर्भ से सुवर्णबीज एव कनकप्रभ प्रकाश की योनि से सूर्य का ज्ञापन होता है । इस सूक्त मे सूर्य को ब्रह्माण्ड की उदात्त एव महती शक्ति मे उपन्यस्त किया गया है । सूर्य से ही समस्त देव एव मानुष-रूप का उद्भव होता है ।[5] यह सूक्त "कस्मै" सर्वनाम पद द्वारा निरन्तर सर्वोच्च देवता के अन्वेषण मे तत्पर है।

---

1 ऋग्वेद 10 121

2 तैत्तिरीय ब्राह्मण 2 2 10 1–2

3 ऐतरेय ब्राह्मण 3 21

4 उक्त सूक्त के मन्त्र तथा उनके हिन्दी-अनुवाद परिशिष्ट "क" मे दिये गए है ।

5 वालिस – कास्मोलॉजी ऑफ द ऋग्वेद, पृष्ठ 50
(ग्रिफिथ – हिम्स ऑफ द अथर्ववेद मे उद्धृत)

अन्तिम ऋचा मे प्रजापति को परमदेवता के रूप मे अधिष्ठित कर जिज्ञासा का अवसान किया गया है । यह प्रजापति सृष्टि के प्रथम प्रभात मे उत्पन्न हुआ और यही आकाश, जल एव जीवन्त प्राणियो का स्रष्टा है । यह शरीर तथा बल को प्रदान करने वाला है, इसके अनुशासन मे समस्त देव तथा प्राणी रहते है । अमृत तथा मृत्यु इसी की छाया है । गतिशील तथा श्वास लेने वाले प्राणियो का प्रजापति अकेला राजा है । इसी ने द्युलोक तथा पृथिवीलोक को धारण कर रखा है और दृढ गनाया है । देवताओ मे एकमात्र देव प्रजापति है । सम्पूर्ण चराचर इसी महान् देवता मे अनुविद्ध है ।

(ग) सूक्त मे विद्यमान विभिन्न पदो की समीक्षा –

सूक्त की महनीयता का अवबोध प्राप्त करने के लिए इसके अन्तर्गत आए विभिन्न शब्दो का अध्ययन करना आवश्यक है । इन शब्दो का अध्ययन निम्नवत् प्रस्तुत किया जा सकता है।

(1) **हिरण्यगर्भः** – प्रस्तुत सूक्त का यह प्रथम पद है । आचार्य सायण ने इसके तीन अर्थ प्रकट किए है । पहला अर्थ "सुवर्णमय अण्डे का गर्भ बना हुआ प्रजापति" किया है । दूसरा अर्थ – "जिसके उदर मे स्वर्णमय अण्डा गर्भ के समान स्थित है, वह सूत्रात्मा हिरण्यगर्भ कहा जाता है", किया है ।[1] उन्होने तीसरा अर्थ – "ब्रह्माण्डरूप हिरण्य मे गर्भ के रूप मे स्थित प्रजापति", किया है ।[2] उव्वट ने इसका अर्थ – "हिरण्यगर्भ नाम वाला पुरुष" किया है ।[3] महीधर के अनुसार इसका अर्थ – "हिरण्य पुरुष के रूप मे विद्यमान ब्रह्माण्ड मे गर्भ के रूप मे अवस्थित प्रजापति" है ।[4] इस प्रकार भारतीय विद्वानो ने हिरण्यगर्भ को प्रजापति ही माना है । पीटर्सन ने "हिरण्यगर्भ" का अर्थ – "स्वर्णिम बीज" किया है ।[5] वस्तुत "हिरण्यगर्भ" का सूर्य के साथ निकट का सम्बन्ध है । वह सुवर्णमय देवता है । सूर्य के लिए हिरण्याक्ष, हिरण्यपाणि, हिरण्यजिह्व,

---

1 ऋग्वेद 10 121 1 पर सायण-भाष्य

2 तैत्तिरीय संहिता 4 1 8 3

3 शुक्लयजुर्वेदसंहिता 13 4, 23 1, 25 10 पर उव्वट-भाष्य

4 वही – महीधर भाष्य.

5 पीटर्सन – हिम्स फ्राम द ऋग्वेद, पृष्ठ 331

हिरण्यकेश, हिरण्यहस्त आदि विशेषण प्रयुक्त होते रहे है ।[1] यहाँ तक कि सूर्य के वस्त्रो को भी सुनहरा बताया गया है ।[2] उसे सुनहरे रथपर विचरण करने वाला भी कहा गया है ।[3] सूर्य के अनेक रूप है – सविता, विष्णु, भग, पूषा, वरुण, मित्र, अर्यमा, दक्ष, अश इत्यादि ।[4] सूर्य के इन सभी रूपो तथा विशेषणो पर विचार करने से यह पता चलता है कि सूर्य ही कालान्तर मे हिरण्यगर्भ के रूप मे विकसित हो गया । इस प्रकार के विकास का मुख्य कारण यह है कि वैदिक ऋषि अब किसी भी मूर्त्त देवता को सर्वोच्च स्थान पर प्रतिष्ठित करने के पक्ष मे नही थे । उनकी जिज्ञासा का अवसान किसी अमूर्त्त देवता की कल्पना मे ही सम्भव था । इसीलिए उन्होने मूर्त्त देवता सूर्य के वर्णादि के आधार पर 'हिरण्यगर्भ' की कल्पना की ।

(2) **समवर्तत** :– यह पद सम् उपसर्गपूर्वक /वृत् धातु के लङ् लकार, आत्मनेपद प्रथम पुरुष एकवचन का रूप है । आचार्य सायण ने इसका अर्थ "उत्पन्न हुआ" किया है । उन्होने हिरण्यगर्भ को माया के अध्यक्ष सृष्टि की कामना वाले परमात्मा से उत्पन्न होना स्वीकार किया है।[5] उव्वट ने इसका अर्थ –'प्रथम शरीरधारी हुआ[6]' तथा महीधर ने –'स्वय शरीरधारी हुआ[7]' किया है । पीटर्सन के अनुसार इसका अर्थ 'सत्ता मे आया या उत्पन्न हुआ' है ।[8] मैकडानेल ने "वृत्" धातु का अर्थ – आन्दोलित होना, दोलायित होना, लुढकना इत्यादि किया है ।[9] वस्तुत सृष्टि की प्रारम्भिक

---

1 ऋग्वेद 1 35 8,9,10 इत्यादि

2 वही – 4 53 2

3 वही – 1 35

4 वही – 2.27 1

5 प्रपञ्चोत्पत्ते प्राक् मायाध्यक्षात् सिसृक्षो परमात्मन समजायत ।
ऋग्वेद 10 121 1 पर सायण भाष्य

6 शुक्लयजुर्वेदसहिता 13 4, 23 1, 25 10 पर उव्वट भाष्य

7 वही, महीधर भाष्य

8 पीटर्सन – हिम्स फ्राम द ऋग्वेद, पृष्ठ 331

9 मैकडानेल – वैदिक रीडर फॉर स्टूडेन्ट्स, हिरण्यगर्भसूक्त पर टिप्पणी

अवस्था मे हिरण्यमय अण्डा जल मे इधर–उधर तैर रहा था । उसकी उत्पत्ति किसी ने भी नही देखी। अत "समवर्तत" का अर्थ यदि "व्यवस्थित रूप से था" किया जाय, तो अधिक सङ्गत होगा ।

3) कस्मै (क) कस्मै – आचार्य सायण ने इसके अनेक अर्थ बताए है ।

(अ) किम् शब्द का प्रयोग अनिर्ज्ञात स्वरूप होने से प्रजापति के लिए किया गया है ।[1]

(ब) सृष्टि के लिए कामना करने वाला "क" है । इस अर्थ के निष्पादन के लिए सायण ने इसे इच्छार्थक कम् धातु से ड प्रत्यय के योग से निष्पन्न माना है ।[2]

(स) "क" सुख को कहते है, अत सुखस्वरूप होने से प्रजापति "क" है ।[3]

(द) सायण ने चतुर्थ अर्थ का निष्पादन ऐतरेय ब्राह्मण (3 21) की उस कथा को उद्धृत करते हुए किया है, जिसमे प्रजापति को "क" अभिधान इन्द्र ने दिया । इस प्रकार "क" प्रजापति का नाम है । किम् शब्द सर्वनाम है, अत चतुर्थी एकवचन मे "स्मै" भाव सिद्ध है । यदि इसे यौगिक माना जाय, तो "स्मै" व्यत्यय से मानना पडेगा ।[4]

उव्वट ने "कस्मै" का अर्थ "काय" किया है तथा "स्मै" को छान्दस आदेश मानते हुए विभक्तिव्यत्यय स्वीकार किया है ।[5] महीधर ने भी इसे विभक्तिव्यत्यय ही माना है ।[6] "क" को प्रजापति का एक नाम मानने की परम्परा ब्राह्मणग्रन्थो से लेकर परवर्ती धार्मिक साहित्य तक अविच्छिन्न रूप से पाई जाती है । इस दृष्टि से शतपथब्राह्मण[7], कौशीतकि ब्राह्मण[8], तैत्तिरीय संहिता[9] इत्यादि विशेष रूप से द्रष्टव्य है । प्राय सभी पाश्चात्त्य विद्वानो ने किम् को प्रश्नवाचक

---

1 किशब्दोऽनिर्ज्ञातस्वरूपत्वात् प्रजापतौ वर्तते । ऋग्वेद 10 121 1, सायण भाष्य

2 सृष्ट्यर्थं कामयते इति क । कमेर्ड प्रत्यय । वही, सायण भाष्य

3 कं सुखम् । तद्रूपत्वात् क इत्युच्यते । वही, सायण भाष्य

4 वही, सायण भाष्य

5 तस्मै कस्मै काय इति प्राप्ते "स्मै" आदेशश्छान्दस । शुक्लयजुर्वेदसंहिता 13 4 पर उव्वटभाष्य

6 वही, महीधर भाष्य

7 क वै प्रजापति । कमेवैष प्रजाभ्य· कुरुते । शतपथब्राह्मण 2 5 2 11.

8 कौशीतकि ब्राह्मण 6 2 2·5,12, 6 4 3·4 इत्यादि

9 तैत्तिरीय संहिता 1 7·6

सर्वनाम के रूप मे स्वीकार किया है ।[1] श्रोदर का मत है कि ऋषि अदम्य लालसा एव उत्कट अनुसन्धित्सा से उस ईश्वर का अन्वेषण करता है, जो जगत् एव सृष्टि के प्रथम मूल तत्त्व के प्रारम्भ मे विद्यमान रहकर सम्पूर्ण जीवन को आकारायित करता है, एव सम्पूर्ण प्रकृति मे अपने आप को अभिव्यक्त करता है । ऋषि देवता को उसकी प्रव्यञ्जना मे कभी यहाँ, कभी वहाँ,कभी अन्यत्र बारम्बार देखता है तथा वह उसके सम्बन्ध मे सन्देह, अनुसन्धान करने की इच्छा और लालसा से सदैव जिज्ञासा करता है । वह कौन देवता है, जिसके लिए हम अपना हविष्य प्रदान करे ?[2] वस्तुत प्रस्तुत सूक्त का आविर्भाव उस समय हुआ, जब ऋषि घोर सम्प्रश्नवाद की स्थिति से गुजर रहे थे । उन्होने अनेक देवताओ के अस्तित्व के बारे मे उठे प्रश्नो का समाधान प्रस्तुत किया[3] तथा इसके पश्चात् किसी सर्वमान्य देवता को अपने हविष्य का विषय बनाने के लिए उसे ढूँढने लगे । ऐसी स्थिति मे उन्होने हिरण्यगर्भ या प्रजापति को प्राप्त किया तथा उसके विभिन्न चमत्कारात्मक कार्यों का उल्लेख करते हुए उसका नाम न लेकर 'किम्" सर्वनाम द्वारा प्रकारान्तर से उसे अभिहित किया । यदि ऋषि को "कस्मै" का अर्थ सीधे "प्रजापति के लिए" करना इष्ट होता, तो मन्त्रो मे कही न कही "एतादृशाय", "तस्मै" इत्यादि अर्थ वाले विशेषण का प्रयोग अवश्य किया होता । दूसरी बात यह है कि "कस्मै" को प्रश्नवाचक सर्वनाम मानने से अर्थ मे भी सौन्दर्य उत्पन्न हो रहा है । जैसे – किस देवता के लिए हवि प्रदान करे ? अर्थात् ऊपर जिसके गुणो का वर्णन किया गया है, उस देवता के लिए ही हविष्य प्रदान करे, ऐसा भाव सामने आएगा । इस प्रकार जिज्ञासा मे ही उसका समाधान भी सम्यक् निविष्ट प्रतीत होता है । अत "कस्मै" को प्रश्नवाचक सर्वनाम के रूप मे ही मानना उचित है तथा सम्यक् अर्थावबोध के लिए इसके पूर्व "तदतिरिक्ताय" जोडना अपेक्षित है ।

(4) **आत्मदा** :– सूक्त के द्वितीय मन्त्र मे स्थित इस पद के सायण ने दो अर्थ किए है ।

(अ) आत्माओ को प्रदान करने वाला, क्योकि समस्त आत्माओ की उत्पत्ति

---

1 द्रष्टव्य – ऋग्वेद 10 121.1 पर मैक्समूलर, मैकडानेल, लैनमन, पीटर्सन, मूर, ग्रिफिथ, विल्सन इत्यादि के अनुवाद एव टिप्पणियाँ

2 श्रोदर – इन्डियन लिटरेचर एन्ड कल्चर, पृष्ठ 80

3 ऋग्वेद 2 12.

परमात्मा से ही होती है । इस अर्थ मे उन्होने इसे "आत्मन्" पूर्वक दानार्थक "दा" धातु से 'विच्" प्रत्यय के योग से निष्पन्न माना है ।[1]

(ब) आत्माओ को शुद्ध बनाने वाला । यह अर्थ करने के लिए सायण ने इसकी निष्पत्ति आत्मन् +दैप् शोधने + विच् इस रूप मे की है ।[2]

उव्वट और महीधर ने इसका अर्थ "स्वय को देने वाला" करते हुए "उपासको को सायुज्य प्रदान करने वाला" यह फलितार्थ भी किया है ।[3]

प्राय सभी पाश्चात्त्य विद्वानो ने "आत्मा" का अर्थ प्राण या श्वास मानते हुए इसका अर्थ "श्वास प्रदान करने वाला" किया है ।[4] "आत्मा" शब्द मूलत आत्मा तथा शरीर दोनो ही अर्थों मे प्रयुक्त होता रहा है । वैदिक साहित्य मे उपनिषदो के पूर्व तक यह बहुश शरीर के अर्थ मे ही आता रहा है । शतपथब्राह्मण मे अध्यात्म शीर्षक से दिये गए समस्त व्याख्यान शारीरिक रूपक के अर्थ मे ही प्रयुक्त प्रतीत होते है ।[5] इसके अतिरिक्त इसी ब्राह्मण मे यह शब्द अनेक स्थलो पर साक्षात् रूप से शरीर के लिए ही आया है । सायण ने भी इन स्थलो पर इसे शरीर का ही वाचक माना है ।[6] इसके अतिरिक्त ऋग्वेद मे भी कुछ ऐसे मन्त्र आए है, जिनसे सिद्ध होता है कि सूर्य शारीरिक रोगो का नाशक है ।[7] सूर्य का हिरण्यगर्भ से सम्बन्ध सुविदित ही है । अत हिरण्यगर्भ

---

1 आत्मना दाता । आत्मनो हि सर्वे तस्मात् परमात्मन उत्पद्यन्ते ।
ऋग्वेद 10 121 2 पर सायण भाष्य

2 आत्मना शोधयिता । दैप् शोधने, आतो मनिन् (पा.3 2 74) इति विच् । वही.

3 आत्मान ददात्यात्मदा । उपासकाना सायुज्यप्रद ।
शुक्लयजुर्वेद सहिता 25.13 पर उव्वट एव महीधर के भाष्य

4 द्रष्टव्य – ऋग्वेद 10 121 2 पर मैक्समूलर, ग्रिफिथ, पीटर्सन, मूर, मैकडानेल इत्यादि के अनुवाद एव टिप्पणिया

5 शतपथब्राह्मण 6.6 1 19, 6 7 1 20, 10 5 2 7 इत्यादि.

6 वही – 6 6 3 15–16, 7 2 2.8, 14,20, 8 3.4 15, 9 1 2.98, 10 5 1 3 तथा इन पर सायण भाष्य

7 ऋग्वेद 1 50 11–13.

के लिए भी "शरीर का प्रदाता" या शोधक कहना उचित प्रतीत हो रहा है । यदि इसका अर्थ "आत्मा" माना जाय, तो अगले पद "बलदा" के साथ भी इसकी सङ्गति नही बैठ पाएगी, क्योंकि पहले शरीर होगा, तभी उसमे शक्ति की भावना की जा सकती है । यदि "आत्मदा" का अर्थ आत्मा को देने वाला तथा "बलदा" का अर्थ बल को देने वाला किया जाय, तो आत्मा तथा बल दोनो ही शरीर के बिना निष्क्रिय प्रतीत होगे । वैसे भी पूरे सूक्त के अगले मन्त्रो मे प्रतिपादित विभिन्न पदार्थों के परिप्रेक्ष्य मे पहले "शरीर" का निर्माण अथवा उसकी शोधकता या नैरुज्यता का प्रतिपादन करना इष्ट प्रतीत होता है । यदि "आत्मदा" की निष्पत्ति "दैप्" शोधने से माने तो भी उसका अर्थ शरीर ही करना पडेगा, क्योंकि शोधन क्रिया शरीर की ही सम्भव है । आत्मा तो नित्य, शुद्ध, बुद्ध, चैतन्य-स्वरूप है । इस दृष्टि से केवल चार्वाक दर्शन के साथ ही सङ्गति नही बैठ पाएगी, क्योंकि वहाँ शरीर को ही आत्मा माना गया है । इस प्रकार प्रस्तुत स्थल पर "आत्मा" का अर्थ शरीर को शुद्ध करने वाला मानना उचित प्रतीत होता है । यद्यपि ऋग्वेद मे अनेकत्र आत्मा शब्द का प्रयोग जीवात्मा के अर्थ मे ही हुआ है, किन्तु यहाँ "बलदा" की सङ्गति की अपेक्षा से इसे शरीरपरक माना गया है।

(5) **बलदा** – सायण ने इसका अर्थ बलप्रदाता या बल का शोधक किया है ।[1] उव्वट और महीधर ने सामर्थ्य प्रदान करने वाला किया है ।[2] प्राय पाश्चात्त्य विद्वानो ने इसे बल या शक्ति का प्रदाता माना है ।[3] यदि इसे शोधक के अर्थ मे माना जाय, तब भी कोई हानि नही है, क्योंकि बल का शोधन करने का तात्पर्य उसको सही दिशा मे लगाना है । सामान्यत बल होने पर उसका दुरुपयोग करना स्वभाव-सिद्ध है । इसीलिए हिरण्यगर्भ को बल का प्रदाता अथवा शोधक कहा गया है, जिससे कोई उसका दुरुपयोग न कर पाए ।

(6) **अमृत–मृत्यु** – सूक्त के द्वितीय मन्त्र के ही तृतीय चरण मे कहा गया है –

---

1 बलस्य दाता शोधयिता वा । ऋग्वेद 10 121 2 सायण भाष्य

2 बल सामर्थ्य ददाति बलदा । भुक्तिमुक्तिप्रद इत्यर्थ ।
शुक्लयजुर्वेदसहिता – 25.13 पर उव्वट एव महीधर के भाष्य

3 ऋग्वेद 10 121 2 पर मैक्समूलर, ग्रिफिथ, पीटर्सन तथा मूर के अनुवाद

जिसकी छाया अमृत है, जिसकी छाया मृत्यु है । सायण ने इसके दो अर्थ किये है – प्रथम अमृतत्व तथा दूसरा अमृत या सुधा ।[1] उव्वट और महीधर ने इस मन्त्राश का अर्थ – जिसका आश्रय अमृतरूप मुक्ति का हेतु है तथा जिसकी अकृपा आवागमन रूप मृत्यु है, किया है ।[2] इस अश से यही प्रतीत होता है कि अमरत्व तथा मृत्यु दोनो हिरण्यगर्भ के ही अधीन है । जिस प्रकार मनुष्य या किसी की भी छाया उसके अधीन ही होती है, उसी प्रकार अमृत तथा मृत्यु दोनो ही प्रजापति की छाया होने के कारण उसके वशवर्ती है । अत वह जिन्हे चाहे, अमर बना सकता है और जिसे जब चाहे मृत्यु भी प्रदान कर सकता है । इस दृष्टि से उव्वट और महीधर की व्याख्याएँ भी महत्त्वपूर्ण हैं । पाश्चात्त्य विद्वानो के व्याख्यान भी उक्त तथ्य का विरोध नही प्रकट करते है ।

(7) **प्राणत** – सायण ने तीसरे मन्त्र मे आए शब्द "प्राणत का अर्थ "श्वास लेते हुए" (जगत्) का किया है ।[3] उव्वट ने – श्वास लेते हुए भूतग्राम अर्थात् प्राणिसमुदाय का, ऐसा अर्थ किया है ।[4] महीधर ने इसका अर्थ "जीवधारी" किया है ।[5] पाश्चात्त्यो ने इसे श्वास लेने के अर्थ मे ही माना है ।[6] वस्तुत इस मन्त्र मे प्रजापति द्वारा समस्त चेतन प्राणियो पर शासन करने की बात कही गई है, इसीलिए पहले "प्राणत " पद का प्रयोग करके चेतनो के प्रथम धर्म श्वासन की ओर सङ्केत किया गया है ।

(8) **निमिषत** – सायण ने इसका अर्थ पक्ष्मचालन करने वाले किया है ।[7] महीधर ने पलक झपाने को उपलक्षण माना है । उनके अनुसार इसका अर्थ – नेत्र इत्यादि इन्द्रियो के व्यापार

---

1 अमृतममृतत्वम् । यद्वा मृत मरण नास्त्यस्मिन्निति, अमृत सुधा । ऋग्वेद 10 121.2 पर सायण-भाष्य

2. यस्यच्छायाश्रयो ज्ञानपूर्वमुपासनममृत मुक्तिहेतु । यस्य । अज्ञानमिति शेष । मृत्यु ससार-हेतु । शुक्लयजुर्वेदसंहिता – 25 13 पर उव्वट–महीधर-भाष्य

3 प्राणत श्वसत । ऋग्वेद 10 121 3 पर सायण-भाष्य

4 प्राणत प्राणन कुर्वत भूतग्रामस्य । शुक्लयजुर्वेदसंहिता 23 3, 25 11 पर उव्वट-भाष्य

5 प्राणन जीवन कुर्वत । वही, महीधर-भाष्य

6 मैक्समूलर, ग्रिफिथ, पीटर्सन इत्यादि के ऋग्वेद 10 121 3 पर अनुवाद.

7 अक्षिपक्ष्मचलनं कुर्वत । वही, सायण भाष्य

मे सन्नद्ध सचेतन जगत् का,[1] है । प्रकृत स्थल पर यह विचारणीय है कि सूर्य अमर तथा मरणधर्मा सबको अपने–अपने कार्यों मे लगाने वाला है ।[2] इसके अतिरिक्त उषा को समस्त प्राणियो के प्राण एवं जीवन का आश्रय कहा गया है ।[3] उषा का सूर्य से सम्बद्ध होना सुविदित ही है । सूर्योदय होने पर समस्त प्राणी अपने–अपने कार्यों मे लग जाते है तथा सूर्यास्त होने पर सभी पलक झपा लेते है या विश्राम करते है । यहाँ प्रजापति को श्वास लेने वाले तथा पलक झपाने वाले जगत् का स्वामी कहा गया है । इस मन्त्र द्वारा भी प्रजापति का सम्बन्ध सूर्य से स्पष्टत परिलक्षित होता है तथा यह सूर्य का ही प्रतिरूप प्रतीत होता है ।

‖9‖ **द्विपद· चतुष्पद** ·– इन दोनो पदो के अर्थ क्रमश दो पैरो वाले तथा चार पैरों वाले है । तात्पर्य यह है कि वह प्रजापति दो पैरो वाले मनुष्यादि तथा चार पैरो वाले गौ, अश्व इत्यादि से युक्त इस ससार का स्वामी है ।

‖10‖ **यस्येमे हिमवन्तो महित्वा** – चतुर्थ मन्त्र के इस प्रथम चरण के अर्थ को लेकर विद्वानो मे मतभेद है । सायण ने "हिमवन्त" का अर्थ हिमालय आदि सभी पर्वत किया है ।[4] तात्पर्य यह है कि उन्होने इसे प्रथमान्त पद माना है, जबकि उव्वट–महीधर ने इसे द्वितीयान्त मानकर "आहु" के साथ अन्वित किया है । उनके अनुसार इसका अर्थ होगा – विद्वान् लोग हिमालय आदि पर्वतो को जिसकी महिमा कहते है ।[5] पीटर्सन ने इसका अर्थ किया है – वे हिमयुक्त पर्वत उसके है ।[6] इसी प्रकार "महित्वा" का अर्थ भी सायण, महीधर और उव्वट तीनो भारतीय आचार्यों ने –

---

1 दृगादीन्द्रियव्यापार कुर्वत सचेतनस्य जगत । शुक्लयजुर्वेदसंहिता 23 3 पर महीधर भाष्य

2 ऋग्वेद 1 35 2·

3 वही – 1 48 10

4 हिमवन्तो हिमवदुपलक्षिता इमे दृष्यमाना सर्वे पर्वता यस्य प्रजापतेर्महित्वा महत्त्व माहात्म्य-मैश्वर्यमित्याहु । ऋग्वेद 10 121 4, सायण भाष्य

5 इमान् हिमवत्प्रभृत्यद्रीन् यस्य प्रजापतेर्महित्व महिमानमाहुर्बुधा ।
शुक्लयजुर्वेदसंहिता – 25·12 पर उव्वट एव महीधर भाष्य

6 His are those snowy hills.
पीटर्सन – हिम्स फ्राम द ऋग्वेद, प्रजापति सूक्त

"महत्त्व, महिमा या ऐश्वर्य को" किया है । इस प्रकार उन्होने इसे द्वितीया एक वचन का रूप माना है । मूर ने भी उनका अनुगमन करते हुए इसे द्वितीया विभक्ति एकवचन का ही रूप माना है ।[1] वस्तुत यहाँ महित्वा को तृतीया विभक्ति एकवचन का रूप मानना चाहिए, जैसे कि इसी सूक्त के पिछले मन्त्र मे माना गया है । मैक्समूलर ने भी सायण, महीधर तथा उव्वट एव मूर के द्वारा प्रतिपादित इस रूप का खण्डन करके इसे तृतीया विभक्ति के एकवचन का ही रूप माना है ।[2] इस प्रकार सभी पक्षो पर विचार करके इसका अन्वय – "यस्य महित्वा इमे हिमवन्त " करते हुए "जिसकी महिमा से ये हिमालय इत्यादि सभी पर्वत हैं", यह अर्थ करना उचित है । ऐसा अन्वय करना इसलिए भी आवश्यक है कि पिछले तथा आगामी मन्त्रो मे भी प्रजापति मे कर्तृत्व–भावना प्रतिपादित की गई है । यदि इसका अर्थ – जिसकी महिमा को हिमालय आदि पर्वत कहते हैं, ऐसा किया जाय, तो प्रजापति के कर्तृत्व मे व्याघात होगा ।

[11] **प्रदिश** – इसका अर्थ सायण ने आग्नेय आदि कोण किया है ।[3] उव्वट और महीधर ने – पूर्व आदि दिशाएँ किया है ।[4] ग्रिफिथ ने इसे स्वर्गीय क्षेत्र[5] तथा पीटर्सन ने आकाशीय क्षेत्र[6] का द्योतक माना है । सायण का अनुगामी होते हुए भी विल्सन ने इसे पूर्व आदि चार दिशाएँ ही माना है ।[7] वस्तुत दिशाओ के कोणो को "विदिश" कहा जाता है । सायण ने सम्भवत "प्रदिश"

---

1 Whose greatness these snowy mountains......declare.
मूर – ओरिजिनल सस्कृत टेक्स्ट, भाग 4, पृष्ठ 16

2 मैक्समूलर – वैदिक हिम्स, भाग 1, पृष्ठ 8

3 प्राच्यारम्भा आग्नेयाद्या कोणदिश ईशितव्या । ऋग्वेद 10 121 4 सायण भाष्य.

4 पूर्वाद्या प्रकृष्टा आशा । शुक्लयजुर्वेदसंहिता 25 12 पर उव्वट एव महीधर भाष्य

5 ग्रिफिथ – हिम्स आफ द ऋग्वेद, पृष्ठ 628

6 His are the regions of the sky.
पीटर्सन – हिम्स फ्राम द ऋग्वेद

7 Whose are these quarters of space.
विल्सन – ऋग्वेद संहिता, भाग 6, पृष्ठ 417

का अर्थ 'विदिश' के रूप मे किया है । अत यहाँ "प्रदिश " का अर्थ – पूर्व आदि चार दिशाए करना ही उचित है ।

॥12॥ **येन द्यौ उग्रा पृथिवी च दृळ्हा** – सूक्त के पाँचवें मन्त्र के प्रस्तुत प्रथम पाद का अर्थ करते समय सायण ने उग्रा को द्यौ का तथा दृढा को पृथिवी का विधेय मानकर – जिसने द्युलोक को उद्गूर्ण तथा पृथिवी को दृढ किया, ऐसा अर्थ किया है ।[1] उव्वट और महीधर ने भी उग्रा को द्यौ का विशेषण ही माना है, किन्तु उन्होने इसका अर्थ "वृष्टिदायिनी किया", यह किया है ।[2] ग्रिफिथ ने "उग्रा" का अर्थ शक्तिशाली[3] तथा पीटर्सन ने महान् किया है । यद्यपि पीटर्सन ने इसे द्यौ का विशेषण माना है । डॉ.विश्वम्भर नाथ त्रिपाठी ने भी इसे द्यौ का विशेषण मानकर इसका अर्थ "भयानक" किया है ।[5] वे सम्भवत मैक्समूलर से प्रभावित प्रतीत होते हैं, जिन्होने उग्रा का अर्थ विचित्र या भयानक किया है ।[6] वस्तुत उग्रा को द्यौ का विधेय मानना ही उचित है । द्यौ ऊपर तथा पृथिवी उससे नीचे स्थित है । प्रजापति ने ही द्युलोक को उठाकर ऊपर कर दिया होगा । अत पूरे पाद का अर्थ – जिसके द्वारा द्युलोक ऊर्ध्व स्थित तथा पृथिवी दृढ कर दी गई, करना उचित होगा ।

॥13॥ **स्व और नाक** .– सायण ने स्व का अर्थ स्वर्ग, और "नाक" का अर्थ "आदित्य किया है ।[7] इसके विपरीत उव्वट और महीधर ने क्रमश इन दोनो पदो का अर्थ आदित्यमण्डल और स्वर्ग किया है ।[8] मैक्समूलर ने स्व का अर्थ पृथ्वी तथा नाक का अन्तरिक्ष किया है ।[9] सूर ने

---

1 येन द्यौ· उग्रा उद्गूर्णविशेषा गहनरूपा वा । ऋग्वेद 10·121 5, सायण भाष्य.

2 उद्गूर्णा वृष्टिदायिनी ॥वृष्टिदा॥ कृता । शु य स 32 6 पर उव्वट एव महीधर भाष्य

3 Strong. ग्रिफिथ – द हिम्स ऑफ द ऋग्वेद, पृष्ठ 628

4 He established the great sky.
पीटर्सन – हिम्स फ्राम द ऋग्वेद, प्रजापति सूक्त.

5 त्रिपाठी, डॉ विश्वम्भरनाथ – वेदचयनम्, पृष्ठ 165

6 Sky is fiery मैक्समूलर–वैदिक हिम्स, 1, ऋ.10 121 5 का अनुवाद

7 स्व स्वर्गश्च । नाक आदित्यश्च । ऋग्वेद 10·121 5 पर सायण भाष्य.

8 स्व आदित्यमण्डलम् । नाक स्वर्गो लोक ॥स्वर्गोऽपि॥ शु·य स 32·6 पर उव्वट एव महीधर के भाष्य

9 The earth and the firmament.
मैक्समूलर – वैदिक हिम्स, भाग 1

इनका अर्थ क्रमश आकाश और स्वर्ग किया है ।[1] पीटर्सन ने दोनो पदो को एक साथ मिलाकर इनका अर्थ "स्वर्ग का विशाल क्षेत्र" किया है ।[2] वस्तुत इन दोनो पदो का अलग-अलग अर्थ करना इष्ट है। स्व लोक स्वर्ग हैतथा नाक लोक आदित्य लोक से नीचे माना गया है, किन्तु वह स्व से ऊपर स्थित है । अत नाक को आदित्य मण्डल या आदित्यलोक कहना उचित नही है । यद्यपि जनसाधारण मे नाक का अर्थ स्वर्ग से लिया जाता है । इस प्रकार यहाँ दोनो पदो को पृथक् करते हुए "स्वर्ग" और "नाकलोक" अर्थ करना उचित है ।

{14} रजसो विमान :- **सायण**, उव्वट और महीधर ने इसका अर्थ - जलो का निर्माता किया है,[3] यद्यपि महीधर और उव्वट ने जल का तात्पर्य वृष्टि के जल से लिया है ।[4] विमान को वि उपसर्ग पूर्वक मा धातु से शानच् प्रत्यय के योग से निष्पन्न मानना उचित है । लगभग सभी पाश्चात्त्य विद्वानो ने "रजस" का अर्थ मध्य आकाश (Mid Air) तथा विमान का "नापने वाला" किया है ।[5] प्रकृत स्थल पर मा धातु का अर्थ 'निर्माण करना' उचित नही प्रतीत होता । लोको को नापना सूर्य या विष्णु का प्रमुख कर्म है ।[6] हिरण्यगर्भ या प्रजापति की अवधारणा ऋषियों ने सूर्य से ही ग्रहण की है, अत यहाँ प्रस्तुत पदो का अर्थ "लोको को नापने वाला", करना उचित है ।

{15} क्रन्दसी - सूक्त के छठे मन्त्र मे आए इस पद का अर्थ सायण, महीधर और उव्वट ने द्यावापृथिवी किया है ।[7] मैक्समूलर के अनुसार यहाँ "क्रन्दसी" के स्थान पर "रोदसी" पाठ

---

1 The firmament and the heaven.
मूर - ओरिजिनल सस्कृत टेक्स्ट, भाग 4, पृष्ठ 16-17

2 Firmament of heaven. पीटर्सन - हिम्स फ़ाम द ऋग्वेद

3 रजस उदकस्य विमानो निर्माता । ऋग्वेद 10 121.5 पर सायण-भाष्य.

4 उदकस्य वृष्टिलक्षणस्य । शुक्लयजुर्वेदसंहिता 32 6 पर उव्वट एव महीधर-भाष्य

5 द्रष्टव्य - 10.121 5 पर मैक्समूलर, ग्रिफिथ, पीटर्सन, मूर इत्यादि के अनुवाद

6 ऋग्वेद 1 154 1, 3 इत्यादि.

7 क्रन्दितवान् रोदितवाननयो प्रजापतिरिति क्रन्दसी द्यावापृथिव्यौ ।

होना चाहिए, किन्तु यह पाठ उचित नही प्रतीत होता, क्योकि उनका सुझाया गया अर्थ, – स्वर्ग, और पृथिवी[1] का "क्रन्दसी" के अर्थ से वैषम्य नही है और अन्य सबने "क्रन्दसी" पाठ को शुद्ध मानते हुए ही अर्थ किया है । ग्रिफिथ और मूर ने इसका अर्थ – दो युद्ध करती हुई सेनाए, किया है ।[2] निघण्टु में भी प्रस्तुत पद द्यावापृथिवी के अर्थ मे ही परिगणित है ।[3] इस प्रकार इसका अर्थ दो युद्ध करती सेनाए न होकर द्युलोक एव पृथिवीलोक है ।

[16] **अवसा** :– सायण ने "अवसा" का अर्थ – रक्षण के द्वारा, किया है[4], किन्तु उव्वट और महीधर ने इसका अर्थ – हवि के रूप मे अन्न द्वारा, किया है ।[5] मैक्समूलर ने इसका अर्थ, – इच्छा द्वारा[6] और ग्रिफिथ ने सहायता द्वारा[7] किया है । वस्तुत यह पद अव् रक्षणे धातु से बना है तथा यहाँ तृतीया विभक्ति एक वचन मे प्रयुक्त है । अत इसका अर्थ होगा – सहायता या रक्षा के द्वारा । उव्वट और महीधर का सुझाया गया अर्थ स्वीकार्य नही प्रतीत होता ।

[17] **तस्तभाने** – यह शब्द स्तम्भ् धातु से कानच् प्रत्यय के योग से बना है तथा स्त्रीलिङ्ग प्रथमा विभक्ति द्विवचन का रूप है । सायण ने इसका अर्थ – प्रजापति द्वारा निर्मित और स्थिर किए गए, किया है ।[8] उव्वट और महीधर ने इसका अर्थ – समस्त प्राणियो को स्तब्ध करती हुई, किया है ।[9] वस्तुत यहाँ इस पद का अर्थ – स्तब्ध किए गए या स्थिर बनाए गए, करना सङ्गत प्रतीत होता है ।

---

1 Heaven and earth. मैक्समूलर – वैदिक हिम्स, भाग 1.

2 Two armies embattled. ग्रिफिथ – द हिम्स ऑफ द ऋग्वेद, पृष्ठ 628
Two contending armies. मूर – ओरिजिनल सस्कृत टेक्स्ट, 4, पृष्ठ 17

3 निघण्टु – 3 30.4

4 अवसा रक्षणेन । ऋग्वेद 10 121 6 पर सायण भाष्य

5 हविर्लक्षणान्नेन । शुक्लयजुर्वेदसंहिता 32 7 पर उव्वट एव महीधर भाष्य.

6 By his will मैक्समूलर – वैदिक हिम्स, भाग 1

7 By his help. ग्रिफिथ – द हिम्स ऑफ द ऋग्वेद, पृष्ठ 628

8 प्रजापतिना सृष्टे लब्धस्थैर्ये सत्यौ । ऋग्वेद 10 121 6 पर सायण भाष्य.

9 सस्तम्भमाने सर्वप्राणिजातम् । शुक्लयजुर्वेदसंहिता 32 7 पर उव्वट एव महीधर भाष्य

[18] **रेजमाने** – यह पद भी क्रन्दसी का विशेषण है । सायण ने इसका अर्थ – सुशोभित या चमकते हुए, किया है ।[1] महीधर भी इसी अर्थ के समर्थक है,[2] किन्तु उव्वट ने इसका अर्थ – कॉंपते हुए, किया है ।[3] मैक्समूलर, ग्रिफिथ और मूर ने इसका अर्थ – कॉंपते हुए, ही किया है ।[4] ऋग्वेद मे ऐसे अनेक स्थल है जहॉं रेज् धातु कम्पन के अर्थ में प्रयुक्त है ।[5] अत प्रकृत स्थल पर भी इसका अर्थ – कॉंपते हुए, करना ही सङ्गत प्रतीत होता है ।

[19] **मनसा** .– सायण ने मनसा का अन्वय अभ्यैक्षेताम् के साथ करते हुए इसका अर्थ – बुद्धि से देखा,[6] किया है । ग्रिफिथ ने मनसा का अर्थ – आत्मा से तथा मैक्समूलर और मूर ने – मन से, किया है ।[7] वस्तुत जिस प्रकार तस्तभाने का अन्वय अवसा के साथ किया गया है, उसी प्रकार रेजमाने का मनसा के साथ करना उचित है । इस प्रकार पूरे संश्लिष्ट वाक्य का अर्थ होगा – सहायता के द्वारा स्थिर किए गए तथा मन से कॉंपते हुए द्युलोक एव पृथिवीलोक जिसकी ओर देखते है ।

[20] **बृहती आप** .– इसका अर्थ विशाल जलराशि है । सायण ने आप का अर्थ – जल[8] तथा महीधर और उव्वट ने "सलिल" के लिए इसे प्रयुक्त माना है ।[9] वस्तुत सृष्टि के आरम्भ मे विद्यमान यह वही जल राशि है, जिसे ऋग्वेद मे एक स्थल पर समुद्र कहा गया है ।[10] शतपथ ब्राह्मण मे भी इसे ही निर्दिष्ट किया गया है ।[11] नासदीय सूक्त मे इसे "अप्रकेत सलिल" का अभिधान दिया गया है ।[12] सुनहला अण्डा इसी जलराशि मे तैरता हुआ दृष्टिगत हुआ था । इसी अण्डे से सम्पूर्ण सृष्टि हुई ।

---

1 रेजमाने राजमाने दीप्यमाने । ऋग्वेद 10 121 6 पर सायण भाष्य
2 रेजमाने शोभमाने । शुक्लयजुर्वेदसंहिता 32 7 पर महीधर भाष्य.
3 रेजमाने कम्पमाने । वही, उव्वट भाष्य
4 ऋग्वेद 10 121 6 पर ग्रिफिथ, मैक्समूलर और मूर के अनुवाद
5 ऋग्वेद 6 50.5, 7 21.3, 8 20 5, 5 60 2, 6 66 9, 7.61 10 इत्यादि
6 मनसा बुद्ध्या अभ्यैक्षेताम् । ऋग्वेद 10 121 6 पर सायण भाष्य
7. वही, द्रष्टव्य – ग्रिफिथ, मैक्समूलर और मूर के अनुवाद
8 ऋग्वेद 10 121.7 पर सायण भाष्य
9 शुक्लयजुर्वेदसंहिता 27.25 पर महीधर एव उव्वट के भाष्य
10 ऋग्वेद 1 164 42.
11 शतपथब्राह्मण 11.1 6 1.
12 ऋग्वेद 10.129 3

(21) **गर्भं दधाना** – यह आप का विशेषण है । आचार्य सायण ने इसका अर्थ – सुनहले अण्डे के गर्भभूत प्रजापति को धारण करती हुई, किया है ।[1] महीधर ने हिरण्यगर्भ के लक्षणभूत गर्भ को धारण करती हुई, ऐसा अर्थ किया है ।[2] मैक्समूलर ने इसका अर्थ – हिरण्यगर्भ के रूप मे बीज, ग्रिफिथ ने सार्वभौम बीज (यूनिवर्सल जर्म), पीटर्सन ने बीज (सीड) तथा मूर ने गर्भ, किया है ।[3] इन सभी अर्थों के परिप्रेक्ष्य मे कहा जा सकता है कि हिरण्यगर्भ या प्रजापति सबका जनक है और उसे जलराशि ने गर्भ के रूप मे धारण किया था । इस प्रकार सारी सृष्टि उन जलो मे गर्भ के रूप मे विद्यमान थी ।

(22) **अग्नि जनयन्ती** – यह भी "आप" का विशेषण है तथा सायण ने इसका अर्थ – अग्नि से उपलक्षित आकाश इत्यादि सभी भूतो को उत्पन्न करती हुई, किया है ।[4] महीधर ने इसका अर्थ अग्निरूप हिरण्यगर्भ को उत्पन्न करती हुई, किया है ।[5] उव्वट ने अग्नि को हिरण्यगर्भ का वाचक माना है ।[6] अग्नि का अर्थ मैक्समूलर ने प्रकाश (लाइट), ग्रिफिथ ने अग्नि, पीटर्सन तथा मूर ने भी अग्नि (फायर) किया है ।[7] यहाँ जलराशि से सर्वप्रथम अग्नि की उत्पत्ति बताई गई है । ऋग्वेद मे अन्यत्र भी अग्नि को "प्रथमजा" कहा गया है ।[8] अग्नि का 'त्रित आप्त्य" नाम उसके तीन प्रकार का होने और आप से उत्पन्न होने के कारण ही चरितार्थ है । वस्तुत उस जलराशि मे तैरते हुए सुनहरे अण्डे का प्रकाश अग्नि से भी अधिक तेज था, इसीलिए उसे सीधे अग्नि ही कह दिया गया । उस जलराशि ने हिरण्यगर्भ को धारण किया था तथा वह हिरण्यगर्भ ही ऐसा लग रहा था जैसे अग्नि उत्पन्न हो रहा हो ।

---

1 हिरण्मयाण्डस्य गर्भभूत प्रजापतिम् दधाना । ऋग्वेद 10 121.7, सायण भाष्य

2 हिरण्यगर्भलक्षण गर्भं दधाना । शुक्लयजुर्वेदसंहिता 27 25, महीधर भाष्य

3 ऋग्वेद 10 121 7 पर मैक्समूलर, ग्रिफिथ, पीटर्सन और मूर के अनुवाद

4 अग्न्युपलक्षित सर्व वियदादिभूतजात जनयन्ती जनयन्त्य ।
ऋग्वेद 10 121 7 पर सायण भाष्य

5 अग्निरूप हिरण्यगर्भं जनयन्त्य । शुक्लयजुर्वेदसंहिता 27 25, महीधर भाष्य.

6 हिरण्यगर्भवचनो वाग्निशब्द । वही, उव्वट भाष्य

7 ऋग्वेद 10 121 7 पर मैक्समूलर, ग्रिफिथ, पीटर्सन एव मूर के अनुवाद

8 अग्नि र्ह न· प्रथमजा ऋतस्य । ऋग्वेद 10 5 7

[23] तत – सायण ने इसका अर्थ 'गर्भभूत प्रजापति से[1]' तथा उव्वटऔर महीधर ने 'सवत्सरपर्यन्त जल मे स्थित गर्भ से,' किया है ।[2] पाश्चात्त्य विद्वानो ने इसका अर्थ तब [देन या देन्स] किया है ।[3] उव्वट और महीधर के व्याख्यान शतपथब्राह्मण पर आधारित प्रतीत होते है, जिसमे सौवर्ण अण्डे से सवत्सर के उपरान्त पुरुषप्रजापति की उत्पत्ति बताई गई है ।[4] वस्तुत तत पद के भारतीय तथा पाश्चात्त्य विद्वानो के व्याख्यानो मे कोई गुणात्मक अन्तर नही प्रतीत होता, क्योकि यदि इसका अर्थ – "तब" किया जाय तो भी यह स्पष्ट हो जाएगा कि उस विशाल जलराशि मे स्थित हिरण्यमय अण्डे से प्रजापति की उत्पत्ति हुई ।

[24] एकः असु – सायण ने "असु " का अर्थ – प्राणात्मक वायु, किया है ।[5] उव्वट और महीधर ने इसका अर्थ – प्राणरूप आत्मा या लिङ्गशरीर रूप हिरण्यगर्भ, किया है ।[6] मैक्समूलर ने इसका अर्थ – श्वास [ब्रेथ], ग्रिफिथ और मूर ने आत्मा [स्पिरिट] तथा पीटर्सन ने भी आत्मा [सोल] ही किया है ।[7] वस्तुत प्राण से ही सभी प्राणी जीवन्त होते है । प्राणियो मे देवता प्रथम स्थान पर प्रतिष्ठित है । इसीलिए हिरण्यगर्भ को देवताओ के प्राणतत्त्व के रूप मे उद्भूत बताया गया है । इससे उसका समस्त प्राणियो का "प्राण" होना प्रतिपादित हो जाता है । आर्नाल्ड ने मन्त्रस्थ "एक " पद को छन्द की दृष्टि से अतिरिक्त मानते हुए इसे "अधिकाक्षर ऋक्" कहा है ।[8]

[25] दक्षम् – सूक्त के आठवे मन्त्र मे स्थित इस पद का अर्थ सायण ने – प्रपञ्च

---

1 ततो गर्भभूतात्प्रजापते । ऋग्वेद 10 121 7 सायण भाष्य

2 ततो गर्भात् सवत्सरोषितात् । शुक्लयजुर्वेदसंहिता 27 25 पर उव्वट एव महीधर भाष्य

3. ऋग्वेद 10.121 7 पर मैक्समूलर, ग्रिफिथ, पीटर्सन और मूर के अनुवाद

4 शतपथब्राह्मण 11.1 6 1–2

5 प्राणात्मक असु । ऋग्वेद 10 121 7 पर सायण भाष्य.

6 प्राणात्मक एक । प्राणरूप आत्मा लिङ्गशरीररूपो हिरण्यगर्भ समवर्तत ।
शुक्लयजुर्वेदसंहिता 27 25 पर उव्वट एव महीधर भाष्य

7 द्रष्टव्य – ऋग्वेद 10 121.7 पर मैक्समूलर, ग्रिफिथ, मूर और पीटर्सन के अनुवाद.

8 आर्नाल्ड – वैदिक मीटर, अनुच्छेद 152, पृष्ठ 102

रूप से वृद्धि की कामना करने वाले प्रजापति को, किया है ।[1] महीधर ने इसका अर्थ – कुशल प्रजापति को, किया है ।[2] मैक्समूलर तथा मूर ने इसका अर्थ शक्ति (पावर), ग्रिफिथ ने उत्पादक शक्ति (प्रोडक्शन फोर्स) तथा पीटर्सन ने शक्ति (स्ट्रेन्थ) किया है ।[3] वस्तुत दक्ष का अर्थ उत्पादक शक्ति करना अधिक उचित प्रतीत होता है, क्योंकि उसी दक्ष या गर्भस्थ प्रजापति से समस्त सृष्टि उद्भूत हुई।

(26) **यज्ञं जनयन्ती** :– सायण ने "यज्ञ" का अर्थ – यज्ञ से उपलक्षित विकारो को माना है ।[4] उव्वट ने इसका अर्थ सृष्टियज्ञ[5] तथा महीधर ने यज्ञकर्त्री या सृष्टिकर्त्री प्रजा किया है ।[6] मैक्समूलर ने यज्ञ का अर्थ – यज्ञ (सेक्रीफाइस, लाईट), पीटर्सन और मूर ने भौतिक यज्ञ (सेक्रीफाइस) तथा ग्रिफिथ ने पूजन (वर्शिप) किया है ।[7] सृष्टि की उत्पत्ति के बाद यज्ञ का होना स्वभावसिद्ध है। यह सृष्टि स्वय ही यज्ञ है । कर्म भी यज्ञ ही है । सृष्टि के बाद देव, ऋषि एव मनुष्य यज्ञ–क्रिया मे सन्नद्ध होगे, अतएव सृष्टि की उत्पादिका होने के साथ ही साथ आप को भावी यज्ञ की उत्पादिका होना भी बताया गया है । मन्त्र मे आया "आप " पद द्वितीयान्त अप होना चाहिए । व्यत्यय से प्रथमा विभक्ति हो गई है ।

(27) **सत्यधर्मा** :– सूक्त के नवे मन्त्र मे आए इस पद का, सायण ने – "जगत् को धारण करना जिसका सत्य धर्म है", ऐसा अर्थ किया है ।[8] महीधर ने इसका अर्थ – सत्य को धारण करने या कराने वाला, किया है ।[9] मैक्समूलर ने इसका अर्थ सत्ययुक्त (राइटियस), ग्रिफिथ ने – जिसके नियम सुनिश्चित है (हूज लॉज आर श्योर), पीटर्सन ने सत्य और विश्वसनीय (ट्रू एन्ड

---

1 दक्ष प्रपञ्चात्मना वर्धिष्णु प्रजापतिम् । ऋग्वेद 10 121 8 पर सायण-भाष्य

2 दक्षं कुशल प्रजापतिम् । शुक्लयजुर्वेदसंहिता 27 26 पर महीधर-भाष्य

3 द्रष्टव्य – ऋग्वेद 10 121 8 पर मैक्समूलर, मूर, ग्रिफिथ और पीटर्सन के अनुवाद.

4 यज्ञ यज्ञोपलक्षित विकारजात उत्पादयन्ती । ऋग्वेद 10 121 8 पर सायण-भाष्य

5 यज्ञ सृष्टियज्ञम् । शुक्लयजुर्वेदसंहिता 27 26 पर उव्वट-भाष्य.

6 यज्ञशब्देन यज्ञकर्त्री प्रजोच्यते । सृष्टिकर्त्रीरित्यर्थ । वही, महीधर- भाष्य.

7 द्रष्टव्य – ऋग्वेद 10 121 8 पर मैक्समूलर, पीटर्सन, मूर और ग्रिफिथ के अनुवाद

8 सत्यमवितथधर्मो जगतो धारण यस्य स । ऋग्वेद 10.121 9 पर सायण-भाष्य

9 सत्य धरतीति सत्यस्य धारयिता प्रजापति ।
शुक्लयजुर्वेदसंहिता 12.102 पर महीधर- भाष्य

फेथफुल) तथा मूर ने निश्चित नियमो से शासन करने वाला (रूलिङ्ग बाय फिक्स्ड आर्डिनेन्सेज) किया है ।[1] यह विशेषण ऋग्वेद मे अग्नि[2] और सवितृ[3] के लिए भी प्रयुक्त किया गया है । धर्म शब्द को बहुत व्यापक अर्थों मे लिया जाता है । मूलत धर्म का तात्पर्य धारण करने या कराने से ही है । लोक मे विभिन्न गुणो को भी धर्म कहा जाता है । जैसे – आग का धर्म जलाना है । प्रकृत स्थल पर धर्म का अर्थ – नियम करते हुए सत्यधर्मा का अर्थ – सत्यरूपी नियम वाला या जिसके विधान अथवा नियम सत्यभूत है, करना उचित प्रतीत होता है । इसका अर्थ – अपने आचरण या व्यवहार मे सत्यभूत भी किया जा सकता है ।

(28) चन्द्रा आप :- यहाँ "चन्द्रा ", "आप " का विशेषण है । वस्तुत "आप " के स्थान पर द्वितीयान्त पद "अप " होना चाहिए । सायण ने "चन्द्रा " का अर्थ – आह्लादक जल, किया है ।[4] महीधर ने इसका अर्थ – जगत् के कारणभूत जल, किया है ।[5] मैक्समूलर ने इसका अर्थ "चमकीला" और "शक्तिशाली" जल (ब्राइट एन्ड माइटी), ग्रिफिथ ने "महान्" तथा "चिकना" (ग्रेट एन्ड ल्यूसिड), पीटर्सन ने "महान्" और "चमकीला" (ग्रेट एन्ड शाइनिङ्ग) तथा मूर ने "महान्" और "प्रखर" जल (ग्रेट एन्ड ब्रिलिएन्ट) किया है ।[6] शतपथब्राह्मण मे मनुष्यो को ही "आह्लादक जल" कहा गया है ।[7] वही इसका कारण प्रतिपादित करते हुए बताया गया है कि इस जगत् की रचना मे मनुष्य श्रेष्ठ है, अत वे जल के समान ही सृष्टि के अग्रज है ।[8] उव्वट के मतानुसार पितृमार्ग का अनुसरण करने वाले मनुष्य यज्ञ के द्वारा चन्द्रलोक को प्राप्त करते है । इसीलिए शतपथब्राह्मण मे मनुष्यो को "आपश्चन्द्रा " कहा गया है ।[9] उव्वट का एक अन्य मत यह भी है कि मनुष्य की

---

1 ऋग्वेद 10 121.9 पर मैक्समूलर, ग्रिफिथ, पीटर्सन और मूर के अनुवाद

2 ऋग्वेद 1 12.7

3 ऋग्वेद 10 34 8

4 चन्द्रा आह्लादिनीरप उदकानि । ऋग्वेद 10 121 9 पर सायण-भाष्य

5 चन्द्रा आह्लादिका जगत्कारणभूता अप । शुक्लयजुर्वेदसंहिता 12 102 पर महीधर-भाष्य

6 ऋग्वेद 10 121 9 पर मैक्समूलर, ग्रिफिथ, पीटर्सन तथा मूर के अनुवाद

7 मनुष्या वा आपश्चन्द्रा । शतपथब्राह्मण 7 3 1 20

8 यो मनुष्यान् प्रथमोऽसृजतेत्येतत् . । वही

9 मनुष्या एव हि यज्ञेनाप्नुवन्ति चन्द्रलोक पितृमार्गानुसारिण । शु य.सं.12.102, उव्वट-भाष्य

रचना जल से होती है, अतएव जो कारण मे है, वही कार्य मे भी है । लक्षणा से, आपश्चन्द्रा कहने से मनुष्य का बोध हो जाता है ।[1] महीधर ने भी उक्त मन्तव्यो पर उव्वट का ही अनुगमन किया है ।[2] प्रस्तुत सूक्त मे अब तक मनुष्यो के अतिरिक्त अन्य उपादानो को प्रजापति द्वारा उत्पन्न बताया गया है । यहाँ जलो की उत्पत्ति का निर्देश है । यद्यपि भारतीय विद्वान् उव्वट एव महीधर ने यहाँ मनुष्यो की सृष्टि की बात कही है, तथापि सायण के अनुसार आह्लादकारी या देदीप्यमान जल राशिकी उत्पत्ति को स्वीकारना ही इष्ट प्रतीत होता है । ऐसा करने से "अप एव ससर्जादौ"[3] इत्यादि वाक्यो मे प्रतिपादित जलो की सृष्टि की पुष्टि भी होती है ।

(29) **परि बभूव** – सूक्त के अन्तिम मन्त्र मे आए इस क्रियापद का अर्थ, सायण ने परिगृह्णाति या व्याप्नोति अर्थात् व्यापक या व्याप्त करने वाला, किया है ।[4] उव्वट ने इसका अर्थ चारो तरफ व्याप्त किया है ।[5] महीधर ने यद्यपि "परि" उपसर्ग का अलग से कोई अर्थ नही किया है, तथापि उनका अभिप्राय चारो तरफ से व्याप्त करने से ही है ।[6] मैक्समूलर ने इसका अर्थ – आलिङ् गन करने वाला (इम्ब्रेसेज), ग्रिफिथ ने सम्मिलित करने वाला (कम्प्रीहेन्ड्स), पीटर्सन ने शासक (रूल्स ओवर) तथा मूर ने स्वामी (लॉर्ड) किया है ।[7] वस्तुत इस मन्त्र मे प्रजापति के विभुत्व का प्रतिपादन किया गया है । समस्त पदार्थों के चारो ओर वही स्थित रह सकता है, जो सर्वव्यापी होगा। सर्वव्यापी होने से उसका प्रभुत्व भी स्वत सिद्ध है । अत इस दृष्टि से पाश्चात्त्य विद्वानों द्वारा किए गए अनुवाद भी सङ् गत हो जाते है ।

(30) **रयीणां पतय** – सूक्त के अन्तिम मन्त्र के अन्तिम पद "रयीणाम्" का अर्थ सायण

---

1 वही, उव्वट-भाष्य

2 वही, महीधर-भाष्य.

3. मनुस्मृति – 1 8

4 ऋग्वेद 10 121 10 पर सायण-भाष्य

5 परि समन्तत बभूव, आत्मरूपत्वेन । शुक्लयजुर्वेदसंहिता 10 20 पर उव्वट-भाष्य

6 परिबभूव परिभवितु समर्थो (न) अभूत् । वही, महीधर-भाष्य

7 द्रष्टव्य – ऋग्वेद 10.121 10 पर मैक्समूलर, ग्रिफिथ, पीटर्सन एव मूर के अनुवाद.

ने "धनो का" किया है ।[1] उव्वट और महीधर ने भी यही अर्थ किया है ।[2] पाश्चात्त्य विद्वानो मे मैक्समूलर ने इसका अर्थ – धनो के स्वामी (लार्ड्स ऑफ वेल्थ्स), ग्रिफिथ ने धनिको पर अधिकार (रिचेज इन पजेशन), पीटर्सन ने अच्छी वस्तुओ के स्वामी (लार्ड्स ऑफ आल गुड थिंग्स) तथा मूर ने धनिको के स्वामी, किया है ।[3] भारतीय एव पाश्चात्त्य विद्वानो के उक्त अर्थों के आलोक मे "रयीषाम् पतय" का अर्थ धनो के स्वामी करना ही उचित प्रतीत होता है । इस सम्बन्ध मे यह विचारणीय है कि वैदिक ऋषि प्राय यज्ञादि का आयोजन धन, पुत्रादि की प्राप्ति के निमित्त करते थे ।[4] अत प्रजापति को समर्पित इस सूक्त के अन्त मे इष्ट पदार्थ के रूप मे धन प्राप्त करने की कामना ही की गई प्रतीत होती है ।

प्रस्तुत मन्त्र का पदपाठ उपलब्ध नही होता । अत पदपाठ के स्थान पर सर्वत्र केवल सहिता पाठ ही लिखा गया है । केगी का मत है कि सम्भवत पदपाठ की रचना के पश्चात् इसे संहिता मे प्रक्षिप्त किया गया है ।[5]

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि "हिरण्यगर्भ" शब्द का प्रयोग ऋग्वेद या यह कहे कि वैदिक साहित्य मे प्रतीकात्मक है । इसका प्रयोग प्राण के लिए भी किया गया है । अनेक ब्राह्मण वचनो से यह प्रतीत होता है कि हिरण्यगर्भ सूर्य का ही एक विकसित रूप है या ऋषियो ने सूर्य के आधार पर ही हिरण्यगर्भ की कल्पना की । आयु, अमृत, देव, ज्योति, तेज और सत्य – ये सभी हिरण्यगर्भ के ही पर्याय माने जाते है । जलो से उत्पन्न होने के कारण हिरण्यगर्भ को ही अपावत्स, अपावृषभ, अपानपात्, अपागर्भ आदि नामो से अभिहित किया जाता है । ऋग्वेद मे सृष्टि करने की अवस्था मे ब्रह्म "हिरण्यगर्भ" कहा जाता है । प्रजाओ को उत्पन्न करने और पालन करने की क्षमता के कारण उसे प्रजापति कहा जाता है । ऋग्वेद का हिरण्यगर्भ सूक्त यह प्रकट

---

1 रयीणाम् धनानाम् । ऋग्वेद 10.121 10 पर सायण भाष्य

2 शुक्लयजुर्वेदसंहिता – 10 20 पर उव्वट एवं महीधर के भाष्य

3 द्रष्टव्य – ऋग्वेद 10.121 10 पर मैक्समूलर, ग्रिफिथ, पीटर्सन एवं मूर के अनुवाद

4 ऋग्वेद – 2.12 15, 10 125.2 इत्यादि

5 केगी – दरऋग्वेद (अंग्रेजी अनुवाद – द ऋग्वेद, अनुवादक – एरोस्मिथ), पृष्ठ 79.

करता है कि किस प्रकार आदिम मानव उस देवता के स्वरूप को जानना चाहता है,जिसके लिए वह हविष्य प्रदान कर रहा है । ब्राह्मण ग्रन्थो तथा उनका अनुसरण करने वाले भाष्यकारो – सायण, यास्क आदि की दृष्टि से मन्त्रस्थ "क" शब्द प्रजापति का द्योतक है । उन्होने प्रजापति अथवा "क" को सुखस्वरूप भी माना है । "क" को सम्प्रश्नवाचक सर्वनाम मानने से सूक्त की प्रभावशालिता और अधिक बढ़ जाती है ।

यह सूक्त दार्शनिक दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है । इसमे नाना देवताओ की उपासना से आकुल होकर ऋषि ने हिरण्यगर्भ नामक एकमात्रदेव की अमूर्त रूप से प्रतिष्ठा कर के उसे सबका स्वामी बताया है । इस सूक्त मे हमे एकदेववाद या एकेश्वरवाद के चरम दर्शन प्राप्त होते है । प्रथम से लेकर नवम मन्त्र तक ऋषि ने उस देवता को कोई अभिधान नही दिया है, किन्तु दशम मन्त्र मे उसने उसे प्रजापति का नाम देकर अपनी जिज्ञासा का अवसान किया है । यही नही अन्तिम मन्त्र मे ऋषि ने एकमात्र देव प्रजापति या हिरण्यगर्भ का सर्वत्र विभुत्व भी प्रतिपादित किया है । इस प्रकार पूरे वैदिक, बल्कि विश्व साहित्य मे इस सूक्त का महत्त्वपूर्ण स्थान है ।

अध्याय – 7

वाक्–तत्त्व एवं ऋग्वेद का वाक्सूक्त (10.125)

(क) वाक्-तत्त्व

(ख) वाक्सूक्त

(ग) सूक्तस्थ विभिन्न पदो की समीक्षा

(1) रुद्रेभि
(2) वसुभि
(3) आदित्यै
(4) विश्वदेवै
(5) चरामि
(6) विभर्मि
(7) आहनसम्
(8) त्वष्टारम्
(9) सुप्राव्ये
(10) राष्ट्री
(11) सङ्गमनी
(12) चिकितुषी
(13) भूरिस्थात्राम्
(14) भूर्यावेशयन्तीम्
(15) पुरुत्रा
(16) मया स
(17) अमन्तव
(18) उपक्षियन्ति
(19) श्रुधि
(20) श्रुत
(21) श्रद्धिवम्
(22) जुष्टम्
(23) उग्रम्
(24) ब्रह्माणम्
(25) ऋषिम्
(26) रुद्राय
(27) ब्रह्मद्विषे
(28) शरवे
(29) समदम्
(30) पितरम्
(31) अस्य मूर्धन्
(32) योनि.
(33) अप्सु अन्त समुद्रे
(34) अनुवितिष्ठे
(35) वर्ष्मणा
(36) सुवे
(37) आरभमाणा
(38) प्रवामि
(39) परो दिवा पर एना पृथिव्या

(क) वाक्-तत्त्व –

जगत् का सारा व्यवहार वाक् के अधीन है । ब्राह्मण ग्रन्थो मे वाक् को ब्रह्म कहा गया है ।[1] उपनिषद् मे भी वाक् को ब्रह्म माना गया है।[2] ऋग्वेद मे ब्रह्मा को वाक् का परम स्थान बताया गया है।[3] इसके अतिरिक्त उसे "ऋत" से भी सम्बद्ध किया गया है।[4] वाक् का स्वरूप हमे ऋग्वेद के ही एक मन्त्र मे उपलब्ध होता है, जिसमे उसे एकपदी, द्विपदी, चतुष्पदी, अष्टापदी, नवपदी और सहस्राक्षरा कहा गया है।[5] सायण ने गौरी का अर्थ "माध्यमिका वाक्" या "शब्दब्रह्मात्मिका वाक्" किया है।[6] आत्मानन्द ने गौर को शुद्ध ब्रह्म और तत्परा श्रुति को गौरी माना है।[7] डॉ.अग्रवाल ने प्रजापति की विश्व–रचना के लिए उत्पन्न नई शक्ति को वाक् माना है।[8] वस्तुत वाक् और शब्द दोनो पर्याय है । शब्द आकाश का गुण है । पृथ्वी भूतो मे स्थूलतम और आकाश सूक्ष्मतम है । अत पृथ्वी से लेकर आकाश तक के पञ्चभूतो का प्रतीक केवल शब्द या वाक् को ही माना जा सकता है । आकाश का गुण शब्द न केवल आकाश मे ही, अपितु पञ्चभूतो मे भी व्याप्त है, जबकि गन्ध आदि तन्मात्राए मात्र अपने–अपने भूतो तक ही सीमित है । इस दृष्टि से वाक् पञ्चभूतो की सञ्ज्ञा है, अर्थात् विश्वरचना मे प्रयुक्त प्रकृति ही वाक् है । सन्दर्भित मन्त्र का अभिप्राय यह है कि वाक् की अग्निमयी या प्राणात्मक शक्ति अपने स्पन्दन से सलिल रूपी आदिकारण का तक्षण करती हुई भिन्न–भिन्न रूपो का निर्माण करती है । समष्टि का व्यष्टि भाव मे आना ही सृष्टि है, चाहे वह व्यष्टि अणु हो या महत् । वह गौरी वाक् अपनी जिस शक्ति से पृथक्–पृथक् रूपो का निर्माण करती है, उसकी सञ्ज्ञा अक्षर है । जब हम वाक् की कल्पना गौरी या गौ के रूप मे करते है, तो उसके पदो का भी प्रसङ्ग उपस्थित होता है । पद अक्षर या अक्षरो का समूह है । अक्षर अविनश्वर है । यह

---

1 वाग्घि ब्रह्म – ऐतरेय ब्राह्मण 2 15

2 वाग् वै ब्रह्म – बृहदारण्यकोपनिषद् – 4 1 2

3 ब्रह्माय वाच परम व्योम । ऋग्वेद 1 164 35.

4 वही – 1.164 37 तथा इस पर सायण एव आत्मानन्द–भाष्य

5 गौरीर्मिमाय सलिलानि तक्षत्येकपदी द्विपदी सा चतुष्पदी ।
अष्टापदी नवपदी बभूवुषी सहस्राक्षरा परमे व्योमन् ।। ऋग्वेद 1.164 41

6 वही – सायण–भाष्य

7 गौर शुद्ध ब्रह्म । तत्परा श्रुति गौरी । वही, आत्मानन्द–भाष्य

8 अग्रवाल, डॉ वासुदेवशरण – वेदरश्मि, पृष्ठ 51

अव्यक्त तत्त्व है, किन्तु भूतो के माध्यम से व्यक्त बनता है । सामान्यत वाक् के दो रूप होते हैं – एक वाक् तो पृथक–पृथक् अक्षरो के रूप मे मनुष्य के कण्ठ से बोली जाती है । यह एक अक्षर, दो अक्षर, चार अक्षर, आठ अक्षर, नव अक्षर के रूप मे वाक् का मूर्त्त रूप है । इस प्रकार की वाक् या शब्द "मर्त्या वाक्" है, क्योकि वह उत्पन्न होने के बाद विलीन हो जाती है । मर्त्या वाक् का स्रोत मर्त्य आकाश या तक्षण द्वारा खण्ड-भाव मे आया हुआ आकाश है, किन्तु दूसरे प्रकार की वह वाक् है, जो अक्षर के रूप मे मूर्त्त नही होती । उसी वाक् के लिए ऋषि ने ऊपर सन्दर्भित मन्त्र मे सहस्राक्षरा पद का प्रयोग किया है । सहस्र का अर्थ अनन्त है, जहाँ एक, दो, तीन आदि गिनतियो की अलग सत्ता नही होती । इस प्रकार की सहस्राक्षरा वाक् का अधिष्ठान या स्रोत परम व्योम या परमाकाश है । अक्षर ही वाक् का पद या चरण है, जिससे उसे शब्द और वाक्यो के मूर्त्त रूपो का निर्माण करने की शक्ति प्राप्त होती है । शतपथब्राह्मण के अनुसार प्रत्येक अक्षर एक–एक रूप का प्रतीक है ।[1] सृष्टि के आरम्भ से अन्त तक असख्य अक्षरो का व्यवहार या जन्म हुआ है और होता रहेगा । वे अक्षर भी मर्त्यभाव मे अनन्त है । इतने असख्य अक्षरो या रूपो के निर्माण के जो मूलभूत नियम है, उन्ही का मन्त्र मे एकपदी, द्विपदी आदि विशेषणो के द्वारा उल्लेख किया गया है ।

एकपदी वाक् वह है, जिसमे गति रूप अक्षरो का भेद उत्पन्न नही हुआ हो । एकपदी को तो सहस्राक्षरा वाक् ही कहा जा सकता है, किन्तु यह उसका अमूर्त्त और अनिरुक्त पक्ष कहा जाएगा । उसी का मूर्त्त और निरुक्त पक्ष एक सत्ता वाला विश्व है । यह सारा जगत् मानो उस गौरी वाक् का एक चरण है, इसी के रूप मे वह एकपदी बनी हुई है । इस विश्व मे जो गति है, वही गौरी वाक् का चरणात्मक भाव है । परमेष्ठी प्रजापति की परमेष्ठिनी वाक् की जो सञ्ज्ञा आम्भृणी वाक् है, वही गौरी है । वह द्युलोक तथा पृथिवी दोनो से परे रहती हुई अपनी ही महिमा से एतत्परिमाणात्मक हो गई ।[2] आचार्य सायण ने एक ही अधिष्ठान–मेघ मे वर्तमान वाक् को एकपदी माना है या उनके मतानुसार गमन के साधनभूत वायु के द्वारा वह वाक् एकपदी है । उन्होने एक अन्य मत प्रस्तुत करते हुए प्रणवस्वरुपा वाक् को एकपदी बताया है ।[3]

---

1. त्वष्ट्राणि वै रूपाणि । शतपथब्राह्मण - 2 2 3 4
2. परो दिवा पर एना पृथिव्यैतावती महिना स बभूव । ऋग्वेद 10 125.8
3. एकपादोपेता एकाधिष्ठाना मेघे वर्तमाना गमनसाधनेन वायुना एकपदी वा । एकरूपा वा प्रणवात्मना । ऋग्वेद 1 164.41 सायण भाष्य

द्विपदी वाक् के रूप मे द्यावापृथिवी को लिया जा सकता है । वाक् ने द्युलोक और पृथिवी लोक मे प्रवेश करने की बात स्वय कही है ।[1] सायण ने मेघ और अन्तरिक्ष रूपी दो अधिष्ठानो वाली वाक् को द्विपदी वाक् कहा है । उन्होने वैकल्पिक रूप से आदित्य को वाक् का दूसरा पद भी माना है । एक अन्य मत उपस्थापित करते हुए उन्होने सुप् तथा तिङ्, इन दो पादो से युक्त वाक् को द्विपदी कहा है ।[2]

शतपथब्राह्मण मे वाक् को त्रयीमयी धेनु कहा गया है, जिसके चार स्तन है । एक स्तन की सञ्ज्ञा वषट्, दूसरे की स्वाहा, तीसरे की स्वधा और चौथे की हन्त है ।[3] मार्कण्डेय पुराण के अनुसार ऋषि वषट् स्वरूप स्तन का पान करते है, देवगण स्वाहास्वरूप स्तन का पान करते है, पितर स्वधाकार स्तन से तृप्त होते है और मनुष्य हन्तकार स्वरूप स्तन का दुग्धपान करके पोषित होते है ।[4] उक्त चारो प्रकार के स्तन शब्दस्वरूप ही है, अत इन्हे चार–पाद मानकर चतुष्पदी वाक् की कल्पना की जा सकती है । सायण ने चार दिशाओ के अधिष्ठान वाली वाक् को चतुष्पदी वाक् माना है । उन्होंने अन्य मतानुसार नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात को चार पाद मानते हुए चतुष्पदी वाक् को उपपन्न किया है ।[5]

ऋग्वेद मे अग्नि को ऋत का प्रथमजा कहा गया है ।[6] अथर्ववेद ऋत के आठ प्रथमज तत्त्वो की ओर सङ्केत करता है । ये ही आठ वसु है, जो मनस्, प्राण,अपान, और पञ्चभूतो के रूप मे परिगणित किये जाते है ।[7] शतपथब्राह्मण मे इन्हे ही अग्नि के आठ रूपो मे माना गया है ।[8]

---

1 अह द्यावापृथिवी आ विवेश । ऋग्वेद 10 125 6

2 मेघान्तरिक्षाख्यद्वयधिष्ठाना । आदित्यो वा द्वितीय । द्विपदी सुप्तिङ्भेदेनपादद्वयवती ।
ऋग्वेद 1 164 41 सायण-भाष्य

3 द्रष्टव्य, शतपथब्राह्मण – 14.8.9.1.

4 द्रष्टव्य, मार्कण्डेय पुराण – 29 10 11

5 चतुष्पदी पादचतुष्टयोपेता दिक्चतुष्टयाधिष्ठाना ।
चतुष्पदी नामाख्यातोपसर्गनिपात भेदेन । ऋग्वेद 1 164 41 सायण भाष्य

6. अग्निर्ह न प्रथमजा ऋतस्य । ऋग्वेद 10.5 7.

7. अथर्ववेद – 8.9.21.

8 तान्येतान्यष्टौ अग्निरूपाणि कुमारो नवम. । शतपथब्राह्मण 6.1.3.18

आगे चलकर पौराणिक साहित्य मे ये ही शिव की अष्टमूर्त्तियो के रूप मे प्रतिपादित है ।[1] इन आठ वसुओ के रूप मे वाक् को अष्टापदी माना जा सकता है । सायण ने चार दिशाओ के साथ चार विदिशाओ को सयुक्त कर के वाक् को अष्टपदी माना है । उन्होने अन्य मत उद्धृत करते हुए सम्बोधनसहित आठ विभक्तियो को अष्टपदी वाक् के रूप मे चित्रित किया है ।[2]

नवपदी वाक् का आश्रय नव सख्या है । यह अड्को मे सबसे बडी सख्या है, क्योकि इसके बाद पुन एक और शून्य से आरम्भ किया जाता है । नवपदी वाक् को बृहती छन्द के रूप मे भी उपनन्न किया जा सकता है, क्योकि इसके चार पाद और प्रत्येक पाद मे नव अक्षर होते है ।[3] इन्ही नव अक्षरो को वाक् के नव पद माना जा सकता है । सायण ने आठ दिशा–विदिशाओ के अतिरिक्त 'ऊपर' को भी एक दिशा मानकर अथवा सूर्य को सयुक्त करके नव अधिष्ठानो वाली वाक् को नवपदी कहा है । अन्य मत के अनुसार उन्होने अव्यय को आठ विभक्तियो के साथ सयुक्त करके वाक् को नवपदी माना है ।[4]

सहस्राक्षरा वाक् का सम्बन्ध उस परा वाक् से है, जो परम व्योम या परमाकाश मे स्थित है । सहस्र का अर्थ अनन्त है । इस वाक् के अनन्त अक्षर या चरण है, जो अव्यक्त या अमूर्त्त है । जो भौतिक मर्त्यावाक् के रूप मे परिणत नही हुई, वह सहस्राक्षरा वाक् है । अक्षर उच्चरित न्यूनतम इकाई है, जिसका क्षरण या नाश नही होता । परम व्योम या परमाकाश से अक्षर का आविर्भाव होता है और फिर तिरोभाव या अदर्शन हो जाता है । सहस्राक्षरा का सड्केत उस वाक् से है, जो पारमेष्ठ्य समुद्र मे गौरी रूप मे भरी हुई परमेष्ठिनी या आम्भृणी वाक् है । अमृता या सहस्राक्षरा वाक् को अर्थ कहा जा सकता है और मर्त्या वाक् को शब्द । अर्थ के रूप मे वाक् नित्य है और शब्द

---

1 द्रष्टव्य, लिड्ग पुराण – 2 12 42–43

2 अष्टापदी विदिगपेक्षया अष्टपादोपेता अष्टाधिष्ठाना । आमन्त्रितसहिताष्टविभक्तिभेदेन अष्टपदी । ऋग्वेद 1.164 41 सायण भाष्य

3 षट्त्रिंशदक्षरा वै बृहती । शतपथब्राह्मण 8 3 3 8 तथा ऐतरेय ब्राह्मण 2 24

4 नवपदी उपरिदिगपेक्षया सूर्येण वा नवदिगधिष्ठाना । साव्ययैरुक्तैरष्टभिर्नवपदी । ऋग्वेद 1 164 41 पर सायण भाष्य.

के रूप मे अनित्य है । अर्थ अपरिमित है, शब्द परिमित । अर्थ अनिरुक्त और अमूर्त्त है, शब्द निरुक्त और मूर्त्त । सहस्राक्षरा की तुलना सहस्रशीर्षा या सहस्रपात् पुरुष से की जा सकती है, जो विराट् को जन्म देता है । वाक् और ब्रह्म का घनिष्ठ सम्बन्ध है । सायण ने भी सहस्राक्षरा का अर्थ अपरिमित किया है । अन्य मत के अनुसार उन्होने अनेक आकारो मे व्याप्त तथा अनेक ध्वनि के प्रकारो वाली वाक् को सहस्राक्षरा माना है ।[1]

वाक् के उक्त आध्यात्मिक स्वरूप के अतिरिक्त ऋग्वेद मे ही इसके चार भेदो को बताया गया है । इन चारो भेदो को मनीषी वेदज्ञ जानते है । इनमे से तीन गुहा मे निहित है तथा चौथी वाक् का व्यवहार मनुष्य करते है ।[2] वाक् के ये चार भेद कौन–कौन से है ? इसके विषय मे सायण ने अनेक प्रकार से व्याख्यान किए है । उनके व्याख्यान का प्रथम आधार वेदवादी है, जो प्रणव सहित भू भुव तथा स्व इन तीन व्याहृतियो मे वाक् को परिमित मानते है ।[3] वैयाकरणो के मतानुसार वाक् के चार भेद – नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात है ।[4] याज्ञिको के अनुसार मन्त्र, कल्प, ब्राह्मण और लौकिकी वाक् – ये चार भेद माने गए है ।[5] नैरुक्तो के अनुसार वाक्, ऋक्, यजु, साम तथा व्यावहारिकी वाक् के रूप मे परिमित है ।[6] ऐतिहासिको के अनुसार वाक् के चार भेद है – सर्पों की वाक्, पक्षियो की वाक्, क्षुद्रसरीसृप की वाक् तथा व्यावहारिकी वाक् ।[7] आत्मवादियो के अनुसार पशु, तूणव, मृग तथा आत्मा के रूप मे वाक् के चार भेद है ।[8] अन्य मान्त्रिक

---

1 अपरिमितवचनोऽयम् । सहस्राक्षरा अनेकाकारेण व्याप्ता अनेकध्वनिप्रकारा भवतीत्यर्थ ।
ऋग्वेद 1 164 41, सायण भाष्य

2 चत्वारि वाक् परिमिता पदानि तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिण ।
गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति । ऋग्वेद 1 164 45.

3 वही, सायण-भाष्य

4 वही, सायण-भाष्य

5 वही, सायण-भाष्य

6 वही, सायण-भाष्य

7 वही, सायण-भाष्य

8. वही, सायण-भाष्य

प्रकारान्तर से इसे परा पश्यन्ती, मध्यमा तथा वैखरी के रूप मे स्वीकार करते है ।[1] वाणी का यह भेद नागेश प्रभृति आधुनिक वैयाकरणो को इष्ट है ।[2] उनके अनुसार मूलाधार मे स्थित पवन से सस्कृत तथा वही रहने वाली शब्दब्रह्मरूपा स्पन्दशून्या बिन्दुरूपिणी वाक् को परावाक् कहते है । नाभि तक आये हुए उसी वायु से अभिव्यक्त तथा मनस् तक आने वाली वाक् को पश्यन्ती वाक् कहते है । वहाँ से हृदय तक आने वाले उसी वायु से अभिव्यक्त तत्तद् अर्थो के वाचक शब्दस्फोट के रूप मे स्थित, किन्तु कानो से न सुनाई देने के कारण सूक्ष्म और जप इत्यादि क्रियाओ मे बुद्धि के द्वारा गृहीत वाक् को मध्यमा वाक् कहते है । वहाँ से मुख तक आने वाले उसी वायु से ऊपर उठने वाली तथा मूर्धा पर प्रहार करके वापस जाकर पुन तत्तद् उच्चारण स्थानो के द्वारा अभिव्यक्त और दूसरो के श्रोत्रेन्द्रिय द्वारा ग्राह्य वाक् को वैखरी कहते है ।[3] वैसे व्याकरण दर्शन के मुख्य उद्भावक आचार्य भर्तृहरि ने पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी के रूप मे वाक् के मात्र तीन भेद स्वीकार किये है ।[4] इन्होने परा का अन्तर्भाव पश्यन्ती मे ही कर दिया है । इस प्रकार वाक् के चार भेद उपपन्न होते है । इन चार रूपो मे व्याकृत होने का कारण स्पष्ट करते हुए तैत्तिरीय संहिता मे बताया गया है कि वाक् ने स्वय व्याकृत होने की इच्छा प्रकट की । अत देवताओ की प्रार्थना पर इन्द्र ने उसे व्याकृत कर दिया ।[5]

महाभारत के शान्तिपर्व के अनुसार वाक् की उत्पत्ति ब्रह्मा द्वारा हुई है ।[6] सरस्वती रहस्योपनिषद् मे कहा गया है कि सरस्वती देवी अन्तर्दृग् वाले जीवो के समक्ष विभिन्न रूपो मे प्रकट

---

1 वही, सायण भाष्य

2 नागेश परमलघुमञ्जूषा, पृष्ठ 23

3 परा वाङ्मूलचक्रस्था पश्यन्ती नाभिसंस्थिता ।
हृदिस्था मध्यमा ज्ञेया वैखरी कण्ठदेशगा ।। वही, पृष्ठ 23

4 वैखर्या मध्यमायाश्च पश्यन्त्याश्चैतदद्भुतम् ।
अनेकतीर्थभेदायास्त्रय्या वाच परं पदम् ।। भर्तृहरि, वाक्यपदीयम्, 1 144

5 वाग् वै पराच्यव्याकृताऽवदत् । ते देवा इन्द्रमब्रुवन् – "इमा नो वाच व्याकुरु इति"
तामिन्द्रो मध्यतोऽवक्रम्प व्याकरोत् । तैत्तिरीय संहिता 6 4 7

6 अनादिनिधना नित्या वागुत्सृष्टा स्वयम्भुवा । महाभारत, शान्तिपर्व 232 24

होती है ।[1] देवीभागवत मे देवी ने स्वय कहा है कि प्रकृति आदि समस्त कारणो का भी कारण यह ब्रह्म मेरा ही रूप है ।[2] ऋग्वेद मे ही कहा गया है कि यह ब्रह्म जहाँ तक स्थित है, वहाँ तक वाणी भी प्रसृत है ।[3] अथर्ववेद मे वाक् को विराट् कहा गया है ।[4] शतपथब्राह्मण भी इसका समर्थन करता है ।[5] ज्ञातव्य है कि वाक् का आधुनिक प्रचलित नाम सरस्वती, ऋग्वेद मे भी प्रयुक्त है ।[6] शतपथब्राह्मण मे अन्धकार को दूर भगाने वाले अत्रि नामक पुरोहित को वाक् का पुत्र कहा गया है ।[7] इसी ब्राह्मण मे अन्य स्थल पर वाक् अत्रि के साथ समीकृत है ।[8] इसके अतिरिक्त शतपथ एव ऐतरेय ब्राह्मण मे वाक् को सरस्वती से अभिन्न भी बताया गया है ।[9] गन्धर्वों के मध्य निवास करने वाले सोम को लाने वाली देवी वाक् ही है ।[10] निघण्टु के अनुसार यह अन्तरिक्ष स्थानीय देवताओ मे परिगणित है ।[11]

(ख) वाक्-सूक्त –

ऋग्वेद के दशम मण्डल का एक सौ पचीसवा सूक्त "वाक् सूक्त" के नाम से जाना जाता है । इस सूक्त की ऋषिका अम्भृण ऋषि की पुत्री "वाक्" है । अत उसे "वागाम्भृणी" कहते है । इसका देवता परमात्मा है । द्वितीय मन्त्र जगती एव इसके शेष सात मन्त्र त्रिष्टुप् छन्द मे उपनिबद्ध

---

1 या प्रत्यग्दृष्टिभिर्जीवैर्व्यज्यमानाऽनुभूयते । सरस्वतीरहस्योपनिषद् – मन्त्र 22.

2 देवी भागवत – 12 8 62–66

3 यावद्ब्रह्म विष्ठित तावती वाक् । ऋग्वेद 10 114 8

4 विराड् वाक् । अथर्ववेद 9 15 24

5 यामाहुर्वाच कवयो विराजम् । शतपथब्राह्मण 3 5 1 34

6 सरस्वति तमिह धातवे क ।

7 शतपथब्राह्मण 1 4 5.13

8 वही, 14 5 2.5

9 वही, 3 9 1 7 तथा ऐतरेय ब्राह्मण 3 1 10

10 ऐतरेयब्राह्मण 1 27, तैत्तिरीय संहिता 6 1 6 5 तथा मैत्रायणी संहिता 6 1 6.5

11 निघण्टु 5 5

है ।[1] शाक्तमत मे यही सूक्त "देवीसूक्त" के नाम से विख्यात है ।[2] इस सूक्त मे परमात्मा के साथ तादात्म्य का अनुभव करती हुई वाक्, सर्वत्र विश्व के अणु-परमाणु मे अपने को अनुस्यूत देखती है और उसका वर्णन अत्यन्त उदात्त शब्दो मे करती है । विल्सन के मतानुसार इस सूक्त के देवता के रूप मे "वाक्" को भी माना जा सकता है । उन्होने विकल्प के रूप मे "परमात्मा" को भी देवता माना है ।[3] ग्रिफिथ ने सूक्त की भूमिका मे लिखा है कि वाक्, शब्द का ही मूर्त्त रूप है । यह शब्द प्रथम सृष्टि है तथा आत्मा को द्योतित करता है इसके अतिरिक्त शब्द ही मनुष्यो तथा देवताओ के मध्य सवाद का माध्यम है ।[4]

(ग) सूक्तस्थ विभिन्न पदों की समीक्षा :-

प्रस्तुत सूक्त के सम्यक् अवबोध के लिए इसमे स्थित विभिन्न व्याख्येय पदो का समीक्षात्मक अध्ययन अपेक्षित है । इस दृष्टि से निम्नलिखित शब्दो पर विचार किया जा सकता है ।

(1) **रुद्रेभि** – आचार्य सायण ने ऋग्वेद के एक अन्य मन्त्र मे आए रुद्र शब्द को छ प्रकार से उपपन्न किया है ।[5]

(अ) जो सभी को अन्त समय मे रुलाए उसे रुद्र कहते है ।

---

1 प्रस्तुत सूक्त के सभी मन्त्र तथा उनके हिन्दी-अनुवाद परिशिष्ट "क" मे दिये गए है ।

2 त्रिपाठी, विश्वम्भरनाथ – वेदचयनम् (परिशेष 1), पृष्ठ 32

3 The deity may be considered either as VACH, personified speech, said to be the daughter of Rishi Ambhrina, or as Paramatma.
विल्सन – ऋग्वेद-संहिता, 6, पृष्ठ 427

4 Vak is speech personified, the word, the first creation and representative of Spirit and the means of communication between men and Gods.
ग्रिफिथ – द हिम्स ऑफ द ऋग्वेद, पृष्ठ 631

5 द्रष्टव्य – ऋग्वेद 1 114.1 पर सायण भाष्य

(ब) रुत्, ससार नाम का एक दु ख है, जो उसे दूर कर दे या नष्टकर दे वह रुद्र है ।

(स) शब्दरूपी उपनिषदे रुत् है, जो उन उपनिषदो के द्वारा प्रतिपादित किया जाय, वह रुद्र है ।

(द) शब्दात्मिका वाणी या उससे प्रतिपाद्य आत्मविद्या को रुत् कहते है, जो इस रुत् को उपासको के लिए प्रदान करे वह रुद्र है ।

(च) आवरण करने वाले अन्धकारादि रुत् है, जो इन्हे विदीर्ण करे, वह रुद्र है ।

(छ) देवासुर-सङ्ग्राम के समय रुद्र देवताओ के द्वारा रखे हुए धन को चुराकर भाग गया । असुरो को पराजित करने के बाद देवताओ ने इसे ढूँढकर धन छीन लिया । तब यह रोने लगा। इसीलिए रुद्र कहा जाता है ।

तैत्तिरीय संहिता मे भी रोने के कारण ही रुद्र का रुद्रत्व प्रतिपादित किया गया है ।[1] शतपथब्राह्मण मे भी रुद्र के रुद्रत्व का यही कारण बताया गया है ।[2] इन सभी व्याख्याओ के आलोक मे रुद्र के अनेक स्वरूप हमारे सम्मुख आते है । एक तरफ वह लोगो का सहायक है, तो दूसरी तरफ रोने या रुलाने वाला । परवर्ती साहित्य मे रुद्र, उग्र देव के रूप मे ही जाना जाता है । ऋग्वेद मे इसका स्थान गौण है । यह केवल तीन सूक्तो मे स्तुत है ।[3] कीथ ने विभिन्न विद्वानो के अनुसार रुद्र के पृथक्-पृथक् स्वरूपो को स्पष्ट किया है ।[4] सायण ने प्रस्तुत मन्त्र मे इस पद का अर्थ "ग्यारह रुद्रो के साथ" किया है ।[5]

---

1 सोऽरोदीद्यदरोदीत्तद् रुद्रस्य रुद्रत्वम् । तैत्तिरीय संहिता - 1 5 1 1

2 यदरोदीत् तस्माद् रुद्र । शतपथब्राह्मण - 6.1 3 8

3 ऋग्वेद 1 114, 2 33 तथा 7 46

4 द्रष्टव्य - कीथ - रिलीजन ऐन्ड फिलासफी ऑफ वेद, पृष्ठ 146-147

5 द्रष्टव्य - ऋग्वेद 10.125.1 सायण भाष्य

[2] **वसुभि** – सायण इसका अर्थ – "वसुओ के साथ करते" है ।[1] अन्य विद्वानो ने भी यही अर्थ स्वीकार किया है । वसुओ की सख्या आठ बताई गई है – आप , ध्रुव, सोम, धर या धव, अनिल, अनल, प्रत्यूष और प्रभास । कभी–कभी आप के स्थान पर "अह" को गिनते है ।[2]

[3] **आदित्यै:** – इसका अर्थ – "आदित्यो के साथ" है । आदित्यो की सख्या बारह बताई गई है । ऋग्वेद मे एक स्थल पर मात्र छ आदित्यो को परिगणित किया गया है ।[3] वरुण और मार्तण्ड को इसमे जोड देने से इनकी सख्या आठ हो जाती है । ऋग्वेद मे ही अन्यत्र अदिति के आठ पुत्रो की चर्चा की गई है ।[4] जो भी वस्तुस्थिति हो, परम्परा मे आदित्यो की सख्या बारह ही स्वीकार की गई है ।

[4] **विश्वदेवै** .– ऋग्वेद मे विश्वेदेवा की सख्या तैतीस बताई गई है ।[5] इनके नाम को लेकर ऋचाओ मे हमे पार्थक्य दृष्टिगोचर होता है । पृथक्–पृथक् ऋचाओ ने पृथक–पृथक् नामो सहित इनका परिगणन किया है ।[6] पीटर्सन ने इस पद का अर्थ – "सभी देवो के साथ" किया है।[7] वस्तुत मन्त्र मे प्रतिपादित वाक् के स्वरूप को देखते हुए विश्वेदेवा की सख्या न गिरकर इस पद का अर्थ "सभी देवो के साथ करना ही उचित प्रतीत होता है ।

[5] **चरामि** :– प्रस्तुत पद द्वारा यह प्रतीत होता है कि वाक् एक प्रधान देवी है तथा रुद्र, वसु, आदित्य और विश्वेदेव, सभी उसके अनुचर या अङ्गरक्षक है । इसका एक दूसरा भाव यह

---

1 द्रष्टव्य – ऋग्वेद 10 125 1 सायण भाष्य

2 धरो ध्रुवश्च सोमश्च अहश्चैवानिलोऽनल ।
प्रत्यूषश्च प्रभासश्च वसवोऽष्टावितिस्मृता· ।।
आप्टे, वामन शिवराम, सस्कृत–हिन्दी कोश, पृष्ठ 909

3 ऋग्वेद – 2 27 1

4 वही – 10 72 8

5 वही – 8 35 3

6 द्रष्टव्य – ऋग्वेद 1 14 3, 10 65·1, 8 28·2

7 पीटर्सन – हिम्स फ्राम द ऋग्वेद, वाक्सूक्त

भी लिया जा सकता है कि वाक् उक्त देवरूपो मे विद्यमान होकर सम्पूर्ण जगत् मे विचरण करती है अथवा दृष्टिगोचर होती है । मित्रावरुण, इन्द्राग्नी तथा दोनो अश्विनी कुमार भी उसी के अङ्ग है ।

⟮6⟯ **बिभर्मि** .– धारण करती हूँ । सायण ने इसे स्पष्ट करते हुए कहा है – मेरे मे सारा जगत् शुक्ति मे रजत के समान अध्यस्त होकर दिखाई देता है । माया जगत् के रूप मे उद्भासित होती है ।[1] इस मन्त्र मे यह बताया गया है कि वाक् ही ब्रह्म के रूप मे सबकी धारयित्री है ।

⟮7⟯ **आहनसम्** – आचार्य सायण ने द्वितीय मन्त्र मे स्थित इस पद के तीन अर्थ किए है ।[2]

⟮अ⟯ आहन्तव्य अर्थात् मारने योग्य या आघात पहुँचाने योग्य,

⟮ब⟯ अभिषोतव्य अर्थात् रस निचोड़ने योग्य,

⟮स⟯ शत्रुओ का सामने से वध करने वाला ।

सायण ने ही अन्य स्थलो पर इसके आहन्ता, सेचक, निचोडे जाते हुए, स्तुति किये गए, शब्दकारी, नियन्ता – दण्डधारक, वध करने वाला, दु ख देने वाला इत्यादि अर्थ किये है ।[3] वेङ्कट के अनुसार इसका अर्थ – पत्थरो से प्रहार करने वाला अथवा शत्रुओ को मारने वाला है ।[4] यास्क ने एक स्थल पर इसका अर्थ वञ्चनयुक्त अर्थात् वञ्चक[5] तथा अन्य स्थल पर उन्मादक किया है ।[6] राजवाडे के मतानुसार आहनस् का अर्थ – सुखदायी, प्रिय, रुचिकर एव आहन का – प्रिय बहन, है।[7] वस्तुत प्रस्तुत पद सोम के विशेषण के रूप मे आया है । सोम एक लता है, जिसका रस यज्ञ

---

1 मयि हि सर्व जगच्छुक्तौ रजतमिवाध्यस्त सद् दृश्यते । ऋग्वेद 10 125 1 सायण-भाष्य

2 आहनसमाहन्तव्यमभिषोतव्य यद्वा शत्रूणामाहन्तारम् । ऋग्वेद 10·125 2 सायण-भाष्य.

3 द्रष्टव्य, ऋग्वेद 2 13 1, 4 42 13, 9 75 5, 10·10 6–8 तथा इन पर सायणभाष्य

4 सोम आहना. भवति ग्रावभिराहन्यते यद्वा शत्रूनाहन्ति । ऋ 10 125 2, वेङ्कट माधवभाष्य

5 यास्क, निरुक्त 4 15

6 वही, 5 2

7 राजवाडे – निरुक्त का मराठी भाषान्तर, पृष्ठ 272

के समय निचोडा जाता है । मन्त्र मे सोम पद का प्रयोग तदधिष्ठात्री देवता के लिए किया गया है । इसका विशेषणभूत "आहनस" शब्द "हन्" धातु से निष्पन्न है, जिसका अर्थ हिसा करना या मारना है। अत विभिनन वैदिक प्रयोगो को दृष्टि मे रखते हुए उक्त पद का अर्थ उत्तेजना लाने वाला किया जा सकता है ।

[8] **त्वष्टारम्** :– त्वष्टा देवताओ का शिल्पी है । वह उनके लिए शस्त्रो का निर्माण करता है । यद्यपि उसके अन्य शारीरिक अङ्गो का वर्णन नही उपलब्ध होता, तथापि हाथो अथवा भुजाओ का, जिनके द्वारा वह शस्त्र–निर्माण करता है, प्राय वर्णन किया गया है । ऋग्वेद के एक मन्त्र मे उसे इन्द्र के वज्र का निर्माण करने का श्रेय प्रदान किया गया है ।[1] कुछ अन्य मन्त्रो मे भी इसी प्रकार के वर्णन उपलब्ध होते है ।[2] वह अनेक रूपो का निष्पादक है ।[3] ऋग्वेद मे ही उसे गर्भ मे दम्पती का निर्माता भी कहा गया है ।[4] वह मनुष्यो, पशुओ के गर्भस्थ बीज को विकसित करता है।[5] मैकडानेल के अनुसार त्वष्टा के विरुद प्राय उसके गुणो को प्रकट करते है, व्यक्तित्व को नही ।[6] इस प्रकार ऋग्वेद मे त्वष्टा एक कुशल कलाकार के रूप मे चित्रित है ।

[9] **सुप्राव्ये** .– यह पद सु + प्र + अव् + ई द्वारा निष्पन्न सुप्रावी शब्द की चतुर्थी एकवचन का रूप है । सायण ने इस पद का अर्थ – शोभन हवि से देवो को तृप्त करने वाले के लिए, किया है ।[7] अन्य स्थलो पर भी आए इसका अर्थ उन्होने यही किया है ।[8] वेङ्कटमाधव ने इस

---

1 त्वष्टा यद्वज्रं सुकृतं हिरण्ययं सहस्रभृष्टिं स्वपा अवर्तयत् । ऋग्वेद 1 85 9

2 त्वष्टास्मै वज्रं स्वर्यं ततक्ष । ऋग्वेद 1 32 2 तथा द्रष्टव्य 5 31 4, 6 17 10 इत्यादि

3 ऋग्वेद 3 5 19

4 ऋग्वेद10 10 5

5 ऋग्वेद 1 188 9

6 मैकडानेल – वैदिक माइथॉलाजी, पृष्ठ 166

7 शोभन हविर्देवाना प्रापयित्रे । ऋग्वेद 10 125.2 पर सायण-भाष्य

8 ऋग्वेद 1 83.1, 2 26 1, 4.25 5–6 तथा इनका सायण-भाष्य

पद का अर्थ – "भलीभाँति रक्षा करने वाले के लिए" किया है ।[1] पीटर्सन ने इसका अर्थ पवित्र तथा ग्रिफिथ ने उत्साही किया है ।[2] ह्विटने ने इसका अर्थ अत्यधिक उत्साही किया है ।[3] इस शब्द मे वर्तमान "अव्" धातु रक्षा या सहायता करने के अर्थ मे होती है, अत मूल धातु तथा अन्य व्याख्याओ के आलोक मे इसका अर्थ भलीभाँति रक्षा या सहायता के योग्य करना ही समीचीन प्रतीत होता है । इस सम्बन्ध मे एक बात और ध्यातव्य है कि यज्ञकर्त्ता, देवताओ द्वारा रक्ष्य होता है ।

(10) **राष्ट्री** :– तृतीय मन्त्र मे स्थित इस पद को सायण ने ईश्वर का नाम मानते हुए इसका अर्थ – सम्पूर्ण जगत् की ईश्वरी, किया है ।[4] निघण्टु मे यह ईश्वर के नामो मे पठित है ।[5] वेङ्कट माधव इसका अर्थ "ईशित्री" करते है ।[6] विल्सन, ग्रिफिथ, पीटर्सन, ह्विटने आदि पाश्चात्त्य विद्वान् इसका अनुवाद रानी (क्वीन) करते है ।[7] विचार करने पर यह पद राजन् शब्द के स्त्रीलिङ्ग रूप के लिए प्रयुक्त प्रतीत होता है । अत इसका अर्थ "रानी" किया जा सकता है । यह रानी, राजा की पत्नी न होकर स्वय शासन करने वाली है अत इसे शासिका भी कह सकते है ।

(11) **सङ्गमनी** – सायण ने इस पद का अर्थ – "उपासको के पास पहुँचाने वाली" किया है[8] तथा वेङ्कट माधव भी यही अर्थ स्वीकार करते है ।[9] विल्सन, ग्रिफिथ, पीटर्सन आदि विद्वानो ने इसका अर्थ – एकत्र या सङ्ग्रह करने वाली माना है ।[10] वसूना, पद के साथ इसे सयुक्त

---

1 सुष्ठु प्ररक्षति इति सुप्रावी । ऋग्वेद 10 125 2 पर वेङ्कट माधव-भाष्य.

2 द्रष्टव्य – ऋग्वेद 10 125 2 पर पीटर्सन एव ग्रिफिथ के अनुवाद

3 Very Zealous. ह्विटने, नोट्स टू कोलेब्रूक्स – एसे ऑन द वेदाज, पृष्ठ 113

4 सर्वस्य जगत ईश्वरी । ऋग्वेद 10 125 3 पर सायण भाष्य

5 निघण्टु – 2 22 1.

6 ऋग्वेद 10 125 3 पर वेङ्कट माधव का भाष्य

7 द्रष्टव्य – ऋग्वेद 10 125 3 पर विल्सन, ग्रिफिथ, पीटर्सन, ह्विटने के अनुवाद

8 सङ्गमयित्र्युपासकाना प्रापयित्री । वही, सायण-भाष्य

9 वही, वेङ्कट माधव का भाष्य

10 द्रष्टव्य, वही, विल्सन, ग्रिफिथ तथा पीटर्सन के अनुवाद

करने से इसका अर्थ – "एकत्र करने वाली" करना ही उचित प्रतीत होता है ।

(12) **चिकितुषी** – सायण ने इसका अर्थ – परब्रह्म को जानने वाली, किया है ।[1] ग्रिफिथ ने विचारवती और पीटर्सन ने इसका अनुवाद जानने वाली किया है ।[2] वस्तुत इस पद को "यज्ञियाना प्रथमा" के साथ अन्वित कर के पूज्यो मे प्रथम ज्ञानवाली, यह अर्थ करना उचित है ।

(13) **भूरिस्थात्राम्** – (भूरि + स्था + त्रल + टाप्) सायण ने इसका अर्थ नाना भाव से प्रपञ्च के रूप मे अवस्थित किया है ।[3] वेङ्कट माधव ने इस पद का अर्थ बहुत स्थान वाली किया है ।[4] पीटर्सन ने इसका अर्थ – मुझे हर स्थान पर निवास करवाते हुए तथा ग्रिफिथ ने – अनेक घरो मे किया है ।[5] वस्तुत इसका अर्थ अनेक स्थलो पर रहने वाली ही करना सङ्गत प्रतीत होता है ।

(14) **भूर्यावेशयन्तीम्** – (भूरि + आ + विश् + णिच् + शतृ + ङीप्, द्वितीया एकवचन) आचार्य सायण ने इसका अर्थ – अनेक भूतो मे जीवभाव से स्वय को प्रवेश कराती हुई, किया है[6], किन्तु वेङ्कट माधव दूसरा अर्थ प्रस्तुत करते है । उनके अनुसार "बहुतो को अपने मे प्रवेश कराती हुई" यह अर्थ इष्ट है ।[7] ग्रिफिथ, पीटर्सन इत्यादि विद्वानो ने इसका शाब्दिक अर्थ न देते हुए केवल भावार्थ का ही ग्रहण किया है ।[8] सायण तथा वेङ्कट माधव इन दोनो आचार्यों के अर्थों मे पार्थक्य

---

1 यत्साक्षात् कर्त्तव्य पर ब्रह्म तज्ज्ञातवती । वही, सायण-भाष्य

2 वही, ग्रिफिथ और पीटर्सन के अनुवाद

3 बहुभावेन प्रपञ्चात्मनावतिष्ठमानाभ् । वही, सायण-भाष्य

4 बहुस्थानाम् । वही, वेङ्कट भाष्य

5 वही, पीटर्सन तथा ग्रिफिथ के अनुवाद

6 भूरीणि बहूनि भूतजातान्यावेशयन्ती जीवभावेनात्मान प्रवेशयन्तीम् ।
ऋग्वेद 10 125 3 पर सायण भाष्य

7 भूरि च स्वस्मिन् स्थाने आवेशयन्तीम् । वही, वेङ्कट माधव-भाष्य.

8 द्रष्टव्य, वही – पीटर्सन तथा ग्रिफिथ के अनुवाद

यही है कि एक के अनुसार वाक् भूतो मे प्रविष्ट हो रही है औरदूसरे के अनुसार भूत वाक् मे प्रविष्ट हो रहे है । यदि इन पर सूक्ष्मता से विचार किया जाय, तो दार्शनिक दृष्टि से कोई अन्तर नही प्रतीत होता । पुनरपि वाक् चित्स्वरूपा है, अत भूतो मे इसका प्रवेश करना अधिक सङ्गत प्रतीत होता है।

(15) पुरुत्रा :- इसके अर्थ के विषय मे विद्वानो मे कोई मतभेद नही है । निघण्टु मे पुरु शब्द का बहुवाची नामो मे परिगणन किया गया है ।[1] इस प्रकार इसका अर्थ - "अनेक स्थानो पर", करना उचित है ।

(16) मया स - सूक्त के चतुर्थ मन्त्र के प्रारम्भ मे आए हुए इन दोनो पदो के अन्वय को लेकर विद्वानो मे मतभेद है । सायण ने "मया सो अन्नमत्ति" के समान ही "य " सर्वनाम वाले वाक्यो को भी "स मया एव" के साथ जोडकर इन्हे एक वाक्य के रूप मे स्वीकार किया है।[2] वेङ्कट माधव "मया स अन्नमत्ति" को मुख्य वाक्य मानते हुए "य " से प्रारम्भ होने वाले वाक्यो को इस पर आश्रित स्वीकार करते है ।[3] ग्रिफिथ और पीटर्सन वेङ्कट माधव का अनुगमन करते हुए प्रतीत होते है ।[4] वास्तविकता यह है कि वाक् जीवरूप मे सबमे समाविष्ट है, अत प्रत्येक व्यक्ति द्वारा किया गया प्रत्येक कार्य वाक् द्वारा ही सम्पन्न होता है । इसलिए प्रस्तुत मन्त्र मे य से प्रारम्भ होने वाले सभी वाक्यो के अन्त मे "स मया" इस प्रकार अन्वय करते हुए, जो कोई कुछ भी करता है, वह मेरे द्वारा ही होता है, ऐसा अर्थ करना समीचीन है । इस दृष्टि से अन्नमत्ति के पूर्व "य " का अध्याहार उचित है ।

(17) अमन्तव: - (अ + मन् + तु, प्रथमा बहुवचन) सायण ने माम् का इसके साथ अन्वय करते हुए, "इस प्रकार अनतर्यामी रूप से वर्तमान मुझे न मानने न जानने वाले" यह अर्थ किया

---

1 निघण्टु - 3 1 3

2 योऽन्नमत्ति सा भोक्तृशक्तिरुपया मयैवान्नमत्ति । ऋग्वेद 10 125 4, सायण भाष्य

3 मया स अन्नमत्ति य चक्षुषा विपश्यति च प्राणिति । वही, वेङ्कट माधव भाष्य

4 वही, ग्रिफिथ एव पीटर्सन के अनुवाद

है । उन्होने इसका एक अन्य अर्थ – मुझ से सम्बद्ध ज्ञान से रहित, भी किया है ।[1] वेङ्कट माधव इसका अर्थ – अज्ञ, करते है ।[2] ग्रिफिथ और पीटर्सन ने इसका अर्थ – न जानने वाले किया है ।[3] अमन्तु शब्द मे विचारार्थक या मननार्थक मन् धातु है, अत इसका धातुज अर्थ – विचाररहित या मनन रहित होगा । इस प्रकार मन्त्र मे इसका अर्थ होगा – मेरे प्रति विचार रहित । विचाररहित होने के कारण अवमानना का भाव भी प्रकट होता है । अत प्रकृत स्थल पर इसका अर्थ – मुझे न मानने वाले, करना समीचीन है ।

[18] **उपक्षियन्ति** :– सायण ने इसका अर्थ "उपक्षीण" या ससार से रहित हो जाते है, किया है ।[4] स्पष्ट है कि उन्होने 'क्षि' धातु को क्षय होने के अर्थ मे माना है । इसके विपरीत वेङ्कट माधव ने इस धातु को निवास करने के अर्थ मे मानते हुए इसका अर्थ – मेरे पास वृथा निवास करते है, किया है ।[5] ग्रिफिथ ने इसी अर्थ का अनुगमन किया है,[6] किन्तु पीटर्सन ने इसका अर्थ – मेरे नियन्त्रण मे है, किया है ।[7] जहाँ तक निवासपरक अर्थ का सम्बन्ध है, यह उचित नही प्रतीत होता, क्योंकि जिस वाक् ने इसी सूक्त के छठे मन्त्र मे ब्रह्मद्विट् को मारने की बात कही है, वह यहाँ अपनी अवमानना करने वाले को अपने पास क्यो आने या निवास करने की बात कहेगी ? अत प्रकृत स्थल पर इसका अर्थ – मेरे पास या सम्मुख ही नष्ट हो जाते है, करना अधिक उचित प्रतीत होता है ।

---

1 अमन्तवोऽमन्यमाना अजानन्त । मद्विषयज्ञानरहिता । ऋग्वेद वही, सायण-भाष्य

2 अज्ञा । वही, वेङ्कट माधव-भाष्य

3 They know it not. द्रष्टव्य, वही, ग्रिफिथ एव पीटर्सन के अनुवाद

4 उपक्षीणा ससारेण हीना भवन्ति । वही, सायण-भाष्य

5 ते वृथा माम् उपनिवसन्ति । वही, वेङ्कट माधव-भाष्य

6 वही, ग्रिफिथ का अनुवाद

7 Are under my control., वही, पीटर्सन का अनुवाद

(19) श्रुधि :– यह पद "श्रु" धातु के लोट् लकार का छान्दस रूप है । प्राय सभी विद्वानो ने इसका अर्थ – "सुनो" किया है, जो सर्वथा उचित प्रतीत होता है ।[1]

(20) श्रुत – (श्रु + क्त, सम्बोधन) सायण ने इसका अर्थ – हे श्रुत विश्रुत सखे । किया है ।[2] वेङ्कट माधव ने भी इसे सम्बोधन का रूप ही माना है ।[3] ग्रासमान, पीटर्सन, ग्रिफिथ प्रभृति विद्वानो ने इसे श्रु धातु के लोट् लकार मध्यम पुरुष, बहुवचन का रूप माना है ।[4] यहाँ तक कि लुडविग ने श्रुत को श्रद्धिवम् के साथ जोडते हुए इन्हे एक पद मानने का सुझाव दिया है । ऐसा मानने पर इसका अर्थ होगा – परम्परा द्वारा विश्वसनीय । किन्तु इन दोनो पदो को एक मानना नितान्त अनुचित है । अत श्रुत को सम्बोधन मानना ही सम्मत है ।

(21) श्रद्धिवम् – सायण ने इसका अर्थ – श्रद्धा द्वारा प्राप्त करने योग्य, किया है।[5] वेङ्कट माधव इसे "श्रद्धेय" के अर्थ मे लेते हैं ।[6] ग्रिफिथ और पीटर्सन ने इसका अर्थ सत्य (क्रमश ट्रूथ और ट्रू) किया है ।[7] श्रत् का अर्थ भी श्रद्धा या विश्वास होता है । इस प्रकार यहाँ इसका अर्थ – "विश्वसनीय" करना समुचित है ।

(22) जुष्टम् – (जुष् + क्त) सायण ने पाँचवे मन्त्र मे आए इस पद का अर्थ – सेवित, किया है ।[8] उन्होने "इदम्" का अर्थ "ब्रह्मात्मक पदार्थ" किया है ।[9] उनके अनुसार दोनो को एक

---

1 द्रष्टव्य – वही, सायण, वेङ्कट माधव, विल्सन, ग्रिफिथ, पीटर्सन के अनुवाद

2 ऋग्वेद 10 125 4 सायण भाष्य

3 वही, वेङ्कट माधव-भाष्य

4 वही, ग्रासमान, पीटर्सन, ग्रिफिथतथा लुडविग के अनुवाद

5 श्रद्धि श्रद्धा । तया युक्तम् । श्रद्धायत्नेन लभ्यमित्यर्थ ।

6 श्रद्धेयम् । वही, वेङ्कट माधव-भाष्य

7 वही, ग्रिफिथ एव पीटर्सन के अनुवाद

8 जुष्ट सेवितम् । ऋग्वेद 10 125 5 पर सायण-भाष्य

9 इद वस्तु ब्रह्मात्मकम् । वही, सायण-भाष्य

साथ सयुक्त करने पर अर्थ होगा – मै देवताओ तथा मनुष्यो द्वारा सेवित ब्रह्मात्मक पदार्थ को बताती हूँ । ग्रिफिथ ने जुष्टम् का अर्थ स्वागत योग्य (सहर्ष ग्राह्य) किया है । पीटर्सन भी उन्ही का अनुगमन करते है ।[1] यद्यपि जुष् धातु का अर्थ – प्रीति और सेवन दोनो होते है, तथापि यहाँ प्रीति वाला अर्थ ग्राह्य होना चाहिए । सभी लोग वही वस्तु चाहते है, जो उन्हे पसन्द होती है, अत प्रकृत स्थल पर जुष्टम् का अर्थ – अभीष्ट या वाञ्छित करना, अधिक उचित है ।

(23) **उग्रम्** – (उच् + रन्) सायण ने प्रकृत स्थल पर इसका अर्थ – "सबसे अधिक", किया है ।[2] अन्यत्र उन्होने इसका अर्थ उद्गूर्ण या गहनविशेष किया है ।[3] विल्सन इसे भयानक के अर्थ मे प्रयुक्त मानते है ।[4] ग्रिफिथ ने इसका अर्थ शक्तिशाली (माइटी) तथा पीटर्सन ने मजबूत (स्ट्रांग) किया है ।[5] वस्तुत यहाँ उग्र का अर्थ शक्तिशाली करना ही उचित है, क्योकि शक्ति के अतिरिक्त प्राय अन्य प्रमुख गुणो से युक्त करने की प्रतिज्ञा वाक् ने इसी मन्त्र के अन्य पदो तथा अगले मन्त्रो मे भी की है । इसका अर्थ – सर्वश्रेष्ठ, मान लेने पर अग्रवर्ती गुणो की कोई प्रासङ्गिकता नहीं रह जाती है ।

(24) **ब्रह्माणम्** – सायण ने इस पद का अर्थ "स्रष्टा" किया है ।[6] नपुसकलिङ्ग के रूप मे आने वाले ब्रह्मन् शब्द का अर्थ – मन्त्र, सूक्त, प्रार्थना, स्तोत्र इत्यादि होता है ।[7] यहाँ यह पद पुल्लिङ्ग के रूप मे प्रयुक्त है, अत इसका अर्थ मन्त्रकर्त्ता होना चाहिए । ग्रिफिथ, पीटर्सन तथा विल्सन ने इसका अर्थ ब्रह्मन् किया है ।[8] मूर के मतानुसार ब्राह्मण जन्म अथवा स्वभाव से नही होता

---

1 Gods and men alike shall welcome वही, ग्रिफिथ का अनुवाद

2 सर्वेभ्योऽधिकम् । ऋग्वेद 10 125 5 सायण भाष्य

3. ऋग्वेद 10.121 5 पर सायण भाष्य

4 ऋग्वेद 10 125 5 पर विल्सन का अनुवाद

5 वही, ग्रिफिथ एव पीटर्सन के अनुवाद

6 ब्रह्माण स्रष्टार करोमि । वही, सायण भाष्य

7 द्रष्टव्य – ऋग्वेद 2 12 6

8 ऋग्वेद 10 125 5 पर ग्रिफिथ, पीटर्सन एव विल्सन के अनुवाद

था, अपितु वह देवी की कृपा से ही उस पद पर पहुँच पाता था ।[1] इस दृष्टि से सम्भव है, इसका अर्थ ब्राह्मण हो, किन्तु अगले दो पदो – ऋषि और सुमेधा की पृष्ठभूमि मे यहाँ इसका अर्थ मन्त्रकर्त्ता या स्तोता किया जा सकता है ।

(25) **ऋषिम्** – सायणने यहाँ इसका अर्थ – अतीन्द्रिय विषयो का द्रष्टा किया है ।[2] यास्क ने औपमन्यव के मत मे स्तोत्रदर्शको को ऋषि माना है ।[3] शतपथब्राह्मण के अनुसार भी जिन्होने श्रमपूर्वक तपश्चर्या की, वे ऋषि कहलाए ।[4] इस प्रकार तपस्या ऋषि बनने का एक हेतु था। मन्त्रदर्शन करना बिना तपस्या के सम्भव नही था । ऋग्वेद मे भी सप्तर्षियो द्वारा तपस्या करने की बात कही गई है ।[5] पीटर्सन ने ऋषि का अर्थ धर्मप्रवर्तक (प्रोफेट) और ग्रिफिथ ने ऋषि ही किया है ।[6]

(26) **रुद्राय** – सायण ने यहाँ रुद्राय का अर्थ "रुद्र का" किया है ।[7] उन्होने पौराणिक पृष्ठभूमि मे इसे त्रिपुर–विजय के समय शिव के युद्ध से सम्बद्ध किया है । ऋग्वेद मे रुद्र के हेति एव धनुष् को मारक कहा गया है ।[8] वाक् रुद्र का धनुष तानने मे सहायता करती है ।

(27) **ब्रह्मद्विषे** – सायण ने इसका अर्थ – ब्राह्मणो का द्वेषी, किया है ।[9] ग्रिफिथ ने इस पद का अर्थ भक्ति (डिवोशन) का द्वेषी तथा पीटर्सन ने ईश्वर का द्वेषी किया है ।[10] इस स्थल

---

1 मूर – ओरिजिनल सस्कृत टेक्स्ट, भाग – 1, पृष्ठ 246

2 ऋषिमतीन्द्रियार्थदर्शिन करोमि ।

3 ऋषिर्दर्शनात् स्तोमान्ददर्शेत्यौपमन्यव । यास्क – निरुक्त, 2 3 3

4 ये पुरास्मात् सर्वस्माद् इदमिच्छन्त श्रमेण तपसारिषन् तस्माद् ऋषय । शत 6.1 1 1

5 ऋग्वेद 10 109 4

6 ऋग्वेद 10 125 5 पर पीटर्सन एव ग्रिफिथ के अनुवाद

7 रुद्राय रुद्रस्य । षष्ठ्यर्थे चतुर्थी । ऋग्वेद 10 125 6 पर सायण भाष्य

8 ऋग्वेद 2 33 14 तथा 1 114 10

9 ब्राह्मणाना द्वेष्टारम् । ऋग्वेद 10 125 6 पर सायण भाष्य

10 द्रष्टव्य, वही, ग्रिफिथ एव पीटर्सन के अनुवाद

के अतिरिक्त सायण ने अन्यत्र इसका अर्थ वैकल्पिक रूप से मन्त्र तथा कर्म का द्वेषी किया है ।[1] कुछ अन्य मन्त्रो मे भी यह पद मन्त्रद्वेषी के अर्थ मे ही आया है ।[2] अत उक्त सन्दर्भों के आधार पर यहाँ भी इसका अर्थ – मन्त्रद्वेषी, करना ही उचित प्रतीत होता है ।

(28) **शरवे** – सायण ने इस पद का अर्थ – 'हिसक" किया है ।[3] उन्होने शरु को त्रिपुरनिवासी हिसक असुर माना है । इसके अतिरिक्त कुछ स्थलो पर उन्होने शरु का अर्थ वज्र किया है ।[4] ऋग्वेद मे ही दो अन्य स्थानो पर शरु शब्द 'हिसक" के अर्थ मे आया है ।[5] अत प्रकृत स्थल पर भी इसका अर्थ – "हिसक" करना सङ्गत प्रतीत होता है ।

(29) **समदम्** – सायण ने इसका अर्थ – "सङ्ग्राम" किया है ।[6] वेङ्कट माधव इस पद को "कलह" के अर्थ मे प्रयुक्त मानते है ।[7] ग्रिफिथ ने इसका अर्थ – युद्ध तथा पीटर्सन ने "कलह" या "सघर्ष" किया है । विल्सन भी इसे युद्ध के अर्थ मे ही मानते है ।[8] यहाँ वाक् के युद्ध करने का तात्पर्य यह है कि वह अपने याजको की रक्षा के लिए शब्द के माध्यम से तैयार रहती है तथा आवश्यकता पडने पर वस्तुत युद्ध भी करती है । इस मन्त्र की प्रथम दो पङ्क्तियो से भी वाक् की युद्धकारिता सिद्ध है ।

---

1 ऋग्वेद 2 23 4 तथा 5 42 9 पर सायण-भाष्य

2 ऋग्वेद 3 30 17, 6 52 3, 6 22 8 तथा 7 104 2

3 शरु हिसक त्रिपुरनिवासिनमसुरम् । ऋग्वेद 10 125 6 पर सायण-भाष्य

4 ऋग्वेद 1 100 18 तथा 2 12 10

5 ऋग्वेद 8 67 15 तथा 8 67 20

6 समान माद्यन्त्यस्मिन्निति समत् सङ्ग्राम । ऋग्वेद 10 125 6, सायण भाष्य

7 जनाय कलहम् । वही, वेङ्कट माधव

8 द्रष्टव्य, वही, ग्रिफिथ, पीटर्सन एव विल्सन के अनुवाद

(30) **पितरम्** – तैत्तिरीय ब्राह्मण मे द्यौ को पिता माना गया है ।[1] इसी आधार पर सायण ने भी यहाँ पिता का अर्थ द्यौ किया है ।[2] भारतीय परम्परा के अनुसार भी द्युलोक को सबका पिता तथा पृथ्वी को माता माना गया है । वेड्कट माधव ने इसका अर्थ – "आदित्य" किया है ।[3] ग्रिफिथ और पीटर्सन ने इसका सीधा अर्थ – "पिता" (फादर) ही लिया है ।[4] इस मन्त्र मे वाक् द्वारा पिता द्युलोक को जन्म देने की बात कही होने से यहाँ विरोधाभास अलड्कार की प्रसक्ति होती है ।

(31) **अस्य मूर्धन्** – सायण ने इसका अर्थ – "इस परमात्मा के ऊपर" किया है । इसका कारण प्रतिपादित करते हुए उन्होने बताया है कि "उस कारणभूत परमात्मा मे आकाश इत्यादि सारे कार्य, तन्तुओ मे पट के समान सदैव वर्तमान रहते है । उन्होने इसका एक वैकल्पिक अर्थ – "इस भूलोक के ऊपर" भी किया है ।[5] ग्रिफिथ ने इसका अर्थ – "जगत् की चोटी" (समिट) पर तथा पीटर्सन ने – "जगत् के ऊपर" किया है ।[6] इन अर्थो के परिसर मे वस्तुत इसका अर्थ "परमात्मा के ऊपर" न करके "इस जगत् के ऊपर" करना उचित प्रतीत होता है, क्योकि द्युलोक (रूपी) पिता ऊपर ही तो रहता है ।

(32) **योनि** – सायण ने "योनि " का अर्थ "कारण" किया है ।[7] वेड्कट माधव ने इसका अर्थ "गृहम्" किया है ।[8] ग्रिफिथ और पीटर्सन ने वेड्कट माधव का अनुगमन करते हुए इसे गृह का ही वाचक माना है ।[9] वस्तुत प्रकृत स्थल पर इसका अर्थ "उत्पत्तिस्थान" करना ही उचित

---

1 तैत्तिरीय ब्राह्मण 3 7 5 4

2 पितर दिवम् । ऋग्वेद 10.125 7 पर सायण-भाष्य

3 अह प्रेरयामि आदित्यम् । वही, वेड्कट माधव-भाष्य

4 वही, ग्रिफिथ एव पीटर्सन के अनुवाद

5 अस्य परमात्मो मूर्धन्युपरि । कारणभूते । तस्मिन् हि वियदादिकार्यजात सर्व वर्तते तन्तुषु पट इव । यद्वा अस्य भूतस्य (भूलोकस्य) मूर्धन्युपरि . । वही, सायण-भाष्य.

6 वही, ग्रिफिथ एव पीटर्सन के अनुवाद

7 योनि कारणम् । यद्ब्रह्म चैतन्य तन्मय कारणमिति । वही, सायण-भाष्य

8 वही, वेड्.कट माधव-भाष्य.

9 वही, ग्रिफिथ एव पीटर्सन के अनुवाद.

प्रतीत होता है । ज्ञातव्य है कि हिरण्यगर्भ की उत्पत्ति सलिल से बताई गई है । वह परमात्मस्वरूप है तथा वाक् ने परमात्मा के साथ अपना तादात्म्य स्थापित किया है ।

[33] **अप्सु अन्त समुद्रे** – इस मन्त्राश मे स्थित समुद्र शब्द की व्याख्या करते हुए आचार्य सायण ने बताया है कि "जिससे सारे प्राणी उत्पन्न हो, वह समुद्र अर्थात् परमात्मा" है । इस प्रकार उन्होने "समुद्र" का अर्थ परमात्मा किया है । उन्होने अप्सु का अर्थ "व्यापक धीवृत्ति" करते हुए उसके मध्य विद्यमान चैतन्य ब्रह्म को "वाक्" का कारण निरूपित किया है । उनके अनुसार "अप्सु अन्त " का सामान्य अर्थ "जलो के भीतर" भी ग्राह्य है । इनके अतिरिक्त एक और अर्थ उपन्यस्त करते हुए वे समुद्र अर्थात् अन्तरिक्ष मे, जलमय देवशरीरो मे वाक् के कारणभूत चैतन्यब्रह्म को प्रतिष्ठित करते है ।[1] सायण द्वारा प्रतिपादित ये सभी अर्थ आध्यात्मिक है । ग्रिफिथ और पीटर्सन इस मन्त्राश का अर्थ – "जलो के भीतर समुद्र में" ही करते है ।[2] वस्तुत सायण प्रतिपादित गूढ अर्थों की कल्पना करने की अपेक्षा सामान्य अर्थ – "जलो के भीतर समुद्र में" करना अधिक सङ्गत प्रतीत हो रहा है ।

[34] **अनुवितिष्ठे** – सायण ने इस क्रियापद का अर्थ, "समस्त भूतो मे प्रवेश करके विविध प्रकार से व्याप्त होकर स्थित होती हूँ" किया है । उन्होने इसका दूसरा अर्थ – "अपने कारण से युक्त होकर मैं सारे लोको को व्याप्त करती हूँ" किया है ।[3] ग्रिफिथ तथा पीटर्सन और विल्सन तीनो ने इसका अर्थ, प्रसृत होती हूँ, किया है ।[4] व्याप्त होने तथा प्रसृत होने मे कोई भेद नही है, अत इसका अर्थ – विविध प्रकार से व्याप्त होती हूँ, करना उचित है ।

---

1 समुद्द्रवन्त्यस्माद् भूतजातानि इति समुद्र परमात्मा तस्मिन् । अप्सु व्यापनशीलासु धीवृत्तिष्वन्तर्मध्ये यद् ब्रह्म चैतन्य तन्मम कारणमित्यर्थ । समुद्रे जलधावप्सूदकेष्वन्तर्मध्ये मम योनि । यद्वा समुद्रे अन्तरिक्षेऽप्स्वम्मयेषु देवशरीरेषु मम कारणभूत ब्रह्मचैतन्य वर्तते । वही, सायण-भाष्य

2 वही, ग्रिफिथ एव पीटर्सन के अनुवाद

3 भुवनानि भूतजातान्यनुप्रविश्य विविध व्याप्य तिष्ठामि । ततोऽह कारणात्मिका सती सर्वाणि भुवनानि व्याप्नोमि । वही, सायण भाष्य

4 वही, ग्रिफिथ, पीटर्सन और विल्सन के अनुवाद

॥35॥ **वर्ष्मणा** – सायण ने इसका अर्थ, "कारणभूत मायात्मक शरीर से" किया है ।[1] वेङ्कट माधव ने इसका अर्थ – "शरीर से" किया है ।[2] ग्रिफिथ ने इसे ललाट ॥फोरहेड॥ तथा पीटर्सन ने सिर ॥हेड॥ का द्योतक माना है ।[3] ऋग्वेद मे ही यह शब्द "ऊँचे प्रदेश" के अर्थ मे आया है ।[4] सायण ने स्वय एक स्थल पर इसका अर्थ "समुचित देश" किया है ।[5] वस्तुत वाक् ने इस मन्त्र मे अपने को आकाश से लेकर समुद्र पर्यन्त व्यापक बताया है । इसकी ऊँचाई का माप उसके उन्नत प्रदेश सिर की चोटी से लिया जा सकता है । अत यहाँ इसका अर्थ "शिखा" या "चोटी" करना उचित है ।

॥36॥ **सुवे** – सूक्त के सप्तम मन्त्र मे ही आए हुए इस क्रियापद का अर्थ सायण ने "उत्पन्न करती हूँ" किया है ।[6] इसके समर्थन मे वे तैत्तिरीय आरण्यक का वह वचन उद्धृत करते है जिसमे यह कहा गया है कि "आत्मा से आकाश उत्पन्न हुआ" ।[7] क्योकि वाक् परमात्मा के साथ तादात्म्य का अनुभव कर रही है,अत उसके द्वारा वे सभी कार्य करणीय होगे, जो परमात्मा द्वारा सम्पन्न किये जाते है । अथर्ववेद का भाष्य करते समय उन्होने "सुवे" का वैकल्पिक अर्थ "प्रेरयामि" भी किया है[8], जो प्रकृत स्थल पर वेङ्कट माधव के भाष्य के समान है ।[9] ग्रिफिथ ने इसका अनुवाद "प्रकट करती हूँ" ॥ब्रिगफोर्थ॥ तथा पीटर्सन ने "व्यवस्थित करती हूँ" ॥सेट ओवर॥ किया है ।[10]

---

1 वर्ष्मणा कारणभूतेन मायात्मकेन मदीयेन देहेन । वही, सायण-भाष्य

2 शरीरेण । वही, वेङ्कट माधव-भाष्य

3 वही, ग्रिफिथ और पीटर्सन के अनुवाद

4 ऋग्वेद 4 54 4

5 ऋग्वेद 10 63.4 पर सायण-भाष्य

6 सुवे प्रसुवे जनयामि । ऋग्वेद 10 125 7 पर सायण-भाष्य

7 आत्मन आकाश सम्भूत । तैत्तिरीय आरण्यक – 8 1

8 सुवे प्रेरयामि । अथर्ववेद 4 30 7 पर सायण-भाष्य

9 अह प्रेरयामि आदित्यम् । ऋग्वेद 10 125 7 पर वेङ्कट माधव-भाष्य

10 वही, ग्रिफिथ तथा पीटर्सन के अनुवाद

पिता होते हुए भी द्युलोक को ब्रह्मभावापन्न होकर वाक् का उत्पन्न करना अनुपपत्तिमूलक नही प्रतीत होता । अत प्रस्तुत सन्दर्भ एव अनेक उपरिनिर्दिष्ट व्याख्यानो के आलोक मे "सुवे" का अर्थ – उत्पन्न करने से ही मानना उचित प्रतीत होता है ।

(37) **आरभमाणा** :– सायण ने इसका अर्थ – "कारण रूप से उत्पन्न करती हुई"[1] तथा वेङ्कट माधव ने "सस्तम्भयन्ती" अर्थात् "व्यवस्थित करती हुई" किया है ।[2] ग्रिफिथ और पीटर्सन ने इसका अर्थ – "ग्रहण करती हुई" या अधिकृत करती हुई" किया है ।[3] ध्यातव्य है कि पिछले मन्त्र सख्या सात मे वाक् ने सर्वप्रथम पिता द्युलोक को उत्पन्न करने की बात कही है । उसके अनन्तर शेष जगत् की सृष्टि अपेक्षित है । अत "आरभमाणा" का अर्थ "प्रारम्भ करती हुई" अथवा "सृष्टि प्रारम्भ करती हुई" करना अधिक समीचीन है ।

(38) **प्रवामि** – सायण ने इसका अर्थ "प्रवर्ते" अर्थात् "स्थित होती हूँ" या "रहती हूँ" किया है ।[4] ग्रिफिथ ने इस पद का अर्थ "गहरी सॉस लेती हूँ" (ब्रीद ए स्ट्राग ब्रेथ) तथा पीटर्सन ने "बहती हूँ" (आई ब्लो) किया है । वस्तुत यहाँ वायु के समान बहने का तात्पर्य अधिक क्रियाशील होने से है । वायु को शीघ्रगामी देवता कहा गया है ।[5] वाक् को इस विशाल भुवन की सृष्टि करनी है, अत उसे वायु के समान क्रियाशील होना आवश्यक है ।

(39) **परो दिवा पर एना पृथिव्या** – यहाँ पर पर का प्रयोग परस्तात् के अर्थ मे किया गया है । वाक् ने अपने को द्युलोक तथा पृथिवी से परे बताया है । सायण ने इसे उपलक्षण मानते हुए

---

1 आरभमाणा कारणरूपेणोत्पादयन्ती । ऋग्वेद 10 125 8, सायण भाष्य

2 वही, वेङ्कट माधव भाष्य

3 Taking hold. वही, ग्रिफिथ एव पीटर्सन के अनुवाद

4 प्रवामि प्रवर्ते । वही, सायण भाष्य

5 "वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता" । तैत्तिरीय सहिता 5 1 8 1

वाक् को सारे विकारो से परे असङ्ग–उदासीन–ब्रह्मचैतन्यरूपिणी प्रतिपादित किया है ।[1] वस्तुत वाक् के इस द्यावापृथिवी से परे होने से उसके "परा" रूप का सङ्केत प्राप्त होता है । वाक् का "परा" रूप गुहा मे निहित बताया गया है । उसका तुरीय पक्ष ही मनुष्यो के लिए सुलभ है ।[2]

वाक्सूक्त के अध्ययन से यह ज्ञात होता है कि इस सृष्टि का आधार "वाक्" ही है । इस सूक्त मे ऋषिका वाक् ने अपने को ससार की कर्त्री तथा परम शक्ति के रूप मे चित्रित किया है । वह जिसे भी जो कुछ चाहती है, बना देती है । मनुष्य के समस्त कार्य वाक् द्वारा ही सञ्चालित होते है । यहाँ तक कि खाना–पीना, श्वास लेना आदि सभी क्रियाएँ उसी की प्रेरणा तथा शक्ति द्वारा सम्भव है । वह ससार की शासिका है, धन एकत्र करने वाली है तथा पूज्यो मे प्रथम ज्ञानवती है, वह समस्त जगत् की उत्पादिका होती हुई पूरे विश्व मे विविध रूपो मे व्याप्त हो जाती है । सभी देवी–देवता ब्रह्मस्वरूपा वाक् के ही विविध रूप अथवा उसकी ही विभिन्न शक्तियाँ है । यहाँ तक कि उसे स्वय देवताओ ने कई रूपो मे पृथक्–पृथक् स्थापित किया ।

इस प्रकार हम देखते है कि वाक् सूक्त का दार्शनिक दृष्टि से भी काफी महत्त्वपूर्ण स्थान है । वाक् ब्रह्मस्वरूपा ही है । इसीलिए सर्वत्र व्याप्त हो पाना उसके लिए सम्भव है । इस सूक्त मे हमे "वाक्", जगत् के अनादि कारण के रूप मे प्रतिष्ठित प्रतीत होती है । "वाक्" की इन महत्ताओ से प्रभावित होकर परवर्त्ती साहित्य मे हमे इसके नाना रूप उपलब्ध होते हैं । यही पराशक्ति वाक्, महेश्वरी, जगदीश्वरी, परमेश्वरी, लक्ष्मी, सरस्वती, दुर्गा आदि नामो से अभिहित की जाती है । उसके दण्डात्मक उग्ररूप के परिणामस्वरूप ही पुराणो मे चण्डी की प्रभूत प्रतिष्ठा की गई है ।[3] श्री दुर्गासप्तशती के अन्तर्गत उपनिबद्ध मूर्त्तिरहस्य मे ससार को देवीमय तथा देवी को

---

1 द्यावापृथिव्योरुपादानमुपलक्षणम् । एतदुपलक्षितात् सर्वस्माद् विकारजातात् परस्ताद् वर्तमाना–सङ्गोदासीनकूटस्थब्रह्मचैतन्यरूपाहम् । ऋग्वेद 10 125 8, सायण-भाष्य

2 ऋग्वेद 1.164 45 तथा इस पर सायण-भाष्य

3 उग्रचण्डा प्रचण्डा च चण्डोग्रा चण्डनायिका ।
चण्डा चण्डवती चैव चण्डरूपाति चण्डिका ।।
कालिका पुराण अध्याय 59 तथा मत्स्यपुराण, अध्याय 263

विश्वरूपा कहा गया है ।[1] वाक्, शब्दरूप मे समस्त जगद्व्यवहार मे अनुस्यूत है । इसीलिए आचार्य अभिनवगुप्त ने सृष्टि मे समाई हुई वाक् की स्तुति करते हुए कहा है –

तव च का किल न स्तुतिरम्बिके सकलशब्दमयी किल ते तनु ।
निखिलमूर्त्तिषु मे भवदन्वयो मनसिजासु बहि प्रसरासु च ।।
इति विचिन्त्य शिवे शमिताशिवे जगति जातमयत्नवशादिदम् ।
स्तुतिजपार्चन चिन्तनवर्जिता न खलु काचन कालकलास्ति मे ।।[2]

---

1 सर्वरूपमयी देवी सर्व देवीमय जगत् ।
अतोऽह विश्वरूपा ता नमामि परमेश्वरीम् ।। श्री दुर्गासप्तशती, मूर्त्तिरहस्य ।

2 श्री दुर्गा सप्तशती (गीता प्रेस गोरखपुर) के अन्तिम पृष्ठ 240 पर उद्धृत ।

अध्याय – 8

नासदीय सूक्त (ऋग्वेद 10 129) एवं उसका दार्शनिक पक्ष

(क) नासदीय सूक्त

(ख) सूक्तस्थ विभिन्न पदो की समीक्षा

(1) असत् तथा सत्
(2) रजस्
(3) व्योमा
(4) आवरीव
(5) शर्मन्
(6) अम्भ किमासीत्
(7) मृत्यु और अमृत
(8) न रात्र्या अह्न आसीत्प्रकेत
(9) आनीदवात स्वधया तदेकम्
(10) तम आसीत्तमसा गूळ्हमग्रे
(11) अप्रकेत सलिलम्
(12) तुच्छ्येन
(13) आभु
(14) तपस्
(15) काम
(16) मनसो रेत
(17) सतो बन्धुमसति निरविन्दन्
(18) अध स्विदासीदुपरि स्विदासीत्
(19) रेतोधा
(20) महिमान
(21) स्वधा
(22) प्रयति
(23) अर्वाग्देवा अस्य विसर्जनेन
(24) यो अस्याध्यक्ष परमे व्योमन्

(ग) नासदीय सूक्त मे निहित दार्शनिक सिद्धान्त

(1) सदसद्वाद
(2) रजोवाद
(3) व्योमवाद
(4) परावरवाद
(5) आवरणवाद
(6) अम्भोवाद
(7) अमृत–मृत्युवाद
(8) अहोरात्रवाद
(9) देववाद
(10) सशयवाद

(क) नासदीय सूक्त –

ऋग्वेद के दशम मण्डल का एक सौ उन्तीसवाँ सूक्त सृष्टि–विद्या से सम्बद्ध है । "नासत्" शब्द से प्रारम्भ होने के कारण इसे "नासदीय सूक्त" कहा जाता है । इस सूक्त के ऋषि "परमेष्ठी प्रजापति" तथा देवता "परमात्मा" है । इसमे त्रिष्टुप् छन्द मे उपनिबद्ध सात ऋचाएँ है ।[1] इस सूक्त को "भाववृत्त" के नाम से भी जाना जाता है । पूरे वैदिक साहित्य मे यह सूक्त अनुपम है । हिरियन्ना के अनुसार इसे "भारतीय विचारधारा का पुष्प" कहा गया है ।[2] इसमे एकत्ववादी विचारधारा का सार दृष्टिगत होता है । वैदिक ऋषियो ने "एकदेववाद" या "एकेश्वरवाद" से भी असन्तुष्ट होकर विश्व की अनेकता मे एकता को देखा । एक ही सूत्र मे सभी वस्तुएँ पिरोयी हुई है। विविध घटनाएँ नियमो के अधीन है और वे नियम परस्पर सम्बद्ध है ।

यदि जगत् को ईश्वर से पूर्णत भिन्न माना जाय, तो दोनो मे कोई आन्तरिक सम्बन्ध नही हो सकता । इस प्रकार एक को दूसरे का नियन्ता नही कहा जा सकता । जगत् के शाश्वत क्रम तथा नियमबद्धता के लिए इससे बाहर के पदार्थ को उत्तरदायी नही ठहराया जा सकता है । प्रस्तुत सूक्त मे ऋषि दार्शनिक कारणता के सिद्धान्त को स्पष्टत स्वीकार करता है । वह सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति का एक मूल कारण मानकर उसके स्वरूप को निर्धारित करने का प्रयास भी करता है । वह जगत् को प्रथम कारण के स्वत विस्तार के रूप मे देखता है । सूक्त मे प्रयुक्त "तत्" और "एकम्" इन दो पदो से अद्वैत तत्त्व का स्पष्टत निर्देश प्राप्त होता है । यह "तत्" ही इस जगत् का मूल कारण है । यह अद्वितीय है । यह सर्वोच्च तत्त्व है । इसे ही "एकम्" कहा जाता है । "एकम्" प्राणस्वरूप और परात्पर ब्रह्म है । यह पूर्ण है तथा इससे ऊपर किसी भी तत्त्व का अस्तित्व नही है । यद्यपि इस सूक्त मे स्पष्टत ब्रह्म शब्द का उल्लेख नही है, तथापि अन्य प्रतीकात्मक शब्दो द्वारा उसका निर्देश प्राप्त होता है ।

---

1 सूक्त के सभी मन्त्र तथा उनके हिन्दी अनुवाद परिशिष्ट "क" मे दिये गए है ।

2 हिरियन्ना एम – भारतीय दर्शन की रूपरेखा (हिन्दी अनुवाद), पृष्ठ 41

(ख) सूक्तस्थ विभिन्न पदो की समीक्षा –

प्रस्तुत सूक्त के कथ्य को पूर्णत समझने के लिए इसमे वर्तमान विभिन्न गम्भीर पदो की समीक्षा अपेक्षित है । इस दृष्टि से निम्नलिखित शब्द विचारणीय है ।

(1) असत् तथा सत् – आचार्य सायण ने "असत्" को ससार का मूल कारण मानते हुए उसे शशविषाणवत् अस्तित्वहीन नही माना है, क्योंकि अस्तित्वहीन कारण से इस सत्तात्मक जगत् की उत्पत्ति सम्भव नही है । उनके अनुसार मन्त्र मे "सत्" एव "असत्" के निषेध द्वारा प्रलयावस्था मे मूल कारण की अनिर्वाच्यता प्रतिपादित की गई है ।[1] इस दृष्टि से सायण–मतानुसार इस अनिर्वाच्यता मे वेदान्त दर्शन की सदसद्विलक्षण माया का एक अस्पष्ट सड्.केत ग्रहण किया जा सकता है । वेड्.कट माधव ने यहाँ "असत्" का अर्थकारण और "सत्" का अर्थ "कार्य" करते हुए यह प्रतिपादित किया है कि प्रलयावस्था मे परिदृश्यमान कार्यवर्ग और कारणवर्ग नही था ।[2] इसके अतिरिक्त अर्थान्तर प्रस्तुत करते हुए उन्होने "असत्" को प्राण एव "सत्" को अन्तरिक्ष का वाचक भी माना है ।[3] ग्रिफिथ ने "असत्" उसे माना है, जो वस्तुत अस्तित्व नही ग्रहण करता हो, किन्तु जिसमे अस्तित्व ग्रहण करने की क्षमता विद्यमान हो ।[4] विल्सन ने सत् और असत् को दृश्यमान और अदृश्यमान अस्तित्व मानते

---

1 तदानी प्रलयदशायामवस्थित यदस्य जगतो मूलकारण तत् असत् शशविषाणवन्निरूपाख्य न आसीत् । न हि तादृशात् कारणादस्य सतो जगत उत्पत्ति सम्भवति । तथा नो सत् नैव सदात्मवत् सत्त्वेन निर्वाच्यम् आसीत् । यद्यपि सदसदात्मक प्रत्येक विलक्षण भवति तथापि भावाभावयो सहावस्थानमपि सम्भवति । कुतस्तयो तादात्म्यमिति उभयविलक्षणमनिर्वाच्य–मेवासीदित्यर्थ । ऋग्वेद 10 129 1 पर सायण-भाष्य

2 असत्–शब्द कारणवचन । सत्–शब्द कार्यवचन । अय परिदृश्यमान कार्यवर्ग, कारणवर्गश्च न अभूत् । वही, वेड्.कट माधव-भाष्य

3 वही, वेड्.कट माधव- भाष्य

4 Asat, that does not yet actually exist, but which has ın itself the latest potentıalıty of existence. वही, ग्रिफिथ की टिप्पणी

हुए उन्हे भूततत्त्व और आत्मतत्त्व (प्रकृति और पुरुष) कहा है, किन्तु वैदिक विचारधारा मे जो साख्य दर्शन के समान परस्पर भिन्न न होकर एक ही है ।[1] उन्होने आगे इसे और स्पष्ट करते हुए कहा है कि सत् और असत् का निषेध करने का तात्पर्य यही है कि उस समय न तो भूततत्त्व का अस्तित्व था और न आत्मतत्त्व का ।[2] शतपथब्राह्मण मे प्रकृत स्थल की व्याख्या करते हुए कहा गया है – आरम्भ मे न तो यह असत् था और न ही सत् था । आरम्भ मे यह था भी और नही भी था । तब यह केवल वह मन ही था । इसीलिए ऋषि द्वारा कहा गया है – तब न असत् था और न सत् था । क्योकि मन न तो सत् था और न असत् ।[3] इस प्रकार शतपथब्राह्मण ने भी आदिम तत्त्व को मनोरूप मानते हुए उसे अनिर्वचनीय स्वीकार करने के ही सङ्केत दिये है । सत् और असत् पर विचार करते हुए राधाकृष्णन् ने कहा है – सत् भी उस समय अपने अभिव्यक्त रूप मे नही था । केवल इसीलिए हम उसे असत् नही कह सकते, क्योकि वह एक निश्चित सत्ता है, जिससे सब सत् पदार्थ आविर्भूत हुए । पहली पङ्क्ति मे हमारे सिद्धान्तो की अपूर्णता प्रदर्शित की गई है । परमसत्ता को, जो समस्त विश्व की पृष्ठभूमि मे है, हम सत् अथवा असत् किसी भी रूप मे ठीक–ठीक नही जान सकते । वह ऐसी सत्ता है, जो अपने ही सामर्थ्य से बिना श्वास–प्रश्वास की क्रिया के जीवित है ।[4] स्पष्ट है कि राधाकृष्णन् भी उस सत्ता को अनिर्वचनीय मानने के पक्ष मे ही है । प्रारम्भ मे

---

1 .....Visıble and ınvisıble exıstence, or ın Hındu cosmology to matter and spırit (Prakrıtı and Purusha) whıch in the Vedıc system would not, as inthe Sankhya have a dıstınct exıstence.....

विल्सन – ऋग्वेद संहिता, भाग 6, पृष्ठ 435

2 .....But that nothıng else exısted, neither matter nor spırıt.....वही, पृष्ठ 435

3 नेव वा इदमग्रेऽसदासीन्नेव वा सदासीत् । आसीदिव वा इदमग्रे नेवासीत् । तद्ध तन्मन एवास। तस्मादेतदृषिणाभ्यनुक्तम् – नासदासीन्नो सदासीत्तदानीम् । नेव हि सन्मन नेवासत् । शतपथब्राह्मण 10 5 3 1 2

4 राधाकृष्णन्, डॉ सर्वपल्ली – भारतीय दर्शन (हिन्दी अनुवाद) भाग – 1, पृष्ठ 92

सत् और असत् के निषेध मे बौद्धदर्शन के शून्यवाद की झलक देखी जा सकती है, जिसमे परमतत्त्व या शून्य को सत्, असत्, उभय और अनुभय से पृथक् माना गया है ।[1] उदयवीर शास्त्री ने सत् का अर्थ व्यक्त और असत् का अव्यक्त किया है ।[2]

वस्तुत प्रकृत स्थल पर असत् को कारण तथा सत् को कार्य मानना उचित प्रतीत होता है। सत् का अर्थ पारमार्थिक मूलभूत सत् नही, वरन् दृष्टिगत पृथिवी आदि भाव है । सृष्टि के पूर्व पृथिवी इत्यादि विद्यमान नही थे यही अभिप्राय है । इन दोनो का निषेध करने का तात्पर्य यही है कि प्रलयावस्था मे कारण–कार्यभाव नही था, अत किसी प्रकार की भी सृष्टि दृश्यमान नही थी । यदि यहाँ असत् को तमोगुण, सत् को सत्त्वगुण तथा मन्त्र मे ही अग्रवर्त्ती पद रजस् को रजोगुण मान लिया जाए, तो साख्यदर्शन की प्रकृति का स्वरूप हमारे सम्मुख उपस्थित हो जाता है । ऐसी स्थिति मे सृष्ट्यारम्भ मे तीनो गुणो के अभाव–प्रतिपादन द्वारा ऋषि तीनो की साम्यावस्था को प्रकट करना चाहता है । जब ये तीनो गुण प्रकृति मे ही रहते है, बाहर आविर्भूत नही होते, उसे ही प्रकृति की साम्यावस्था या प्रलयावस्था कहते है । सत्त्व, रजस् तथा तमस् की यही साम्यावस्था प्रकृति है ।[3]

{2} रजस् – सायण ने निरुक्त को उद्धृत करते हुए रजस् का अर्थ पाताल से लेकर पृथिवी पर्यन्त लोक किया है ।[4] विल्सन ने इसका अर्थ "विश्व" तथा ग्रिफिथ ने "अन्तरिक्ष" किया है ।[5] वस्तुत जब उस प्रलयावस्था मे कारण तथा कार्य कुछ भी नही थे, तो इन कार्यभूत लोको का

---

1 न सन्नासन्न सदसन्नचाप्यनुभयात्मकम् ।
चतुष्कोटिविनिर्मुक्त तत्त्व माध्यमिका विदु ।। नागार्जुन, माध्यमिक कारिका, 1 7

2 शास्त्री, उदयवीर – साख्यसिद्धान्त, पृष्ठ 352

3 सत्त्वरजस्तमसा साम्यावस्था प्रकृति । साङ्ख्यप्रवचनसूत्र 1 61

4. व्योम्नो वक्ष्यमाणत्वात्तस्याधस्तना पातालादय पृथिव्यन्ता नासन्नित्यर्थ । तथा व्योम अन्तरिक्ष तदपि नो नैवासीत् । व्योम्न परस्तादुपरिदेशे द्युलोकप्रभृतिसत्यलोकान्त यदस्ति तदपि नासीदित्यर्थ । ऋग्वेद 10 129 1 सायण भाष्य

5 वही, विल्सन तथा ग्रिफिथ के अनुवाद.

अस्तित्व कैसे हो सकता है ? अत यहाँ रजस् पद लोको के लिए प्रयुक्त है । प्रकृतिपरक अर्थ मे इसे रजोगुण कहा जा सकता है ।

(3) व्योमा – सायण ने इसका अर्थ "अन्तरिक्ष" करते हुए इसके साथ परस्तात् का अन्वय करके अन्तरिक्ष से भी उपरिवर्त्ती द्युलोक, सत्यलोक इत्यादि की सत्ता का भी निषेध किया है।[1] विल्सन सायण का ही अनुगमन करते है, किन्तु ग्रिफिथ ने परस्तात् का अन्वय रजस् के साथ करते हुए इसका अर्थ – "अन्तरिक्ष से परे आकाश भी नही था", किया है ।[2] वस्तुत यहाँ व्योमा का अर्थ आकाश करना ही उचित प्रतीत होता है तथा परस्तात् का अन्वय रजस् के साथ करना चाहिए ।

(4) आवरीव – सायण ने इसका अर्थ – "आवरक भूतजात" किया है ।[3] विल्सन और ग्रिफिथ भी उन्ही का अनुगमन करते है ।[4] पण्डित रामगोविन्द त्रिवेदी इसका अर्थ ब्रह्माण्ड करते है ।[5] वास्तविकता यह है कि उस समय जब आवृत होने योग्य कोई सृष्टि हुई ही नही थी, तो आवरण का प्रश्न ही नही उठता, चाहे वह आवरण ब्रह्माण्ड हो या अन्य कोई तत्त्व ।

(5) शर्मन् – यह पद सप्तमी एकवचन मे है । सायण ने इसका अर्थ सुखदु ख रूपी भोग से लिया है । उनके अनुसार यह भोक्तृप्रपञ्च का द्योतक है तथा भोग्यप्रपञ्च के समान ही यह भी उस समय नही था ।[6] ग्रिफिथ ने इसका अर्थ "आश्रय" किया है ।[7] त्रिवेदी ने भी इसे स्थानवाचक माना है ।[8] वस्तुत "कुह कस्य शर्मन्" इस प्रकार अन्वय करते हुए – "कौन कहाँ किसके आश्रय मे था", यह अर्थ करना ही उचित प्रतीत होता है ।

---

1 ऋग्वेद 10.129 1 पर सायण-भाष्य

2 No sky beyond it. वही, ग्रिफिथ का अनुवाद

3. आवरणीय तत्त्वमावरकभूतजातम् आवरीव । वही, सायण-भाष्य

4. वही, ग्रिफिथ एव विल्सन के अनुवाद.

5 हिरियन्ना, एम – भारतीय दर्शन की रूपरेखा (हिन्दी अनुवाद), पृष्ठ 41 पर उद्धृत

6 शर्मणि सुखदु खसाक्षात्कारलक्षणे भोगे निमित्तभूते सति । एतेन भोग्यप्रपञ्चवत् भोक्तृप्रपञ्चोऽपि तदानी नासीदित्युक्त भवति । वही, सायण-भाष्य

7 What gave shelter? वही, ग्रिफिथ का अनुवाद

8 वही, उद्धरण क्रमाङ्क 5 द्रष्टव्य है

{6} अम्भ किमासीत् ·– सृष्टि के आरम्भ मे {प्रलयावस्था में} असत्, सत्, लोक, आकाश–अन्तरिक्ष तथा इनके आवरणादि के अस्तित्व का निराकरण करने के पश्चात् ऋषि उस समय जल के अस्तित्व के बारे मे प्रश्न उपस्थित कर रहा है । यद्यपि आवरण सहित ब्रह्माण्ड के अस्तित्व का निषेध करने के पश्चात् उसी के अन्तर्गत आने वाले जल का भी निषेध स्वय सिद्ध है, तथापि कुछ ऐसी उद्धृतियाँ प्राप्त होती है, जिनमे सृष्टि के आरम्भ मे अथवा प्रथम सृष्टि के रूप मे जल की उद्भावना की गई है । ऐसे स्थलो मे शतपथब्राह्मण[1], तैत्तिरीय सहिता[2], हरिवश पुराण[3] और मनुस्मृति[4] तथा ऋग्वेद[5] के नाम लिये जा सकते है । इन उद्धरणो के आधार पर कोई प्रलयावस्था मे भी जलो के सद्भाव की आशङ्का कर सकता है । इसी आशङ्का के निराकरण के लिए ऋषि ने यह प्रश्न उठाया कि क्या उस समय अथाह गहरा जल था ?[6] उत्तर स्वरूप ध्वनि यही है कि जल भी नही था ।

{7} मृत्यु और अमृत – उक्त तत्त्वो का निषेध करने के बाद मृत्यु और अमृत अर्थात् अमरता के अस्तित्व का प्रश्न उपस्थित होता है । सायण के अनुसार सभी प्राणियो द्वारा उपभोग के कारणभूत सारे कर्मों का भोग प्राप्त कर लेने के बाद परमेश्वर के मन मे यह विचार आता है कि यह जगत् भोग का अभाव होने के कारण निष्प्रयोजन है । इसी तरह मृत्यु भी सारे ससार का सहार करता है, अत इस सहर्त्ता मृत्यु से भी क्या प्रयोजन ? ऐसी स्थिति मे इस मृत्यु का अभाव उत्पन्न करने वाले अमरण अथवा अमरता से भी क्या प्रयोजन है ?[7] जब मृत्यु की ही सत्ता स्थित नही होगी तो अमरता की कल्पना करना ही व्यर्थ है । इस प्रकार मन्त्र मे मृत्यु और अमरता दोनो के ही अस्तित्व का निषेध किया गया है ।

---

1 आपो ह वाऽइदमग्रे सलिलमेवास । शतपथब्राह्मण, 11 1 6 1

2 आपो वा इदमग्रे सलिलमासीत् । तैत्तिरीय सहिता, 7 1 5 1

3 निराकाशे तोयमये सूक्ष्मे जगति गह्वरे । हरिवश पुराण, 3 11

4 अप एव ससर्जादौ । मनुस्मृति, 1 8

5 ऋग्वेद 10·121 7, 7 49·4, 2 35·13, 10 82 5–6 इत्यादि

6 द्रष्टव्य, ऋग्वेद 10 129 1 सायण-भाष्य.

7 सर्वेषा प्राणिना परिपक्व भोगहेतुभूत सर्व कर्म यदोपभुक्तमासीत् तदा भोगाभावान्निष्प्रयोजनमिद जगदिति परमेश्वरस्य मनसि सजिहीर्षा जायते । तथैव स मृत्यु सर्व जगत्सहरत इति किमनेन मृत्युना सहर्त्रा तदभावकृत वा कथममरण स्यादिति । वही, सायण-भाष्य

﴾8﴿ न रात्र्या अह्न आसीत्प्रकेत – अब प्रश्न यह उठता है कि क्या सबका अधिकरणभूत काल उस समय था ? ऋषि ने प्रस्तुत मन्त्राश मे उसका भी निषेध कर दिया है । सायण ने प्रकेत का अर्थ "प्रज्ञान" किया है ।[1] ग्रिफिथ ने इसका अर्थ भेदक चिह्न[2] और विल्सन ने सङ्केत[3] किया है । मैक्समूलर इसे भेद करने वाला प्रकाश मानते है ।[4] वस्तुत रात और दिन के भेदक तत्त्व चन्द्रमा और सूर्य है । वे उस समय नही थे, अत काल का विभाजन कर पाना सम्भव नही था । सायण के अनुसार – अहोरात्र का भी निषेध कर देने से उनसे सम्बद्ध मास, ऋतु, सवत्सर इत्यादि सभी प्रकार के काल का निषेध कर दिया गया है ।[5]

﴾9﴿ आनीदवातं स्वधया तदेकम् .– सायण ने "तत्" का अर्थ सकल वेदान्तप्रसिद्ध ब्रह्मतत्त्व किया है । उनके अनुसार यहाँ जीवभावापन्न ब्रह्म का ग्रहण न करके निरुपाधिकब्रह्म का ही ग्रहण करना चाहिए ।[6] प्रस्तुत स्थल पर "तत्" तथा "एकम्" पदो का बहुत महत्त्व है । हिरियन्ना के अनुसार सर्वेश्वरवाद मे ईश्वरवाद की जो छाया है, उस तक का भी यहाँ अभाव है ।[7] तत् पद द्वारा यह भासित होता है कि चरम तत्त्व भावात्मक है, अर्थात् उसका कही न कही अस्तित्व अवश्य है । इसी प्रकार "एकम्" पद द्वारा उस तत्त्व का एकत्व प्रतिपादित किया गया है । ग्रिफिथ ने "तदेकम्" पद पर टिप्पणी करते हुए इसे उस एकमात्र मौलिक तत्त्व तथा उस इकाई का प्रतिपादक बताया है, जिससे यह जगत् विकसित हुआ । उन्होने अपने समर्थन मे ऋग्वेद 1 164 6 तथा 46

---

1 रात्र्या अह्न च प्रकेत प्रज्ञान न आसीत् । वही, सायण-भाष्य

2 No sign was there, the day's and night's divider.
वही, ग्रिफिथ का अनुवाद

3 There was no indication of day or night.
वही, विल्सन का अनुवाद

4 वही, मैक्समूलर का अनुवाद

5 एतेनाहोरात्रनिषेधेन तदात्मको मासर्तुसवत्सरप्रभृतिक सर्व काल प्रत्याख्यात । वही, सायण-भाष्य

6 तत्सकलवेदान्तप्रसिद्ध ब्रह्मतत्त्वमानीत् प्राणितवत् । वही, सायण-भाष्य

7 हिरियन्ना, एम – भारतीय दर्शन की रूपरेखा, ﴾हिन्दी अनुवाद﴿, पृष्ठ 42

का सन्दर्भ भी दिया है ।[1] अविनाशचन्द्र बोस इस स्थल पर वेदान्त के अद्वैतवाद का आधार स्वीकार करते है ।[2] मन्त्र मे आए "स्वधा" पद का दार्शनिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण स्थान है । सायण ने यहाँ इसका अर्थ माया किया है और कहा है कि वह ब्रह्म माया के साथ एक या अविभागापन्न था ।[3] कुछ विद्वानो ने "स्वधा" शब्द द्वारा साख्य दर्शन के बाजी निकालने के प्रयास किये है । इनमे उदयवीर शास्त्री अग्रगण्य है । उन्होने प्रकृत स्थल पर "स्वधा" का अर्थ प्रकृति तथा "अवातम्" का निर्दोष चेतनसत्ता" किया है ।[4] वस्तुत प्रस्तुत मन्त्राश मे एक चेतन सत्ता के अस्तित्व की बात स्वीकार की गई है । यहाँ स्वधा का अर्थ - आन्तरिक शक्ति करना अधिक सड्गत प्रतीत होता है । ग्रिफिथ ने भी इसका अनुवाद "निजी स्वभाव" किया है ।[5] विल्सन इसका अर्थ "शक्ति" करते है ।[6] इन सब दृष्टिकोणो से यह आभास मिलता है कि स्वधा ही सम्भवत इस जगत् के मूल कारण के रूप मे प्रतिष्ठित है, क्योकि इसके द्वारा वह परमतत्त्व उस समय भी श्वास-प्रश्वास की क्रिया कर रहा था, जब वायु तक नही था । अत ऐसी अघटनघटनापटीयसी शक्ति द्वारा ही इस विचित्र सृष्टि की रचना सम्भव है ।

डॉ अग्रवाल ने स्वधा को रहस्य माना है, जिसके विषय मे न तो कोई प्रश्न किया जा सकता है और न ही कोई व्याख्या ही की जा सकती है ।[7] यह ब्रह्म की स्वशक्ति है और अपने

---

1 The single primordial substance, the unit out of which the universe was developed. ऋग्वेद 10 129 2 पर ग्रिफिथ की टिप्पणी

2 बोस, अविनाशचन्द्र - हिम्स फ्रॉम द वेदाज, पृष्ठ 305

3 स्वस्मिन् धीयत ध्रियत आश्रित्य वर्तत इति स्वधा माया । तया तद् ब्रह्मैकमविभागापन्नमासीत्। ऋग्वेद 10 129 2 पर सायण-भाष्य

4. शास्त्री, उदयवीर - साख्यसिद्धान्त, पृष्ठ 352-353

5 Breathed by its own nature. ऋ 10 129.2 पर ग्रिफिथ का अनुवाद

6 Own strength, वही, विल्सन का अनुवाद

7 This स्वधा is a mystery, its obscure nature is beyond explanation or utterance and it exists in him by his own right. अग्रवाल, वासुदेवशरण, स्पार्क्स फ्रॉम द वैदिक फायर, पृष्ठ 72

ही अधिकार से इसकी सत्ता है । ब्रह्म की प्राणन क्रिया इसी पर आश्रित थी । यह प्राणन-क्रिया भी उसकी सृष्टि की इच्छा का परिणाम थी । डॉ.अग्रवाल ने प्राणन को नि श्वसित के रूप मे स्वीकार किया है । उनके अनुसार नि श्वसित का ही पर्याय त्रयी विद्या है, क्योकि नि श्वास या प्राण मे भी तीन प्राणो का अन्तर्भाव है । वे तीन प्राण - प्राण, अपान और व्यान है । इसी प्रकार का त्रिक या त्रैत त्रयीविद्या मे पाया जाता है ।[1]

(10) **तम आसीत्तमसा गूळ्हमग्रे** - इस अश मे यह बताया गया है कि प्रारम्भ मे अन्धकार से आवृत अन्धकार था । सायण के अनुसार यहाँ आत्मतत्त्व का आवरक होने के कारण भावरूप अज्ञान को ही तम कहा गया है, जिसका एक अन्य नाम माया भी है ।[2] इस प्रकार उन्होने तम को माया या अज्ञान रूप माना है । उसी माया या अज्ञान को कारण मानकर भूत भौतिक समस्त जगत् को उन्होने उससे आच्छादित माना है ।[3] इसके साथ ही सायण ने कारणावस्था मे कार्य की सत्ता न मानने वाले असत्कार्यवादियो का यहाँ खण्डन भी प्रतिपादित किया है ।[4] वेङ्कट माधव ने यहाँ तम शब्द को प्रकृति के अभिप्राय मे प्रयुक्त माना है ।[5] मन्त्र मे आए आवरक तथा आवृत दोनो तत्त्वो को तम कहा गया है । डॉ अग्रवाल ने एक को स्वयम्भू का तमस् तथा दूसरे को परमेष्ठी का तमस् माना है । स्वयम्भू पिता है तथा परमेष्ठी माता है । ये जगत् के माता-पिता है । स्वयम्भू बीज ब्रह्म है और परमेष्ठी को महद्ब्रह्म या योगी भी कहा गया है । दोनो का एक युग्म

---

1 अग्रवाल, डॉ. वासुदेवशरण - स्पार्क्स फ्रॉम द वैदिक फायर, पृष्ठ 72.

2 आत्मतत्त्वस्यावरकत्वान्मायापरसञ्ज्ञ भावरूपाज्ञानमत्र तम इत्युच्यते ।
ऋग्वेद 10 129 3 सायण-भाष्य

3 भूतभौतिक सर्व जगत् तमसा गूळ्हम् । तेन तमसा निगूढ सवृत कारणभूतेन तेनाच्छादित भवति । वही, सायण-भाष्य

4 आच्छादकात् तस्मात्तमसो कामरूपाभ्या यदाविर्भवन तदेव तस्य जन्मेत्युच्यते । एतेन कारणावस्थायामसदेव कार्यमुत्पद्यते इत्यसद्वादिनोऽसत्कार्यवादिनो ये मन्यन्ते ते प्रत्याख्याता ।
वही, सायण-भाष्य

5. वही, वेङ्कट माधव-भाष्य

है । इस युग्म से व्यक्त सृष्टि मे द्यावापृथिवी जन्म लेते है, जो इस पूरे जगत् के माता-पिता माने गए है ।[1] प्राय सभी पाश्चात्त्य विद्वानो ने तम का अर्थ अन्धकार किया है ।[2] उक्त सभी तथ्यो पर विचार करने के उपरान्त यही प्रतीत होता है कि प्रलयावस्था मे चाहे जो भी जगत् का कारण विद्यमान था, वह अन्धकारमय था तथा अन्धकार से ही आवृत था । उसका कोई निश्चित स्वरूप जान पाना सम्भव नही था ।

(11) **अप्रकेतं सलिलम्** – ऋषि ने सर्वप्रथम सृष्टि के पूर्व की अवस्था को अन्धकारमय बताया था । अब वह कह रहा है कि उस समय सर्वत्र या यह सब अप्रकेत सलिल था । सायण ने अप्रकेत का अर्थ "अप्रज्ञायमान" किया है ।[3] विल्सन ने इसका अर्थ "अभेदक" किया है ।[4] ग्रिफिथ ने एकदम पृथक् अर्थकरते हुए "अप्रकेत सलिल" को "विचारहीन अव्यवस्था" कहा है ।[5] हमे ऋग्वेद मे सलिल के – अम्भ , आप समुद्र इत्यादि अनेक पर्यायवाची शब्द उपलब्ध होते है । अनेक प्रमाणो से यह तथ्य पुष्ट है कि आदि मे सर्वत्र जल ही था । तैत्तिरीय संहिता भी प्रारम्भ मे जल (सलिल) की सत्ता स्वीकार करती है ।[6] बृहदारण्यक उपनिषद् मे भी कहा गया है कि पहले जल ही थे, उन जलो ने ही सत्य को रचा, सत्य ने ब्रह्म को तथा ब्रह्म ने प्रजापति को रचा ।[7] प्रस्तुत स्थल पर मूल तत्त्व को ही "सलिल" के नाम से अभिहित किया गया है । जिस प्रकार वेदान्त मे प्रतिपादित अपञ्चीकृत जल दृश्यमान सामान्य जल से भिन्न है, उसी प्रकार ऋग्वेद मे भी मूलतत्त्व के रूप मे वर्णित जल सामान्य दृश्यमान जल से भिन्न है । इसी दृष्टिकोण से सम्भवत मैकडानेल और मूर ने

---

1 अग्रवाल, डॉ. वासुदेवशरण – स्पार्क्स फ्रॉम द वैदिक फायर, पृष्ठ 72

2 ऋग्वेद 10.129 3 पर ग्रिफिथ एव विल्सन के अनुवाद तथा मूर – ओरिजिनल संस्कृत टेक्स्ट्स, भाग 5, पृष्ठ 357

3 वही, सायण-भाष्य

4 Undistinguishable water. वही, विल्सन का अनुवाद.

5 All was indiscriminated chaos. वही, ग्रिफिथ का अनुवाद.

6 आपो ह वा इदमग्रे सलिलमेवास । तैत्तिरीय संहिता 5 7 5

7. आप एवेदमग्र आसुस्ता आप सत्यमसृजन्त, सत्य ब्रह्म, ब्रह्म प्रजापतिम् ।
बृहदारण्यकोपनिषद् – 5.5 1

"अप्रकेत सलिलम्" का अर्थ पृथक् या विभक्त न हो पाने वाला जल किया है ।[1] मैक्समूलर ने इसे प्रकाशरहित समुद्र कहा है ।[2] डॉ अग्रवाल ने आप तत्त्व का अर्थ प्रकृति या पञ्चभूतो की उस अवस्था से लिया है, जिसमे वह साम्यावस्था मे विद्यमान रहता है ।[3] तात्पर्य यह है कि जब पञ्चतत्त्व या पञ्चभूत सर्वत्र व्याप्त थे और उनमे परस्पर कोई खिचाव या तनाव नही था और साथ ही वैषम्य भी नही था, उसी अवस्था को "आप " या "सलिल" कहते है । उस अवस्था मे ये पञ्चभूत सलिल अर्थात् जलो के भीतर अज्ञात अवस्था मे छिपे हुए थे ।

{12} तुच्छ्येन :- सायण ने तुच्छ्य का अर्थ "सदसद्विलक्षण भावरूप अज्ञान" किया है।[4] इस प्रकार वे इसे उपरि वर्णित तम के रूप मे ही मानते है । विल्सन ने इसका अर्थ "कुछ नहीं"[5] तथा ग्रिफिथ ने "शून्य और आकारहीन" किया है ।[6] वस्तुत तुच्छ्य का अर्थ शून्यता ही है । यह शून्यता भी विश्व के अतिरिक्त कुछ नही है । इस दृष्टि से तुच्छ्य का अर्थ सीमाभाव है । विश्व की सृष्टि के लिए सीमाभाव आवश्यक है । सीमा या परिधि के अन्तर्गत ही विश्व की स्थिति हो सकती है ।

---

1 मैकडॉनेल, ए.ए – वैदिक रीडर, पृष्ठ 209
मूर – ओरिजिनल सस्कृत टेक्स्ट्स, भाग 5, पृष्ठ 357

2 All this was a sea without light.
मैक्समूलर – द सिक्स सिस्टम्स ऑफ इण्डियन फिलासफी, पृष्ठ 49

3 The principle of आप denotes diffused matter existing in a state of equilibrium and rest.
अग्रवाल, डॉ वासुदेवशरण – द स्पार्क्स फ्रॉम द वैदिक फायर, पृष्ठ 72.

4 तुच्छेन तुच्छकल्पनेन सदसद्विलक्षणेन भावरूपाज्ञानेन । ऋग्वेद 10.129.3 सायण-भाष्य

5 Covered by a mere nothing, वही, विल्सन का अनुवाद

6 All that existed then was void and formless.
वही, ग्रिफिथ का अनुवाद.

(13) आभु – सायण ने इसका अर्थ "चारो तरफ से होने वाला" किया है ।[1] इस दृष्टि से जिसकी सर्वत्र सत्ता होगी वह "ब्रह्म" ही हो सकता है । त्रिवेदी ने भी इसका अर्थ "सर्वव्यापी" किया है ।[2] विल्सन ने इसे विश्व के अर्थ मे प्रयुक्त माना है ।[3] मैक्समूलर ने इसे एक "अड्कुर" माना है ।[4] वस्तुत यहाँ सर्वोच्च सत्य या ब्रह्म तत्त्व के लिए ही "आभु" शब्द का प्रयोग किया गया है । यह आभु ही अपने किसी अश मे तुच्छ्य द्वारा प्रभावित होकर सृष्टि का रूप धारण करता है । वेड्कट माधव ने भी आभु को ब्रह्म का ही वाचक माना है ।[5] प्रस्तुत मन्त्र मे ब्रह्मरूप आभु को अज्ञानस्वरूप तुच्छ्य या माया द्वारा आवृत बताया गया है । इस दृष्टि से हमे यहाँ वेदान्त दर्शन की सृष्टि-प्रक्रिया का सड्केत प्राप्त होता है, जो अनन्त ब्रह्म का माया या अज्ञान द्वारा आवरण हो जाने पर ही सम्भव होती है ।

(14) तपस् – ऋषि ने "आभु" अर्थात् परमतत्त्व को "तपस्" की महिमा द्वारा उत्पन्न बताया है । सायण ने "तपस्" को स्पष्ट करते हुए कहा है – वह एक अर्थात् कारणभूत तम के साथ अविभागता या एकरूपता को प्राप्त भी समस्त कार्यरूप जगत्, स्रष्टव्यपर्यालोचनरूप तप के माहात्म्य से उत्पन्न हुआ । प्रकृत स्थल पर सायण ने उत्पाद्य पदार्थों के पर्यालोचन को तपस् कहते हुए प्रमाणस्वरूप मुण्डकोपनिषद् के वाक्य को उद्धृत किया है, जिसमे परमेश्वर के सर्वविध ज्ञान को तप कहा गया है ।[6] विल्सन ने तपस् को स्पष्ट करते हुए यह बताया है कि "तपस्" का अभिप्राय

---

1 आ समन्ताद्भवतीति आभु । ऋग्वेद 10 129 3, सायण भाष्य

2 हिरियन्ना, एम – भारतीय दर्शन की रूपरेखा (हिन्दी अनुवाद), पृष्ठ 41 पर उद्धृत.

3 That empty united (world) which was covered.....
ऋग्वेद 10·129 3 पर विल्सन का अनुवाद

4 मैक्समूलर – द सिक्स सिस्टम्स ऑफ इण्डियन फिलासफी, पृष्ठ 49

5 ऋग्वेद 10·129 3 पर वेड्कट माधव भाष्य

6 एकम् एकीभूत कारणे तमसाविभागता प्राप्तमपि तत्कार्यजात तपस स्रष्टव्यपर्यालोचनरूपस्य महिना माहात्म्येन अजायत उत्पन्नम् । तपस स्रष्टव्यपर्यालोचनरूपत्व चान्यत्राम्नायते – "य सर्वज्ञ सर्वविद्यस्य ज्ञानमय तप " । (मुण्डकोपनिषद 1 1 9) वही, सायण भाष्य

कष्ट से न होकर उत्पाद्यमान वस्तुओ के प्रति विचारमग्नता है ।[1] ग्रिफिथ ने तपस्का अर्थ उष्णता (Warmth) तथा एकम् का अर्थ यूनिट किया है ।[2] यदि ग्रिफिथ के अर्थ पर गम्भीरतापूर्वक विचार किया जाय, तो यह ज्ञात होगा कि ब्रह्म की अनन्तता तथा सर्वव्यापकता के सम्मुख यह विश्व एक इकाई के अतिरिक्त और कुछ भी नही है । ज्ञातव्य है कि ग्रिफिथ ने "एकम्" को विश्व का प्रतीक माना है न कि जीवतत्त्व या आत्मा का । शतपथब्राह्मण मे भी सृष्टि के कारण के रूप मे तपस् को प्रतिपादित करते हुए कहा गया है कि आरम्भ मे एक प्रजापति ही था । उसने ध्यान किया कि "मै कैसे प्रजारूप होऊँ ?" उसने श्रम किया, उसने तपश्चर्या की और उसने प्रजाएँ उत्पन्न की ।[3]
अविनाशचन्द्र बोस ने तप को "आध्यात्मिक अग्नि" कहा है ।[4] उमेश मिश्र के अनुसार सृष्टि के आरम्भ मे विद्यमान एकमात्र चेतन तत्त्व को ही वैदिक ऋषि ने तपस् का नाम दिया है । कालान्तर मे इसी से जगत् का विकास हुआ और यही सर्वव्यापक सत्ता है, जिससे ज्ञान, इच्छा एव क्रिया शक्ति की अभिव्यक्ति होती है ।[5] डॉ राधाकृष्णन् के अनुसार तपस् का अर्थ है – बाहर निकल पडना, तात्कालिक बाह्य निष्कासन, एक अन्य सत्ता को बाहर प्रकट करना, शक्तियुक्त प्रेरणा, परमसत्ता का स्वाभाविक अन्त स्थ धार्मिक जोश । इस तपस् के द्वारा ही हमारे सामने सत् और असत् दो विविध वस्तुएँ आती है, अर्थात् अह और अहभिन्न,, सक्रिय पुरुष और निष्क्रिय प्रकृति, रचनात्मक तत्त्व और अव्यवस्था मे स्थित भौतिक प्रकृति । शेष सारा विकास इन्ही दोनो परस्पर विरोधी तत्त्वो के एक–दूसरे के प्रति आघात–प्रत्याघात रूपी क्रिया का परिणाम है ।[6] मैकडानेल[7] और मैक्समूलर[8] ने तपस्

---

1 Tapas is said to mean not penance, but the contemplation of the things which were to be created.
ऋग्वेद 10 129 3 पर विल्सन की टिप्पणी

2 वही ग्रिफिथ का अनुवाद एव टिप्पणी

3 प्रजापति र्वा इदमग्र एक एवास । स ऐक्षत कथ नु प्रजायेयेति । सोऽश्राम्यत । स तपोऽतप्यत् । स प्रजा असृजत् । शतपथब्राह्मण 2 5 1 1

4 Spiritual fire. बोस, अविनाशचन्द्र – हिम्स फ्राम द वेदाज, पृष्ठ 305

5 मिश्र, उमेश – भारतीय दर्शन, पृष्ठ 36

6 डॉ राधाकृष्णन् – भारतीय दर्शन (हिन्दी अनुवाद), भाग 1, पृष्ठ 92

7 मैकडानेल, ए ए – वैदिक रीडर, पृष्ठ 209

8 मैक्समूलर – द सिक्स सिस्टम्स ऑफ इण्डियन फिलासफी, पृष्ठ 49

का अर्थ ऊष्मा (Heat) किया है । ऋग्वेद मे भी अभीद्ध तप से ऋत और सत्य की उत्पत्ति बताई गई है ।[1] वहाँ सायण ने "अभीद्ध तप " का अर्थ – ब्रह्मा द्वारा पहले सृष्टि हेतु किये गए तप से किया है ।[2] इन सभी उद्धरणो द्वारा यही निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि सृष्टि के मूल मे तपस् की प्रभूत महत्ता है । यदि साख्य की दृष्टि से विचार किया जाय, तो "तपस्" पुरुष का प्रतीक प्रतीत होता है । वही परमव्योम मे रहने वाले अध्यक्ष के रूप मे भी निर्दिष्ट है । वह आदिपुरुष इस विश्व को उत्पन्न होने मे अपना सहयोग देकर स्वय उसका द्रष्टा मात्र रह जाता है । इस प्रकार तपस् रूपी पुरुष के सम्पर्क से अव्यक्त (प्रकृति) व्यक्त रूप धारण कर लेता है ।

(15) **काम** :– चतुर्थ मन्त्र मे यह बताया गया है कि सर्वप्रथम सृष्टि के प्रसङ्ग मे काम उत्पन्न हुआ, जो मन का प्रथम बीज था । सायण ने काम का अर्थ "सृष्टि करने की इच्छा" किया है ।[3] ग्रिफिथ और विल्सन ने काम का अर्थ "इच्छा" किया है ।[4] यदि ध्यानपूर्वक विचार किया जाय, तो यह ज्ञात होगा कि इच्छा ही इस सृष्टि के मूल मे विद्यमान है । शतपथब्राह्मण मे प्रजापति के कामप्रयज्ञ का वर्णन उपलब्ध होता है ।[5] इस प्रकार यह परिलक्षित होता है कि यह सृष्टि प्रजापति की इच्छा या काम का ही परिणाम है । इस काम को सृष्टि के विकास के आधारभूत तत्त्व स्त्री–पुरुष के सयोग के रूप मे भी देखा जा सकता है ।

(16) **मनसो रेत** – काम को मन का बीज कहा गया है । सायण ने यहाँ मनस् का अर्थ अन्त करण और प्रथमं रेत का अभिप्राय "भावी प्रपञ्च का बीजभूत अतीत कल्प मे प्राणियो द्वारा विहित प्रथम पुण्यात्मक कर्म" किया है ।[6] ग्रिफिथ ने मनसो रेत का अर्थ "आत्मा का बीज" किया

---

1 ऋग्वेद 10 190 1

2 अभीद्धादभितप्ताद् ब्रह्मणा पुरा सृष्ट्यर्थ कृतात्तपसोऽधि । वही, सायण–भाष्य

3. मनसि काम समवर्ततसम्यगजायत सिसृक्षा जातेत्यर्थ । ऋग्वेद 10 129.4, सायण–भाष्य

4 वही, ग्रिफिथ एव विल्सन के अनुवाद

5 स परमेष्ठी प्रजापति पितरमब्रवीत्, कामप्र वा अह यज्ञमदर्शम् । शतपथब्रा 11 1 6 17–19

6 मनस अन्त करणस्य सम्बन्धि . । तादृश रेत भाविन प्रपञ्चस्य बीजभूत, प्रथमम् अतीते कल्पे प्राणिभि कृत पुण्यात्मक कर्म । ऋग्वेद 10 129 4, सायण-भाष्य

है ।[1] मैकडानेल[2] तथा विल्सन[3] ने इसे "मन का बीज" कहा है । डॉ अग्रवाल के अनुसार जो व्यष्टि का निर्माता तत्त्व है, उसे मनस् कहते है । वही अहङ्कार है । उसी की सञ्ज्ञा, चिति, सवेग तथा स्मृति आदि अनेक सञ्ज्ञाएँ है ।[4] अग्नि का समिन्धन या इन्द्र का जन्म ही मनस्तत्त्व है । ऋग्वेद मे इन्द्र को मनस्वी देव के रूप मे उत्पन्न बताया गया है ।[5] मन की शक्ति काम है । इसी बीज से सम्पूर्ण सृष्टि उत्पन्न होती है । साख्य दर्शन की दृष्टि से विचार करने पर यहाँ काम को महत् या बुद्धितत्त्व भी माना जा सकता है, क्योंकि मन्त्र मे इसे मन का बीज या कारण बताया गया है और साख्य मे प्रकृति से उत्पन्न होने वाला प्रथम तत्त्व मनस् ही है । इसके बाद ही अहङ्कार, तन्मात्रो तथा मन सहित इन्द्रियो की उत्पत्ति होती है ।

(17) **सतो बन्धुमसति निरविन्दन्** – इस मन्त्राश मे यह बताया गया है कि कवियो या विद्वानो ने अपने हृदय मे विचार करके सत् के बन्धु को असत् मे प्राप्त किया । सायण ने यहाँ "सत्" को सत्त्वरूप मे इस समय अनुभूयमान समस्त जगत् तथा "असत्" को सद्विलक्षण अव्याकृत कारण का वाचक माना है ।[6] मैकडानेल के अनुसार इसका अर्थ – ऋषियो ने विकसित जगत् का उद्गम अविकसित मे पा लिया, है ।[7] मूर ने भी सत् को विकसित और "असत्" को अविकसित अवस्था का द्योतक माना है ।[8] ऋग्वेद मे एक अन्य स्थल पर भी असत् से सत् की उत्पत्ति की चर्चा की गई है ।[9] आचार्य सायण ने यहाँ सत् और असत् का विवेचन करते हुए कहा है – उपादानकारण असत्,

---

1 Germs of Spirit. ऋग्वेद 10 129 4, ग्रिफिथ का अनुवाद

2 Seed of mind. मैकडानेल – वैदिक रीडर, पृष्ठ 209.

3 ऋग्वेद 10 129.4 का विल्सन द्वारा अनुवाद

4 अग्रवाल, डॉ वासुदेवशरण – स्पार्कस् फ्राम द वैदिक फायर, पृष्ठ 73

5 ऋग्वेद 2.12 1

6. सत सत्त्वेन इदानीमनुभूयमानस्य सर्वस्य जगत बन्धु बन्धक हेतुभूत कल्पान्तरे प्राण्यनुष्ठित कर्मसमूह असति सद्विलक्षणेऽव्याकृते कारणे निरविन्दन् निष्कृष्यालभन्त ।
ऋग्वेद 10 129 4 पर सायण-भाष्य

7 मैकडानेल – वैदिक रीडर, पृष्ठ 209

8 मूर – ओरिजिनल सस्कृत टेक्स्ट्स, भाग 5, पृष्ठ 360

9 देवाना पूर्व्ये युगेऽसत सदजायत । ऋग्वेद 10 72 2

अर्थात् नामरूप वर्जित होने के कारण असत् समान ब्रह्म से सत् अर्थात् नामरूपविशिष्टदेवादि उत्पन्न हुए ।[1] वेङ्कट माधव इसका अर्थ करते हुए कहते है – असत् अर्थात् ब्रह्म से देवताओ का कारणभू सत् उत्पन्न हुआ ।[2] उद्गीथ ने यहाँ असत् का अर्थ अव्यक्त और सत् का अर्थ व्यक्त किया है ।[3] शतपथब्राह्मण के अनुसार भी पहले असत् ही था । वहाँ इस असत् को ऋषि और प्राण के लिए भी प्रयुक्त किया गया है ।[4] इसी आधार पर डॉ अग्रवाल ने विवेच्य स्थल पर भी असत् का अर्थ प्राणसृष्टि से लिया है तथा सत् का विश्व रूपी सृष्टि से ।[5] इस प्रकार प्रकृत स्थल पर विवेचित असत् और सत्, कारण तथा कार्य के रूप मे ही व्यवस्थित प्रतीत होते है । सत् अर्थात् व्यक्त कार्य के बन्धु अर्थात् हेतु को कवियो ने असत् अर्थात् अव्यक्त (कारण) मे ढूँढ लिया । इस प्रकार यहाँ हमें साख्य दर्शन के सत्कार्यवाद का बीज स्पष्टत परिलक्षित होता है, जिसके अनुसार सत् अर्थात् व्यक्त जगत् रूपी कार्य अपनी पूर्वावस्था मे असत् अर्थात् अव्यक्त कारण मे विद्यमान था ।

(18) **अध स्विदासीदुपरि स्विदासीत्** – प्रस्तुत मन्त्राश मे मूल तत्त्व की स्थिति को दृष्टिगत करते हुए उसके स्थान के बारे मे जिज्ञासा की गई है। सायण के अनुसार इसका अर्थ है – वह कार्यवर्ग पहले क्या तिरछा स्थित था ? अर्थात् मध्य मे स्थित था ? अथवा नीचे था ?[6] कभी इसका मूल अध अर्थात् बाहर की ओर मण्डल में और कभी ऊर्ध्व या असत् अर्थात् केन्द्र मे है । यहाँ अध का तात्पर्य भौतिक जगत् से है और उपरि का ब्रह्म से । वस्तुत वह उस सूर्य की रश्मि के समान है, जो न ऊपर से है और न नीचे से, बल्कि वह किसी तिरश्चीन या तिरछे मार्ग से अर्थात् मध्य से आती है । यही प्राण का भी स्वभाव है । न तो वह नितान्त रहस्यमय है और न नितान्त भौतिक

---

1 तेषामुपादानकारणात् असत नामरूपवर्जितत्वेनासत्समानाद् ब्रह्मण सकाशात् सत् नामरूप–विशिष्ट देवादिकमजायत । ऋग्वेद 10 72 2, सायण-भाष्य

2. वही, वेङ्कट माधव-भाष्य

3 वही, उद्गीथ-भाष्य

4 असद्वा इदमग्र आसीत् । के ते ऋषय इति । प्राणा वा ऋषय ।
शतपथब्राह्मण – 6 1 1 1

5 अग्रवाल, डॉ वासुदेवशरण – स्पार्क्स फ्राम द वैदिक फायर, पृष्ठ 74

6 स कार्यवर्ग प्रथमत· किं तिरश्चीन तिर्यगवस्थितो मध्ये स्थित आसीत् कि वा अध अधस्ताद् आसीत् । ऋग्वेद 10 129 5, सायण-भाष्य

ही, किन्तु देव और भूत के सम्मिलन से उसका जन्म होता है । ऋग्वेद मे इन्द्र का जन्म भी तिरछे रूप मे ही बताया गया है ।[1] प्रकृत स्थल पर तात्पर्य यही है कि प्राणतत्त्व का जन्म न तो केवल व्यक्त से और न केवल अव्यक्त से ही होता है, अपितु उन दोनो के सम्मिलन से होता है, जो कि मध्यस्थानीय है । यदि प्राण केवल भौतिक होता, तो भी हम उसका पता पा जाते तथा वह यदि केवल अव्यक्त अर्थात् अभौतिक होता तो भी उसके विषय मे निश्चित रूप से जाना जा सकता था, किन्तु यह उस सुपर्ण के समान है, जो आकाश से पृथ्वी पर आता है और इसी प्रकार तिरछा होकर प्रवृत्त होता है । कोई भी यह नही जानता कि वह कहाँ से आया है और कहाँ जाता है ? साख्य की दृष्टि से विचार करने पर महत् के अहड्कार मे विकीर्ण होते ही प्रकृति की समष्टि करोडो व्यष्टियो मे बदल जाती है और इसके साथ ही सृष्टि की सारी प्रक्रिया प्रारम्भ हो जाती है । यहाँ "तिरश्चीनो वितत " द्वारा यह ध्वनि निकाली जा सकती है कि वह अव्यक्त तत्त्व ही व्यक्त होकर ऊपर नीचे तिर्यक् रूप मे सृष्टि मे सर्वत्र भासित होने लगा ।

(19) **रेतोधा** – सायण ने इस पद का अर्थ बीजभूत कर्म के कर्ता और भोक्ता से लिया है ।[2] विल्सन[3] और ग्रिफिथ[4] इसे बीजप्रदाता के अर्थ मे लेते है । वस्तुत मैथुनी सृष्टि के लिए बीज प्रदाता और बीजधारक दोनो का होना आवश्यक है । अत यहाँ रेतोधा पद द्वारा ये दोनो निर्दिष्ट प्रतीत होते है । गीता मे श्रीकृष्ण ने अपने को बीजप्रदाता पिता तथा गर्भधारक दोनो बताया है ।[5]

(20) **महिमान** – सायण ने इसका अर्थ वियदादि भोग्य पदार्थों से लिया है ।[6] विल्सन

---

1 ऋग्वेद 4.18 2.

2 सृष्टेषु कार्येषु मध्ये केचिद्भावा रेतोधा रेतसो बीजभूतस्य कर्मणो विधातार कर्तारो भोक्तारश्च जीवा आसन् । ऋग्वेद 10 129 5, सायण-भाष्य

3 Shedders of seed. वही, विल्सन का अनुवाद.

4 Begetters. वही, ग्रिफिथ का अनुवाद

5 मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम् । गीता – 14 3

.अह बीजप्रद पिता । वही, 14 4

6. महान्तो वियदादयो भोग्या आसन् । ऋग्वेद 10 129 5 पर सायण-भाष्य

तथा ग्रिफिथ इसका अर्थ "शक्तिशाली" करते है ।[1] सायण इसे और स्पष्ट करते हुए तैत्तिरीयारण्यक[2] के आधार पर यह प्रतिपादित करते है कि मायासहित परमेश्वर ने सृष्टि करने के उपरान्त उसमे प्रवेश करके स्वय भोक्तृ तथा भोग्य के रूप मे दो भाग किए ।[3] इस प्रकार रेतोधा अश भोक्ता है तथा महिमान अश भोग्य है । वस्तुत उक्त दोनो विभाग देवो के ही है । उनका प्रथम रूप बीज है तथा द्वितीय महिमान है, जो सर्वत्र परिधि के रूप मे व्याप्त है ।

(21) **स्वधा** – मन्त्र मे स्वधा को निम्नस्तरीय कहा गया है ।[4] सायण ने इसे अन्न का वाचक मानते हुए इसका अर्थ भोग्यप्रपञ्च किया है ।[5] विल्सन ने भी इसे भोग्य के अर्थ मे ही लिया है[6], किन्तु ग्रिफिथ ने स्वतन्त्र क्रिया का वाचक माना है ।[7] मैक्समूलर ने इसे "आत्मशक्ति" कहा है ।[8] डॉ शर्मा इसे सत् धारक स्त्रीतत्त्व मानते हुए इसमे पार्थिवता की भावना करते है ।[9] वस्तुत स्वधाशक्ति रहस्यात्मक है तथा इसका अर्थ कठिन है । यह भूतसृष्टि का कारण है और ब्रह्म मे अपनी ही शक्ति से अवस्थित है । यह निम्नश्रेणी की है तथा इसका सम्बन्ध पितृगण से है । सम्भवत इसीलिए डॉ अग्रवाल ने इसे वाक् तत्त्व से सम्बद्ध किया है और परमेष्ठी रूप मातृत्व की शक्ति कहा है ।[10] मनु के अनुसार सर्वप्रथम ऋषियो की सृष्टि हुई । ऋषियो से ही पितर उत्पन्न

---

1 Mighty ऋग्वेद 10 129 5, विल्सन और ग्रिफिथ के अनुवाद

2 तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत् । तैत्तिरीय आरण्यक 8 6

3 एव मायासहित परमेश्वर सर्व जगत् सृष्ट्वा स्वय चानुप्रविश्य भोक्तृभोग्यादिरूपेण विभाग कृतवानित्यर्थ । ऋग्वेद 10 129 5 पर सायण-भाष्य

4. वही, ऋग्वेद 10 129 5

5. अन्ननामैतत् । भोग्यप्रपञ्च अवस्तात् अवरो निकृष्ट आसीत् । वही, सायण-भाष्य

6 Food वही, विल्सन का अनुवाद.

7 Free action.वही, ग्रिफिथ का अनुवाद

8 वही, मैक्समूलर का अनुवाद

9 शर्मा, डॉ मुशीराम – वेदार्थ–चन्द्रिका, पृष्ठ 98

10 अग्रवाल, डॉ वासुदेवशरण – स्पार्क्स फ्राम द वैदिक फायर, पृष्ठ 75

हुए ।[1] क्योंकि पितरो का सम्बन्ध स्वधा से है तथा पितर इसीलिए स्वधा को अपेक्षाकृत निम्न श्रेणी का कहा गया है । स्वधा का सम्बन्ध पितरो से होना इस प्रकार भी प्रमाणित होता है कि अब भी पितरो को कव्य देते समय उनके नाम के साथ स्वधा का ही उच्चारण किया जाता है ।

(22) प्रयति – सूक्त के पाँचवे मन्त्र मे ही प्रयति को उच्चस्तरीय कहा गया है । सायण ने इसे भोक्ता–तत्त्व माना है ।[2] ग्रिफिथ ने इसे "ऊर्जा"[3] तथा मैकडानेल ने इसे "मानसिक शक्ति"[4] माना है । डॉ शर्मा के अनुसार प्रयति को ऋत अर्थात् पुस्तत्त्व कहा जा सकता है और इसमे दिव्यता विद्यमान है ।[5] डॉ अग्रवाल के अनुसार प्रयति का सम्बन्ध उस महती शक्ति से है, जो सयती लोक मे शान्त रहती है । उन्होने इसे तप तथा सत्य के साथ ही जोडा है, जो स्वयम्भू का मनस्तत्त्व है ।[6] मैक्समूलर "प्रयति" का अर्थ इच्छाशक्ति करते है ।[7] वस्तुत प्रयति प्राणतत्त्व है । इसे बीज भी कहा जा सकता है तथा इसका सम्बन्ध देवगण से है । प्रयति पर या उत्कृष्ट है तथा स्वधा अवर है ।

मन्त्र मे आए हुए रेतोधा, महिमान, स्वधा और प्रयति इन चारो पदो पर विचार करने के उपरान्त यह ज्ञात होता है कि स्वधा का सम्बन्ध महिमान से तथा प्रयति का रेतोधा से है ।

(23) अर्वाग्देवा अस्य विसर्जनेन – सूक्त के छठे मन्त्र मे ऋषि ने इस सृष्टि के तत्त्वज्ञों के बारे मे जिज्ञासा की है । इसके अतिरिक्त वह यह भी जानना चाहता है कि इस सृष्टि के उपादान कारण और निमित्त कारण क्या है ? इस प्रकार यहाँ हमे सशयवादी प्रवृत्ति के दर्शन

---

1 ऋषिभ्य पितरो जाता । मनुस्मृति – 3 201

2 प्रयति प्रयतिता भोक्ता परस्तात् पर उत्कृष्ट आसीत् । ऋग्वेद 10 129 5 पर सायण भाष्य

3 Energy up yonder वही, ग्रिफिथ का अनुवाद

4 मैकडानेल – वैदिक रीडर, पृष्ठ 209

5 शर्मा, डॉ मुशीराम – वेदार्थ–चन्द्रिका, पृष्ठ 98

6 अग्रवाल, डॉ वासुदेवशरण – स्पार्क्स फ्राम द वैदिक फायर, पृष्ठ 75

7 ऋग्वेद 10 129 5 पर मैक्समूलर का अनुवाद

होते है । यदि देवताओ को सृष्टि–तत्त्व से अभिज्ञ कहा जाए तो यह भी असङ्गत होगा, क्योंकि देवो की उत्पत्ति सृष्टि के बाद हुई है । अत ते अपने पूर्व ही प्रारम्भ हो चुकी सृष्टि के आदिकारण को कैसे बता सकते है ? सायण ने देवताओ की सृष्टि भूतसृष्टि के पश्चात् ही प्रतिपादित की है ।[1] वस्तुत द्युलोक और पृथिवी की सभी शक्तियाँ देवमयी है । यजुर्वेद मे इन सभी शक्तियो को दिव्य और पार्थिव इन्द्रिय कहा गया है ।[2] स्वयम्भू और परमेष्ठी अव्यक्त तत्त्व है तथा इन्ही से सृष्टि–प्रक्रिया प्रारम्भ होती है । इस क्रम में सर्वप्रथम द्यावापृथिवी अस्तित्व मे आते है । प्रथम देव सूर्य द्युलोक का ही देवता है । उसके बाद ही अन्य देवो का अस्तित्व हमारे सम्मुख आता है ।[3] इस प्रकार देवताओ की सृष्टि बाद मे हुई, अत वे इसके आदिकारण को नही जान सकते । जब देवता तक इसे नही जानते, तो उनके भी बाद मे सृष्ट होने वाले मनुष्य इसे कैसे जानेगे ?

(24) यो अस्याध्यक्ष परमे व्योमन् – सूक्त के अन्तिम मन्त्र मे ऋषि, सृष्टि के कारण की जिज्ञासा मे आकुल हो उठता है और इसका कोई निराकरण न प्राप्त करके परम व्योम मे स्थित इसके अधिपति को ही इस विषय का ज्ञाता अथवा अपनी बुद्धिसीमा से परे होने के कारण उसके ज्ञातृत्व मे भी सशय उपस्थित करते हुए अपनी जिज्ञासा का अवसान करता है । एक अन्य स्थल पर भी सृष्टि के अधिष्ठान के बारे मे जिज्ञासा करते हुए कहा गया है – वह कौन सा वन था तथा उस वन का वृक्ष क्या था, जिससे विधाता ने द्युलोक और पृथिवी इन दोनो लोको का तक्षण किया ? हे प्रज्ञावान् तत्त्वदर्शिन् । अपनी मानसिक शक्ति से इन प्रश्नो पर विचार करो कि इन भुवनो को धारण करने वाला तथा इनका अधिष्ठाता कौन है ?[4] तैत्तिरीय ब्राह्मण मे उक्त मन्त्र का उत्तर देते हुए कहा गया है – ब्रह्म वह वन है, ब्रह्म ही वह वृक्ष है, जिसके द्वारा देवताओ ने द्यावापृथिवी का

---

1 देवा च अस्य जगतो विसर्जनेन वियदादिभूतोत्पत्यनन्तर विविध यद् भौतिक सर्जन सृष्टिस्तेन अर्वाक् अर्वाचीना कृत । भूतसृष्टे पश्चात् जाता इत्यर्थ ।
ऋग्वेद 10.129 6 पर सायण-भाष्य

2 शुक्ल यजुर्वेद – 7 3

3 द्रष्टव्य – ऋग्वेद 10 72 2, 3, 8, 9 तथा 7

4 कि स्विद्वन क उ स वृक्ष आस यतो द्यावापृथिवी निष्टतक्षु ।
मनीषिणो मनसा पृच्छतेदु तद्यदध्यतिष्ठद्भुवनानि धारयन् ।। ऋग्वेद 10 81 4

निर्माण किया । हे प्रज्ञावान् मनीषियो । मै अपने विचार की शक्ति से यह कहता हूँ कि भुवनो को धारण करने वाला उनका अधिष्ठाता ब्रह्म ही है ।[1] उक्त दोनो उद्धरणो मे जिस अनन्त वन की ओर सङ्केत किया गया है, वह परात्पर ब्रह्म है, जिसके गर्भ मे अनेक विश्व लीन है । जो असख्य सृष्टियो को अपनी कुक्षि मे धारण करता है । एक–एक विश्व एक–एक वृक्ष के समान है । जिस प्रकार किसी बडे अरण्य मे अनेक वृक्ष होते है, उसी प्रकार उस ब्रह्म मे अनेक विश्व है । ऐसे ब्रह्म को ही परात्पर कहते है । डॉ अग्रवाल ने इस ब्रह्म–वन समीकरण को स्पष्ट करते हुए कहा है – परात्पर ब्रह्म वन या अरण्य के समान है । उस अरण्य की अधिष्ठात्री शक्ति देवी अरण्यानी है, जो ब्रह्म की ही नित्य–अचिन्त्य शक्ति है । उस वन का प्रत्येक वृक्ष अव्यय ब्रह्म है और उस अव्यय वृक्ष मे अनन्त शाखाएँ होती है । अतएव उसे सहस्रवल्श वनस्पति कहा जा सकता है । वल्शाकार शाखा है । एक–एक शाखा एक–एक विश्व है । एक–एक शाखा उस अव्यय अवत्थ का एक अश है । इस प्रकार वन, वृक्ष और शाखा – ये तीनो एक दूसरे से सम्बन्धित है, पर तीनो का मूल स्वरूप एक ही ब्रह्मतत्त्व है ।[2] सायण ने परमेव्योमन् का अर्थ – सत्यभूत आकाश अर्थात् आकाश के समान निर्मल स्वप्रकाश मे, अथवा विशेष रूप से तृप्त अर्थात् निरतिशयानन्द स्वरूप मे, अथवा विशेष रूप से व्याप्त अर्थात् देशकाल वस्तुओ से अपरिच्छिन्न मे, अथवा विशेष ज्ञाता अर्थात् विशिष्ट ज्ञानात्मा मे किया है ।[3] सायण प्रतिपादित ये सभी अर्थ वेदान्त से प्रभावित है । साख्य की दृष्टि से विचार करने पर "अध्यक्ष" को पुरुष का प्रतीक माना जा सकता है । पुरुष स्वय सृष्टि को उत्पन्न नही करता, केवल उसका प्रतिबिम्ब उस पर पडता है । वह इस विश्व–प्रपञ्च को उत्पन्न होने मे अपना सहयोग देकर स्वय इसे देखा करता है । चाहे वह अध्यक्ष साख्य का पुरुष हो या वेदान्त का ब्रह्म, इससे उसकी परमावस्था मे कोई अन्तर नही हो सकता । ऋषि का तात्पर्य यही है कि इस सृष्टि–रहस्य को इसका स्रष्टा ही जान सकता है ।

---

1 ब्रह्म तद्वन ब्रह्म स उ वृक्ष आस यतो द्यावापृथिवी निष्टतक्षु ।
मनीषिणो मनसा विब्रवीमि वो ब्रह्माध्यतिष्ठद् भुवनानि धारयन् ।। तैत्तिरीय ब्राह्मण 2 8.9

2 अग्रवाल, डॉ वासुदेवशरण – वेदरश्मि, पृष्ठ 79

3 परमे उत्कृष्टे सत्यभूते व्योमन्याकाशे आकाशवन्निर्मले स्वप्रकाशे । यद्वा व्योमनि विशेषेण तृप्ते । निरतिशयानन्दस्वरूपे इत्यर्थ । व्योमनि विशेषेण गते व्याप्ते । देशकालवस्तुभिर–परिच्छिन्न इत्यर्थ । अथवा व्योमनि विशेषेण ज्ञातरि विशिष्टज्ञानात्मनि । इदृशे स्वात्मनि प्रतिष्ठित । ऋग्वेद 10 129 7 पर सायण-भाष्य

[ग] नासदीय सूक्त मे निहित दार्शनिक सिद्धान्त –

सृष्टि–विद्या अतीव गूढ और गम्भीर है । आदिकाल से ही सभी विचारको ने इसका भेद जानने के लिए अपने–अपने ढग से प्रयास किए है । वे सारे प्रयास एक दार्शनिक सरणि के रूप मे हमारे सम्मुख आते है । नासदीय सूक्त सृष्टि–विद्या की कुञ्जी है । इसमे दृष्टिपात करने पर हमे सृष्टि–सम्बन्धी अनेक मतो के बीज उपलब्ध होते है, जिनका पल्लवन संहिताओ तथा ब्राह्मण–ग्रन्थो मे उपलब्ध होता है । इस दृष्टि से पण्डित मधुसूदन ओझा की कृति "दशवाद–रहस्य" का अत्यधिक महत्त्वपूर्ण स्थान है । उक्त ग्रन्थ मे ओझा जी ने विभिन्न ग्रन्थो मे उपलब्ध सृष्टि–सम्बन्धी दश सिद्धान्तो के बीज को नासदीय–सूक्त मे उपपन्न किया है । यहाँ उन दशो वादो का परिचय देना अपेक्षित है ।

[1] **सदसद्वाद** – इस विचारधारा के अनुसार इस सत् सृष्टि की उत्पत्ति असत् कारण से हुई है । इसमें असत् को कारण तत्त्व तथा सत् को कार्य माना गया है । ऋग्वेद मे ही दो युगो का सड्केत उपलब्ध होता है – पूर्व्य युग तथा उत्तर युग ।[1] पूर्व्य युग मे असत् से सत् की उत्पत्ति बताई गई है ।[2] ठीक यही बात नासदीय सूक्त मे भी आई है, जिसमे सत् के बन्धु को असत् मे प्राप्त करने की बात कही गई है ।[3] ऋग्वेद के ही एक अन्य मन्त्र मे सत् और असत् दोनो को परम व्योम मे स्थित बताया गया है तथा वही दक्ष एव अदिति के जन्म दर्शाए गए है ।[4] इसी तथ्य को शतपथब्राह्मण मे और भी स्पष्ट रूप से प्रतिपादित किया गया है – यह असत् ही सर्वप्रथम था । वह असत् क्या था ? प्रारम्भ मे ऋषि ही असत् थे । वह ऋषि कौन थे ? प्राण ही ऋषि थे ।[5] इस प्रकार सर्वप्रथम ऋषियो की सृष्टि बताई गई है । वह ऋषि प्राण के प्रतीक है । अत प्राणसृष्टि असत् है तथा भूतसृष्टि सत् । इस प्रकार असत् द्वारा ही सत् की सृष्टि प्रमाणित होती है । यही सदसद्वाद है ।

---

1 ऋग्वेद 10 72 1

2 देवाना पूर्व्ये युगेऽसत सदजायत । वही, 10 72 2

3 वही, 10 129.4

4 असच्च सच्च परमे व्योमन्दक्षस्य जन्मन्नदितेरुपस्थे । वही, 10 5 7

5 असद्वा इदमग्र आसीत् । तदाहु कि तदसदासीदिति । ऋषयो वाव ते अग्रे असदासीत् । तदाहु के ते ऋषय इति । प्राणा वा ऋषय । शतपथब्राह्मण 6 1 1 1

(2) **रजोवाद** – नासदीय सूक्त मे निहित दूसरा सिद्धान्त रजोवाद है । रजस् को सृष्टि का आरम्भण या उपादान कारण कहा गया है ।[1] सूक्त के प्रथम मन्त्र मे ही रजस् की सत्ता का निषेध किया गया है । अन्यत्र कहा गया है कि सभी देवता जल मे स्थित थे । सृष्टि की प्रक्रिया प्रारम्भ होने के समय सारे देवता नृत्य करने लगे । देवो के नृत्य से रेपु के गर्भ कण ऊपर उठे ।[2] यह रेपु ही रजोरूप है तथा सृष्टि का उपादान कारण है ।

ऋग्वेद मे हमे रजस् की एक अन्य धारणा भी उपलब्ध होती है । इसके अनुसार रजस् के दो भेद है – कृष्णरजस् और शुक्लरजस् ।[3] कृष्णरजस् का सम्बन्ध मूलतत्त्व से है तथा शुक्लरजस् का इस विकसित जगत् से । ये दोनो एक–दूसरे को पुष्ट करते है तथा पूरक भी है । इन्हे रात और दिन के रूप मे भी देखा जा सकता है । ये दोनो रजस् चक्रवत् घूमते रहते है । ऋग्वेद मे ही एक अन्य स्थल पर बताया गया है कि कृष्ण और शुक्ल यह दो रोचनाओ का युग्म है। इनमे से जो कृष्ण है, वह दीप्त नही होती तथा जो शुक्ल है, वह चमकती रहती है । इन दोनो का जन्म एक ही मातृ–पितृ–तत्त्व से होता है अत ये दोनो बहने है । जिससे ये दोनो जन्म ग्रहण करती है, वह महत् देवतत्त्व है तथा एक ही प्राणतत्त्व से युक्त है ।[4] वैदिक रजस् को गतितत्त्व भी कहा जा सकता है तथा इसके विपरीत दूसरा तत्त्व स्थिति है । स्थितितत्त्व का सम्बन्ध "अज" से है और रजस् या गति का सम्बन्ध इस सृष्ट जगत् से । इनमे से अजतत्त्व अव्यय पुरुष है तथा रजस् अक्षर पुरुष से सम्बद्ध है । अज तत्त्व से छ रजो का जन्म हुआ ।[5] ऋग्वेद मे इन रजो को षड्उर्वी कहा गया है ।[6] इस प्रकार रजोवाद के बीज हमे नासदीय सूक्त मे उपलब्ध हो जाते है ।

---

1 "आरम्भण तत्त्वमिहोच्यते रज " । अग्रवाल, डॉ वासुदेवशरण, स्पार्क्स फ्राम द वैदिक फायर, पृष्ठ 61 पर उद्धृत

2 यद्देवा अद सलिले सुसरब्धा अतिष्ठत ।
अत्रा वो नृत्यतामिव तीव्रो रेणुरपायत ।। ऋग्वेद 10 72 6

3 अहश्च कृष्णमहरर्जुन च वि वर्तेते रजसी वेद्याभि ।
वैश्वानरो जायमानो स राजाऽवातिरज्ज्योतिषाग्निस्तमासि । वही, 6 9 1

4 वही, 3 55 11

5 वि यस्तस्तम्भ षडिमा रजास्यजस्य रूपे किमपि स्विदेकम् । वही, 1 164.6

6 षड्उर्वीरेकमिद् बृहत् । वही 10 14 16 तथा – देवी षड्उर्वीरुरु । वही 10 128 5

§3§ **व्योमवाद** – इस सिद्धान्त का सम्बन्ध व्योम से है, जो आकाश के रूप मे जाना जाता है । व्योम समस्त पदार्थों का मूलतत्त्व है, क्योंकि इसी के आश्रय मे सबका अस्तित्व है । ऋग्वेद मे भी परमव्योम का अनेक बार उल्लेख हुआ है । इसे सारे देवो तथा वाक् के आश्रय के रूप मे चित्रित किया गया है । यह अमृत है । इसका क्षय कभी नही होता । वस्तुत व्योम के दो रूप है – परम व्योम तथा व्योम । परम व्योम अमर्त्य तथा व्योम मर्त्य है । परम व्योम दैवी है तथा व्योम भौतिक तत्त्व है । परमव्योम मे स्थित "वाक्" को अमर्त्या वाक् कहते है । मनुष्यो की वाक् मर्त्या वाक् है तथा इसका सम्बन्ध मर्त्याकाश या व्योम से है, जो प्रलय मे नष्ट हो जाता है तथा सृष्टि के समय पुन उद्भूत होता है । अमृता वाक् को ही "सहस्राक्षरा वाक्" कहते है ।[1]

§4§ **परावरवाद** – इसकी एक सञ्ज्ञा "अपरवाद" भी है । इसका सम्बन्ध दो सापेक्ष शब्दो – पर और अपर से है । इन्हे कुछ और युग्मो के साथ समझा जा सकता है – पूर्ण और सापेक्ष, दिव्य और लौकिक, ऊर्ध्व तथा अध और एक तथा बहुधा । परावरवाद की धारणा भी सृष्टि की मौलिक धारणा है । इसे ही नासदीय सूक्त मे अवस्तात् तथा परस्तात् कहा गया है ।[2] विश्वरूपी वृक्ष की जडे ऊर्ध्व मे स्थित है तथा इसकी शाखाएँ अधस्तात् है । गीता मे इसे अश्वत्थ वृक्ष के रूप मे प्रतिपादित किया गया है ।[3] परतत्त्व अन्तरजायमान है तथा अपरतत्त्व बहुधा विजायमान है । यही वैदिक परावरवाद है । पर का प्रतीक इन्द्र है तथा अवर या अर्वाक् का सोम । ये दोनो ही परस्पर अवियोज्य युग्म के रूप मे सम्बद्ध होकर गतिशील रहते है ।[4]

§5§ **आवरणवाद** – नासदीय सूक्त की प्रथम पङ्क्ति मे ही इस सिद्धान्त के बीज दृष्टिगत होते है । वहाँ विश्व के मापक के बारे मे पूछा गया है, जो निर्मित होने वाले तत्त्वो का परिमाण बताता है । सृष्टि के रूप मे आकार ग्रहण करने वाली सभी वस्तुएँ सीमित होती है ।

---

1 सहस्राक्षरा परमे व्योमन् । ऋग्वेद 1 164 41

2 वही, 10 129 5

3 ऊर्ध्वमूलमध शाखमश्वत्थ प्राहुरव्ययम् ।
छन्दासि यस्य पर्णानि यस्त वेद स वेदवित् ।। गीता 15 1

4 इन्द्रश्च या चक्रथु सोम तानि धुरा न युक्ता रजसो वहन्ति । ऋग्वेद 1.164 19.

आवरण के द्वारा ही जायमान विश्व की मर्यादा तथा माप सुनिश्चित होती है । जितने भी उत्पन्न पदार्थ हैं, सबके पृथक्–पृथक् द्यावापृथिवी है । अर्थात् उनको जन्म देने वाले मातृ–पितृ–तत्त्वो के युग्म पृथक् है । बिना द्यावापृथिवी की उद्‌भावना के वैदिक सृष्टि–प्रक्रिया हो ही नही सकती । इन दोनो मे भी पृथिवी भौतिक सृष्टि का प्रतीक है, जो मर्त्य है और द्युलोक अव्यक्त स्रोत का प्रतीक है, जो अमृत है । पृथिवी मातृस्वरूपा है तथा विशाल धरित्री है ।[1] माता शब्द का अर्थ ही यह है कि जो माप करे । माता की कुक्षि ही इस बात का निश्चय करती है कि किसी भी उत्पन्न पदार्थ की सीमा और मर्यादा या माप क्या होगी । पिता वह अमृत तत्त्व है, जिससे की मर्त्य गर्भ माता के द्वारा जन्म लेता है ।

आवरणवाद को माया के रूप मे भी देखा जा सकता है । जिस शक्ति से सभी पदार्थो का मान या मापन होता है, वही माया है । परम व्योम का अधिष्ठातृ स्वरूप इन्द्र बहुधा भावो को अपनी माया शक्ति से ही धारण करता है ।[2] किसी भी उत्पन्न होने वाली वस्तु के लिए दो बातो का होना आवश्यक है – आकार एव स्वरूप । आकार से केन्द्र या नाभि का निर्धारण होता है और स्वरूप से परिधि या मण्डल का । ऋग्वेद मे ही प्रमा और प्रतिमा के बारे मे जिज्ञासा की गई है ।[3] नासदीय सूक्त के प्रथम मन्त्र मे आया "शर्मन्" पद भी आवरण का ही द्योतक है, क्योकि यह आश्रय का वाचक है और आश्रय मे ही व्यक्ति वेष्टित या सीमित रहता है ।

(6) **अम्भोवाद** – यह भी वैदिक ऋषियो का एक मूलभूत दर्शन था । इसके अनुसार अथाह जलराशि ही इस सृष्टि का मूल स्रोत है । ऋग्वेद मे जलो के लिए अम्भ, आप, सलिलम्, समुद्र, सोम, ऋतम्, अर्णव इत्यादि शब्दो का प्रयोग किया गया है । जल का अर्थ है, वह स्थितिशील अवस्था, जिसमे सम्पूर्ण प्रकृति लीन थी और वह अभी व्यक्त रूप मे नही आई थी । उस प्रकार की अव्यक्त कृष्ण या स्थितिशील व्यवस्था से गति या प्रकाश का जन्म होता है । वह प्रकाश ही अग्नि

---

1 वाजसनेयी संहिता – 23 10

2 रूप रूप प्रतिरूपो बभूव तदस्य रूप प्रतिचक्षणाय ।
इन्द्रो मायाभि पुरुरूप ईयते युक्ता ह्यस्य हरय शतादश ।। ऋग्वेद 6 47 18

3 कासीत्प्रमा प्रतिमा कि निदानम् । वही, 10 130 3

है । वही अग्नि ऋत का प्रथमजा है ।[1] ऋग्वेद मे अग्नि को गर्भ मे धारण करने वाली जलराशि की चर्चा की गई है ।[2] और भी ऐसे अनेक स्थल हैं, जिनमे जलो द्वारा गर्भ–धारण करने का प्रसङ्ग आया है ।[3] अग्नि को "अपागर्भ " कहा गया है ।[4] ऋग्वेद मे ही अग्नि द्वारा जलो मे प्रवेश करने की बात कही गई है ।[5] एक अन्य स्थल पर कहा गया है कि देवो ने सुन्दर अग्नि को जलो के अन्दर प्राप्त किया ।[6] इस प्रकार इस सृष्टि के लिए जल मूल तत्त्व है । इसी को "अम्भोवाद" के नाम से जाना जाता है । नासदीय सूक्त के प्रथम मन्त्र का चतुर्थ पाद इसी तथ्य को निर्दिष्ट करता है ।

(7) अमृत–मृत्युवाद – नासदीय सूक्त का दूसरा मन्त्र, सुप्रसिद्ध दार्शनिक सिद्धान्त "अमृत–मृत्युवाद" को जन्म देता है । अमृत पद देवताओ का द्योतक है और मृत्युतत्त्व भूतो का । एक ऊर्जा है, तो दूसरा द्रव्य या पदार्थ है,एक दैवी है, तो दूसरा मानवीय । एक देश–कालातीत है, तो दूसरा देशकालपरिच्छिन्न । एक स्थिति तत्त्व को द्योतित करता है, तो दूसरा गतितत्त्व को । पण्डित ओझा ने अमृत और मृत्यु को समझाते हुए कहा है कि अमृत और मृत्यु, ये दोनो विश्व के मूल है । इनमे जो अविनाशी है, वह स्थितिलक्षण है तथा जो गतिमान् है, वह विनश्वर या मृत्युरूपी लक्षण वाला है ।[7] अमृत के प्रतीक देवता है और मृत्यु के भूत । अग्नि का सम्बन्ध दोनो से है । यह देव तथा भूत दोनो मे प्रविष्ट है ।[8] ओझा जी के शब्दो मे – इस सृष्टि मे अमृत तत्त्व रसप्रधान है और मृत्युतत्त्व बलप्रधान ।[9] प्रजा का अर्थ है – जन्म तथा मृत्यु का मरण । इस आशय का एक मन्त्र

---

1 ऋग्वेद 10 5 7

2 वही, 10 121 7

3 वही, 10 82.5 तथा 6

4 वही, 3 5 3

5. वैश्वानरो यास्वग्निं प्रविष्टस्ता आपो देवीरिह मामवन्तु । वही, 7 49 4

6 वही, 3 1 3

7 अमृत मृत्युरिति द्वयमेतद् विश्वस्य मूलमिति विद्यात् ।
अविनाशी स्थितिलक्षणममृत गतिमान् विनश्वरो मृत्यु । ओझा, मधुसूदन – दशवादरहस्य, पृ 15.

8 भूतानि मृत्योरमृत च देवास्तेषूभयेष्वग्निरय निविष्ट । वही, पृष्ठ 16

9. रसोबल चेत्यमृत च मृत्यूरसप्रधानान्यमृतानि सृष्ट्याम् ।
बलप्रधानास्त्विह मृत्यव स्युर्न मृत्यव सन्त्यमृतातिरेकात् ।। वही, पृष्ठ 17

हमे ऋग्वेद मे भी उपलब्ध होता है ।[1] अमृत और मृत्यु ये दोनो एक ही वृत्त के दो भाग है । इस प्रकार हम देखते है कि नासदीय सूक्त मे अमृतमृत्युवाद का सिद्धान्त बीजरूप मे विद्यमान है ।

(8) **अहोरात्रवाद** – अहोरात्रवाद, कालसिद्धान्त का ही एक रूप है, जिसके अनुसार काल को सृष्टि का प्रमुख कारण माना जाता है । अथर्ववेद मे इस सिद्धान्त की तत्त्वमीमासा का भलीभाँति प्रतिपादन किया गया है । उसमे काल को सर्वातिशायी तत्त्व के रूप मे प्रतिष्ठित किया गया है ।[2] सृष्टि मे उत्पादित सभी वस्तुएँ काल रूपी रथ के चक्र है । काल सर्वव्यापी है ।दिन तथा रात उसके दो रूप है । इसके अन्य अनेक रूप भी है । जैसे – प्रकाश और अन्धकार, शुक्ल और कृष्ण, सोम और अग्नि, सृष्टि और प्रलय, जन्म और मृत्यु, स्वर्ग और पृथिवी इत्यादि । ऋग्वेद मे अहोरात्र के लिए अह पद का प्रयोग किया गया है ।[3] गीता मे भी अहोरात्रवाद का उल्लेख किया गया है । वहाँ सहस्रो युगो को ब्रह्मा का एक दिन तथा सहस्रो युगो की ही उनकी एक रात बतायी गई है ।[4] अह गति का प्रतीक है तथा रात्रि प्रकृति का । अह जागरण है तथा रात्रि निद्रा है ।अह तथा रात्रि – ये दोनो महाकाल के प्रतीक है, जो इस सृष्टि के अणु–अणु मे व्याप्त है । वह काल या समय के प्रत्येक क्षण मे प्रविष्ट है । अह सृष्टि का प्रतीक है तथा रात्रि या प्रकृति प्रलय का । ओझा जी ने भी रात्रि को स्वय प्रकृति के रूप मे तथा अह को उसके विकार के रूप मे प्रतिपादित किया है।[5] अहोरात्रवाद का यह वैदिक सिद्धान्त भी नासदीय सूक्त के द्वितीय मन्त्र मे ही उपलब्ध होता है, जिसमे सृष्टि के पूर्व रात्रि तथा दिन के प्रज्ञापक तत्त्व का अभाव प्रतिपादित किया गया है ।

---

1 ऋग्वेद 10 72 9

2 इम च लोक परम च लोक पुण्यांश्च लोकान् विधृतीश्च पुण्या ।
सर्वाल्लोकानभिजित्य ब्रह्मणा काल स ईयते परमो नु देव ।।
अथर्ववेद 19 54 5 तथा द्रष्टव्य वही, 19 53 2, 5, 8 तथा 19 54 2, 3, 4.

3 ऋग्वेद 6 9 1

4 सहस्रयुगपर्यन्तमहर्यद्ब्रह्मणो विदु ।
रात्रि युगसहस्रान्ता तेऽहोरात्रविदो जना ।। गीता – 8 17

5 रात्रि पुरस्ताद् तदहश्च पश्चादह परस्तात् स्वयमेव रात्रि ।
विकारतोऽह प्रकृतिस्तु रात्रि सैषा गति सा प्रभव प्रतिष्ठा ।।
ओझा, मधुसूदन – दशवादरहस्य, पृष्ठ 20

(9) देववाद – नासदीय सूक्त के छठें मन्त्र मे देवो की चर्चा आई है । हमे वहाँ एक ऐसी प्राक्कल्पना का आभास मिलता है कि यह सृष्टि देवो द्वारा की गई है, किन्तुसम्भवत इस परिकल्पना के मन मे आते ही ऋषि ने इसका निराकरण इस प्रकार कर दिया है कि "देवता इस सृष्टि के बाद उत्पन्न हुए, अत वे इसके रहस्य या आदिम स्रोत को नही जान सकते । यह सृष्टि एक यज्ञ है । यज्ञ का निष्पादन देवो के बिना सम्भव नही है । यहाँ तक कि पुरुष–सूक्त (ऋग्वेद 10 90) मे देवता ही सृष्टि–यज्ञ का निष्पादन करते बताए गए है ।[1] इस प्रकार यज्ञीय या सृष्टि–प्रक्रिया से उनकी पूर्णत अभिज्ञता प्रकट है । देवतत्त्व का निर्देश ऋग्वेद की प्रथम ऋचा मे ही कर दिया गया है ।[2] शतपथ[3] तथा ऐतरेय[4] ब्राह्मणो मे अग्नि को सर्वदेवमय बताया गया है । ऋग्वेद मे भी अग्नि को ऋत का प्रथमजा कहा गया है ।[5] अग्नि मे सभी देवो की सत्ता वर्तमान रहती है, क्योकि उसी के मुख द्वारा वे सभी भोजन करते है । वह सभी देवो का आह्वान भी करता है ।[6] इस प्रकार अग्नि में सभी देवताओ की भावना प्रमाणित है । वह अग्नि प्रथम जन्म लेने वाला तथा प्रथम पूज्य है, अत देवत्व निश्चित रूप से सृष्टि–विद्या का एक महत्त्वपूर्ण तत्त्व है । देवता दैवी सृष्टि के प्रत्येक स्तर पर विद्यमान है । इस सृष्टि के मूल–मनस्, प्राण तथा भूत है और ऋषियों के इस ज्ञान के प्रति थोडा भी सशय नही किया जा सकता है कि उनके मन मे देवताओ की शक्ति (क्षमता) के विषय मे कोई शड्का थी । देवतत्त्व वस्तुत प्रकाश का द्योतक है, जो सभी स्थानो तथा सभी कालो मे देदीप्यमान है । देवताओ की दिव्यता प्राणतत्त्व के रूप मे है । यह प्राणतत्त्व देवताओ का भी आधार है । ऋग्वेद के ही एक मन्त्राश द्वारा इनकी प्राणतत्त्वशीलता को प्रतिपादित किया गया है, जहाँ सभी देवो मे एक महत् असुरत्व की भावना की गई है।[7] "असु" प्राण को कहते है, अत

---

1 ऋग्वेद – 10 90 6–7

2 यज्ञस्य देवम् । ऋग्वेद 1 1 1

3 सर्वदेवत्योऽग्नि । शतपथब्राह्मण – 6 1 2 28

4 अग्नि सर्वा देवता । ऐतरेय ब्राह्मण 2 3

5 ऋग्वेद 10 5.7

6. स देवाँ एह वक्षति । वही, 1 1 2

7 महद्देवानामसुरत्वमेकम् । ऋग्वेद 3 55.1

"असुर" (प्राणदायक) शब्द द्वारा ही देवताओ की प्राणमत्ता प्रतिपादित हो जाती है । यह सृष्टि भी प्राण बिना निष्प्राण (निर्जीव) है,अत इसके मूल कारण के रूप मे देवताओं की स्थिति सिद्ध है । इस प्रकार "नासदीय सूक्त" मे ही हमे देववाद के मूल बिन्दु प्राप्त हो जाते है ।

(10) सशयवाद – यह वैदिक दर्शन का बडा महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त है । इसके दो भेद किये जा सकते है – सशयवाद और ब्रह्मवाद । नासदीय सूक्त के छठें तथा सातवे मन्त्रो मे सशयवाद को पर्याप्त आधार प्रदान किया गया है । उनमे ऋषि ने सशय उपस्थित करते हुए कहा है कि यहाँ वस्तुत कौन जानता है और कौन कह सकता है कि यह सृष्टि कहाँ से जन्म ग्रहण करके आई है? देव भी इस सृष्टि के बाद हुए है, अत दूसरा कौन बता सकता है कि यह सृष्टि कहाँ से आई ? सशय की चरम स्थिति वहाँ आती है, जब ऋषि ने इसके अध्यक्ष मे ही इसके ज्ञान को निहित बताया, तथा आगे चलकर उसके ज्ञान के प्रति भी सशय ही प्रकट किया । इस प्रकार की सशयवादी प्रवृत्ति हमे ऋग्वेद मे ही अन्य स्थलो पर भी उपलब्ध होती है । एक मन्त्र मे कहा गया है कि तुम उसे नही जान सकते, जिसने इस विश्व को जन्म दिया है ?[1]

सशयवाद का दूसरा पक्ष "ब्रह्मवाद" है । नासदीय सूक्त में ही इसके बीज भी हमें पर्याप्त मात्रा मे उपलब्ध हो जाते हैं । यद्यपि उसमे स्पष्ट रूप से कही भी "ब्रह्म" शब्द का प्रयोग नही किया गया है, तथापि वहाँ हमे अनेक तद्वाचक शब्द उपलब्ध हो जाते है । ऐसे शब्दो में द्वितीय मन्त्र के तृतीय पाद में आया "तदेकम्" पद है । इसके ही आगे आने वाला दूसरा पद "तस्मात्" भी परमतत्त्व को ही द्योतित करता है । पुनश्च तीसरे मन्त्र मे आया "आभु" शब्द भी ब्रह्म के अर्थ मे ही प्रयुक्त प्रतीत होता है । इसी मन्त्र के अन्तिम पद "एकम्" से भी ब्रह्म का ही निर्देश प्राप्त होता है । अन्तत सातवे मन्त्र मे "अध्यक्ष" शब्द का प्रयोग किया गया है, जो परमव्योम मे निवास करता है । निश्चित रूप से यह शब्द भी ब्रह्म या परमतत्त्व का ही प्रतीक है ।इस प्रकार ऋषि ने संशय उठाकर उसका समाधान भी प्रस्तुत किया है । ऋग्वेद मे अन्यत्र भी हमे सशयवादी प्रवृत्तियाँ दिखाई देती हैं ।[2] इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि सशयवाद तथा ब्रह्मवाद, इन दोनो की आधारभूमि नासदीय सूक्त ही है ।

---

1 न तं विदाथ य इमा जजानान्यद्युष्माकमन्तर बभूव । ऋग्वेद 10 82 7

2. कि स्विद्वनं क उ स वृक्ष आस । ऋग्वेद 10 81 4

नासदीय सूक्त एक नही, अनेकानेक दार्शनिक सिद्धान्तो का जन्मस्थान है । यह विज्ञ आलोचको की दृष्टि मे ऋग्वेदीय ऋषियो की अलौकिक दार्शनिक चिन्तनधारा का मौलिक परिचायक है। वस्तुत इसमे सृष्टि की तत्त्वमीमासीय समीक्षा प्रस्तुत की गई है । द्वितीय मन्त्र मे आया "एकम्" पद प्राण का प्रतीक है । इस दृष्टि से वह तत्त्व श्वास ले रहा है, किन्तु इसके लिए उसको भौतिक वायु की आवश्यकता नही है । वह अपनी ही स्वधा से प्राणन-क्रिया कर रहा है । यह एक अज्ञात रहस्य है, जिसकी विचिकित्सा स्वाभाविक है । इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि नासदीय सूक्त दार्शनिक दृष्टि से ऋग्वेद का सर्वोच्च निदर्शन है । इसमे जितनी स्पष्टता के साथ तत्त्वो को विवेचित किया गया है, प्राय वह अन्यत्र दुर्लभ है ।

अध्याय – 9

"अघमर्षणसूक्त" (ऋग्वेद – 10.190) एवं उसमे प्रतिपादित सृष्टि

(क) सूक्त का परिचय

(ख) सूक्तस्थ विभिन्न पदो की समीक्षा

- (1) ऋतम्
- (2) सत्यम्
- (3) अभीद्ध तपस्
- (4) विश्वस्य मिषतो वशी
- (5) धाता

(ग) सूक्त मे प्रतिपादित सृष्टि

(क) सूक्त का परिचय –

ऋग्वेद के दशम मण्डल का एक सौ नब्बेवाँ सूक्त "अघमर्षण सूक्त" या "ऋत च सत्य च" सूक्त के नाम से जाना जाता है । इसके ऋषि मधुच्छन्दस् के पुत्र अघमर्षण तथा देवता "भाववृत्त" हैं। सायण ने इस सूक्त के देवता का निर्धारण करते हुए बताया है कि इसमे रात्रि इत्यादि भावो के सृष्ट्यादि का प्रतिपादक होने से उन्ही के रूप मे देवता की कल्पना की गई है ।[1] विल्सन के अनुसार इसके प्रत्येक छन्द (मन्त्र) का अभिप्राय ही इसका देवता है ।[2] ग्रिफिथ "सृष्टि" को देवता के रूप मे मानते है ।[3] इस सूक्त मे अनुष्टुप् छन्द मे उपनिबद्ध मात्र तीन ऋचाएँ है ।[4]

प्रस्तुत सूक्त अत्यन्त लोकप्रिय है । इसकी प्रसिद्धि एव महत्ता इसी से प्रतिपादित होती है कि दैनिक सन्ध्योपासन कर्म मे इसके तीनो मन्त्रो का प्रयोग दो बार (आचमन तथा पापनिरसन) किया जाता है । इस सूक्त मे सृष्टि को किसी पहेली या रहस्य के रूप मे न प्रकट कर के बडे ही सरल एव स्पष्ट शब्दो मे व्यक्त किया गया है ।

(ख) सूक्तस्थ विभिन्न पदों की समीक्षा .–

प्रस्तुत सूक्त मे यद्यपि सरल एव बोधगम्य पदो का प्रयोग किया गया है, तथापि इसमें प्रयुक्त कुछ पदों की तात्त्विक एव आलोचनात्मक समीक्षा अपेक्षित है । इस दृष्टि से निम्नलिखित शब्दो पर विचार किया जा सकता है ।

(1) ऋतम् – वैदिक साहित्य मे "ऋत" शब्द का प्रयोग अत्यन्त व्यापक अर्थों मे किया गया है ।[5] सायण ने प्रकृत स्थल पर इसका अर्थ – "यथार्थसङ्कल्पन" किया है ।[6] विल्सन

---

1. रात्र्यादीना भावाना सृष्ट्यादिप्रतिपादकत्वात् तादृग्रूप एवार्थो देवता ।
   ऋग्वेद 10.190 पर सायणभाष्य की भूमिका
2. The purport of each verse is its deity.
   वही, विल्सन की भूमिका
3. वही, ग्रिफिथ – द हिम्स ऑफ द ऋग्वेद, पृष्ठ 651
4. सूक्त की तीनो ऋचाएँ तथा उनका हिन्दी–अनुवाद परिशिष्ट "क" मे दिया गया है
5. द्रष्टव्य – प्रस्तुत शोध–प्रबन्ध का अध्याय – 3 (ऋग्वेद मे "ऋत")
6. ऋतमिति सत्यनाम। ऋत मानस यथार्थसङ्कल्पनम्। ऋग्वेद 10 190 1 पर सायणभाष्य

इसे "वैचारिक सत्य"[1] तथा ग्रिफिथ "शाश्वत नियम" मानते है ।[2] वस्तुत "ऋत" एक ऐसा तत्त्व है, जो सृष्टि के मूल मे है । इस जगत् का सारा व्यवहार "ऋत" के अधीन है । प्रकृत स्थल पर सबसे पहले "ऋत" की उत्पत्ति बताने का तात्पर्य यही है कि बाद मे उत्पद्यमान अन्य समस्त पदार्थों का मूल कारण "ऋत" ही है । अत यहाँ इसका अर्थ प्रथम उत्पन्न आदिकारण के रूप मे लिया जा सकता है ।

[2] **सत्यम्** :- "ऋत" के समान "सत्य" का भी वैदिक साहित्य मे महत्त्वपूर्ण स्थान है ।[3] प्रकृत स्थल पर सायण ने "सत्य" का अर्थ - "वाचिक यथार्थ भाषण" से लिया है । उनके अनुसार मन्त्र मे दो बार आए "च" द्वारा अन्य भी शास्त्रीय धर्मों की उत्पत्ति का अर्थ ग्रहण किया जा सकताहै ।[4] विल्सन ने भी सायण का ही अनुगमन किया है ।[5] ग्रिफिथ भी "सत्य" का सामान्य अर्थ ही ग्रहण करते है ।[6]

वस्तुत "ऋत" के साथ ही "सत्य" की उत्पत्ति का निर्देश प्राप्त होने से यह प्रमाणित होता है कि ऋषि को "ऋत" तथा "सत्य" दोनो ही समान रूप से इष्ट है । बिना सत्य के इस सृष्टि का व्यवहार नही चल सकता है । अत सत्य का अर्थ यहाँ सृष्टि के आधारभूत तत्त्व के रूप मे करना चाहिए ।

[3] **अभीद्ध तपस्** :- प्रथम मन्त्र मे "ऋत" और "सत्य" को अभीद्ध तपस् से उत्पन्न होने वाला बताया गया है । सायण ने इसका अर्थ - ब्रह्मा द्वारा पहले सृष्टि-हेतु किए गए अभितप्त

---

1 Truth (of thought) ऋग्वेद 10 190 1 पर विल्सन का अनुवाद

2 Eternal Law वही, ग्रिफिथ का अनुवाद

3 द्रष्टव्य, प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध का अध्याय-3 [सत्याचरण' शीर्षक]

4 सत्य वाचिक यथार्थभाषणम् । चकाराभ्यामन्यदपि शास्त्रीय धर्मजात समुच्चीयते ।
ऋग्वेद 10 190 1 पर सायणभाष्य

5 Truthfulness (of speech).
वही, विल्सन का अनुवाद.

6 वही, ग्रिफिथ का अनुवाद

तप से किया है । उन्होने वैकल्पिक रूप से इसका अर्थ – "अभित प्रकाशमान मायाधिष्ठानरूप उपादानभूत परमात्मा से" भी किया है ।[1] स्पष्ट है कि सायण का द्वितीय अर्थ अद्वैत वेदान्त से पूर्णत प्रभावित है । विल्सन और ग्रिफिथ ने इसका अर्थ "कठोर तपस्या" से ही लिया है ।[2] अब प्रश्न यह है कि कठिन तपस्या क्या है अथवा किसने की ? इस सम्बन्ध मे नासदीय सूक्त का भी वह मन्त्र ध्यातव्य है, जिसमे "एक" को "तपस्" की महिमा से उत्पन्न हुआ, बताया गया है ।[3] शतपथब्राह्मण मे बताया गया है – प्रारम्भ मे प्रजापति अकेला था । उसने विचार किया कि कैसे मै प्रजारूप मे हो जाऊँ ? उसने श्रम किया । उसने तपस्या की तथा प्रजा की सृष्टि की ।[4] इस दृष्टि से कहा जा सकता है कि यह अभीद्ध तपस् ब्रह्मा द्वारा ही किया गया था ।

मनुस्मृति मे यह बताया गया है कि सृष्टि की इच्छा करने वाले स्वयम्भू ने अपने शरीर से पहले जल की सृष्टि की और बीज डाला । वज बीज सूर्य के समान प्रकाश वाला स्वर्णिम अण्ड हो गया । उसमे से सम्पूर्ण लोक के पितामह ब्रह्मा उत्पन्न हुए ।[5] शतपथब्राह्मण मे एक स्थल पर बताया गया है कि "पहले सर्वत्र जल था । उन जलो ने सोचा कि कैसे प्रजनन किया जाए । ऐसा सोचकर उन्होंने तपस्या की ।[6] हिरण्यगर्भ सूक्त मे आप को गर्भ धारण करने वाली तथा अग्नि को उत्पन्न करने वाली कहा गया है ।[7] वाक् सूक्त मे वाक् ने अपना उत्पत्तिस्थान जलों के भीतर समुद्र मे बताते हुए स्वय को जगन्निर्मात्री कहा है ।[8] तैत्तिरीय सहिता मे भी प्रारम्भ मे जल की ही

---

1 तत्सर्वमभीद्धादभितप्ताद्ब्रह्मणा पुरा सृष्ट्यर्थ कृतात्तपसोऽधि तपश्चात्र परमात्मनो मायाधिष्ठानरूपादुपादानभूतात् । ऋग्वेद 10 190 1 पर सायणभाष्य

2 द्रष्टव्य – वही, विल्सन एव ग्रिफिथ के अनुवाद तथा टिप्पणियाँ

3 ऋग्वेद 10 129 3

4 शतपथब्राह्मण 2.5 1 1

5. मनुस्मृति 1.8–9, 12–13

6 शतपथब्राह्मण 11 1 6.1

7 ऋग्वेद 10 121 7

8. वही, 10.125 7 एव 8

सत्ता स्वीकार की गई है ।[1] बृहदारण्यक उपनिषद् मे कहा गया है कि "जल ही पहले थे । उन जलो ने सत्य की रचना की, सत्य ने ब्रह्म की तथा ब्रह्म ने प्रजापति की रचना की ।"[2] इन सभी उद्धरणो से यह स्पष्ट होता है कि सृष्टि के प्रारम्भ मे जलतत्त्व निश्चित रूप से विद्यमान था । अत प्रकृत स्थल पर यह कहा जा सकता है कि सृष्टि–हेतु घोर तपस्या जलो ने की तथा उनसे ही सृष्टि का क्रम प्रवर्तित हुआ ।

(4) विश्वस्य मिषतो वशी – प्रकृत मन्त्राश का भाष्य करते हुए सायण ने "मिषत" को "विश्वस्य" का विशेषण मानकर "निमिषादियुक्त विश्व का अर्थात् सभी प्राणिसमूह का स्वामी" ऐसा अर्थ किया है ।[3] ग्रिफिथ ने इसका अर्थ – आँखे बन्द करने वाला सबका स्वामी, किया है ।[4] विल्सन इसे "प्रत्येक क्षण के स्वामी" के अर्थ मे ग्रहण करते है ।[5] वस्तुत यहाँ 'मिषत" का अर्थ नेत्रोन्मीलन तथा निमीलन करने वाले प्राणियो से लेना चाहिए । यहाँ यह पद जड् गम जगत् का प्रतीक प्रतीत होता है । पूरे सूक्त मे अन्यत्र कही भी ऋषि ने जड् गम का उल्लेख नही किया है । मन्त्र मे आए "वशी" पद का तात्पर्य यह है कि वह जगत्स्रष्टा जड–चेतन सबको अपने वश मे अर्थात् अधीन रखने वाला है । उसकी इच्छा के विपरीत कुछ भी हो पाना सम्भव नही है । यह भी ध्यातव्य है कि सूक्त मे ऋत और सत्य को तपस्या से उत्पन्न बताते हुए रात्रि, समुद्र तथा सवत्सर की उत्पत्ति बताई गई है । कर्तृपद का प्रयोग अहोरात्र के लिए प्रथम बार "वशी" के रूप मे ही किया गया है । अत यहाँ "वशी" पद का तात्पर्य ब्रह्मा या प्रजापति से लिया जा सकता है ।

---

1 तैत्तिरीय संहिता – 5.7 5

2 बृहदारण्यक उपनिषद् 5 5 1

3 मिषतो निमिषादियुक्तस्य विश्वस्य सर्वस्य प्राणिजातस्य वशी स्वामी भूत्वा वर्तते ।
ऋग्वेद 10 190 2 पर सायणभाष्य

4 Lord over all, who close the eye.
वही, ग्रिफिथ का अनुवाद.

5 The ruler of every moment.
वही, विल्सन का अनुवाद

(5) **धाता** :– तीसरे मन्त्र मे "वशी" को "धाता" के रूप मे प्रतिष्ठित करते हुए, उसे सूर्य, चन्द्र, द्युलोक, पृथिवी, अन्तरिक्ष और स्व का स्रष्टा बताया गया है । यहाँ भी "धाता" का अर्थ प्रजापति या ब्रह्मा लेना उचित प्रतीत होता है । अन्यत्र "धाता" तथा "विधाता" का उल्लेख एक साथ ही किया गया है ।[1] निरुक्त मे धाता को सबका विधाता कहा गया है ।[2] इस प्रकार दूसरे मन्त्र मे जो "वशी" के रूप मे उल्लिखित है, वही यहाँ धाता के रूप मे ।

(ग) सूक्त मे प्रतिपादित सृष्टि –

अघमर्षण सूक्त मे बताया गया है कि कठोर तपस्या द्वारा सर्वप्रथम "ऋत" और "सत्य" की सृष्टि हुई । इसके पश्चात् रात्रि की उत्पत्ति बताई गई है । सृष्टि के अगले चरण मे जल से आपूरित समुद्र की उत्पत्ति का प्रतिपादन किया गया है । जलापूरित समुद्र से सवत्सर उत्पन्न हुआ तथा इसके बाद अहोरात्र की सृष्टि की चर्चा की गई है । इसके अनन्तर विधाता द्वारा पूर्व की सृष्टियो के समान ही सूर्य–चन्द्र की सृष्टि करने की बात कही गई है । अन्तत द्युलोक, पृथिवी, अन्तरिक्ष तथा स्वर्लोक की सृष्टि का प्रतिपादन किया गया है ।

सूक्तस्थ सृष्टिक्रम पर विचार करने पर यह ज्ञात होता है कि रात्रि की उत्पत्ति दो बार बताई गई है – पहले मन्त्र में अकेले तथा द्वितीय मन्त्र मे दिन के साथ । सूक्ष्मता पूर्वक देखने पर यह कहा जा सकता है कि प्रथम मन्त्र मे आया "रात्रि" शब्द किसी अन्य तत्त्व का आधायक है । दूसरी बात यह है कि काल की अवधारणा स्पष्ट होने के बाद ही रात–दिन, सूर्य–चन्द्रादि की अवधारणा का होना उचित प्रतीत होता है । ऐसी स्थिति मे "सवत्सर" रूपी काल की चर्चा दूसरे मन्त्र मे ही आई है । इसके तुरन्त बाद आया "अहोरात्र" पद ही वस्तुत दिन और रात के लिए प्रयुक्त है। इस दृष्टि से प्रथम मन्त्र मे आया "रात्रि" शब्द अन्धकार या "तमस्" का बोधक प्रतीत होता है । इसे नासदीय सूक्त (10 129.3) मे आए "तम " पद के साथ सम्बद्ध किया जा सकता है ।

प्रकृत सूक्त की अन्य सृष्टिपरक सूक्तो के साथ तुलना करने की दृष्टि से विचार करने पर हमे ज्ञात होता है कि पुरुष सूक्त मे सृष्टि, पुरुष के हवि के द्वारा बताई गई है,[3] जबकि यहाँ

---

1. ऋग्वेद 10.82 2
2. धाता सर्वस्य विधाता । निरुक्त 11.10
3. ऋग्वेद 10 90 6

तपस्या द्वारा । पुरुष सूक्त के समान वैविध्यपूर्ण वर्णन न होकर यहाँ सीधे–सीधे सक्षेप मे सृष्टि–क्रम का प्रतिपादन किया गया है । इसी प्रकार हिरण्यगर्भ सूक्त मे हिरण्यगर्भ के द्वारा ही सृष्टि का उपपादन किया गया है । जलो के गर्भ के रूप मे "हिरण्यगर्भ" ही है ।[1] वाक् सूक्त के अनुसार वाक् का उत्पत्तिस्थल समुद्र है तथा वह "वही" से जगत् की सृष्टि प्रारम्भ करती है ।[2] इस प्रकार प्रस्तुत सूक्त के "तपस्" के साथ इसका सम्बन्ध स्थापित किया जा सकता है । नासदीय सूक्त मे तो स्पष्टत "तपस्" का उल्लेख ही किया गया है ।[3]

ऊपर किये गए विवेचन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि प्रस्तुत सूक्त मे ऋषि ने बिना किसी आडम्बरपूर्ण शैली को अपनाए ही सरल और स्पष्ट शब्दो मे सृष्टि के गूढ विषयो का प्रतिपादन किया है । इसमे न तो कोई रहस्य है और न कोई पहेली ही, जिसे समझने मे कठिनाई का अनुभव हो । एक अन्य तथ्य यह है कि इस सूक्त मे "ऋत" और 'सत्य' के साथ–साथ 'सवत्सर' की उत्पत्ति की भी चर्चा की गई है, जो इस सूक्त की वैदिक साहित्य को मौलिक देन है । ऋग्वेद मे अन्य कही भी हमे इन तीनो तत्त्वों की उत्पत्ति का उल्लेख नही प्राप्त होता । हाँ, इनके द्वारा उत्पन्न होने वाले अन्य पदार्थों या तत्त्वो का उल्लेख अवश्य प्राप्त होता है ।[4] यद्यपि अस्यवामीय सूक्त में सवत्सर की विस्तृत चर्चा की गई है, किन्तु वहाँ भी हमे इसकी उत्पत्ति का कोई उल्लेख नही दृष्टिगत होता, अपितु अन्य सभी पदार्थ इसी की पृष्ठभूमि मे विद्यमान प्रतीत होते है ।

---

1 ऋग्वेद 10.121 1 तथा 7

2 ऋग्वेद 10 125 7 तथा 8

3 वही, 10.129 3

4. द्रष्टव्य – ऋग्वेद 1 113 12, 189 6, 2.23 15, 3 54 13, 4 40 5, 7 66 13, 10 5 7, 10 65 8, 10 37.2 तथा 10 85 1

उपसंहार

वैदिक सहिताएँ हिन्दू विचारधाराओ तथा परम्पराओ के मूल स्रोत है । ये विचारधाराएँ अपने मूल उत्स से लेकर परवर्ती साहित्य तथा आधुनिक युग तक भी अविच्छिन्न रूप से प्रवाहित होती रही है । अत संहिताओ का अध्ययन परवर्ती विचारधाराओ के परिप्रेक्ष्य मे ही करना अपेक्षित है । चारो सहिताओ मे ऋग्वेद का स्थान सर्वोपरि है । पुरुष सूक्त मे ही इसका आविर्भाव सर्वप्रथम बताया गया है । हमे इसमे वैदिक ऋषियो की पूर्ण एव व्यापक दृष्टि का ज्ञान प्राप्त होता है । ऋग्वेद संहिमा मूलत विभिन्न देवताओ को समर्पित की गई प्रार्थनाओ या स्तुतियो का सङ्ग्रह है । स्तुति का विषय या तो कोई अकेला देव है, अथवा देवताओ का समूह, जिसे "विश्वेदेवा" के नाम से जाना जाता है । ये स्तुतियाँ ऋषियो द्वारा देवताओ के प्रति प्रकट किये गए वे उद्गार है, जो उनकी भक्ति–भावना से ओतप्रोत है, तथा जिनकी प्रेरणा ऋषियो ने साक्षात् उन देवताओ द्वारा ही प्राप्त की ।

ऋग्वेद मे वैचारिक दृष्टिकोण से "देवत्व" की अवधारणा मूल बिन्दु के रूप मे अभिव्यक्त प्रतीत होती है । ऋषियो ने इसी "देवत्व" की व्यक्तावस्था को विभिन्न देवो के रूप मे प्रतिष्ठित किया है । उन्होने इस देवतत्त्व को प्रकृति मे साक्षात् अनुभव किया तथा इसके विभिन्न उपादानो को देवताओ के आश्रयस्थान के रूप मे माना । वे देवता प्रकृति मे अनुस्यूत होकर ऋषियो को प्रेरणा देते रहे । इसीलिए उन्होने देव तथा प्रकृति को पृथक् नही माना । जो गुण प्राकृतिक उपादानो के थे, ऋषियो ने उन्हे तत्तद् देवताओ मे भावित किया । उनके सम्मुख प्रकृति ने अपने मौलिक गुणो के साथ ही साथ देवत्व को भी प्रकट किया । इस तथ्य को इस रूप मे व्यक्त किया जा सकता है कि इस नामरूपात्मक जगत् या प्रकृति का परम स्रोत देवत्व है तथा उसी देवत्व की सहज अभिव्यक्ति यह प्रकृति है । अत ये दोनो आन्तरिक रूप से सम्बद्ध हैं तथा एक–दूसरे को प्रकट करते रहते है ।

देवो के प्राकृतिक स्वरूप मे भी हमे इनके दो भेद दृष्टिगत होते है – प्रथमत किसी भी देवता का वैयक्तिक स्वरूप और द्वितीय उसका वैश्वदेवात्मक या सामूहिक स्वरूप । वैयक्तिक स्वरूप के अन्तर्गत वे गुण आते है, जो उस देव-विशेष मे ही पाए जाते है तथा जिनके आधार पर अन्य देवताओ से उसका पार्थक्य–बोध होता है । किसी भी देवता का वैश्वदेवात्मक स्वरूप वह है, जो सभी देवताओ मे सामान्य रूप से पाया जाता है । इस दृष्टि से देवताओ का यज्ञो मे आना, हविष्य

ग्रहण करना, धन–पुत्रादि प्रदान करना इत्यादि विचारणीय है । इन सबको देवतत्त्व के रूप मे ग्रहण किया जा सकता है । ये देवत्वाधायक गुण देवताओ के पार्थक्य का निषेध करते है । इसे दूसरे शब्दो मे इस प्रकार कहा जा सकता है कि सभी देवताओ मे एक ही "देवत्व" विद्यमान है । अत अनेक नामो द्वारा अभिहित होने पर भी उनके एकत्व मे कोई शङ्का नही की जा सकती । देवतत्त्व की दृष्टि से इसे ही वैदिक अद्वैतवाद कहा जा सकता है । इसके अन्तर्गत हमे सभी देवताओ मे आन्तरिक रूप से सर्वत्र सामञ्जस्य परिलक्षित होता है । ये देवता जहाँ एक तरफ प्रकृति के किसी भाग का प्रतिनिधित्व करते है, वही दूसरी तरफ अपने "देवत्व" का भी भान कराते है ।

उक्त प्रकार के स्तुतिपरक सूक्तो के अतिरिक्त हमे ऋग्वेद मे कुछ ऐसे भी सूक्त उपलब्ध होते है, जिनमे आत्मतत्त्व, सृष्टिविद्या इत्यादि का निरूपण किया गया है । ये सूक्त भी भक्तिभावना से ही अनुप्राणित है । इनका वैलक्षण्य यह है कि ये किसी ऐसे देव-विशेष को नही सम्बोधित किये गए है, जिसे प्रकृति के किसी उपादान के रूप मे पहचाना जा सके अथवा जिसका नामरूपात्मक वर्णन किया जा सके । इस प्रकार के सूक्तो का सामान्य स्वरूप सशयात्मक है । इन सूक्तो मे आदिकारण के ज्ञान को अगम्य प्रतिपादित किया गया है । इस प्रकार का ज्ञान न केवल मनुष्यो के लिए ही दुष्कर है, अपितु देवता भी इसे नही जानते, क्योकि उनकी उत्पत्ति भी सृष्टि–क्रम मे बाद मे ही हुई है । इसके विपरीत देवताओ को सम्बोधित सूक्तो मे ऐसी सशयात्मिका प्रवृत्ति के दर्शन हमे नही प्राप्त होते, भले ही वे सूक्त किसी एक देवता को समर्पित किये गए हो, या 'विश्वेदेवा " को । उनमे देवताओ के प्रति ऋषियों के मन मे पूर्ण भक्ति–भावना तथा आस्था परिलक्षित होती है । मात्र एक सूक्त (ऋग्वेद 2 12) मे इन्द्र के अस्तित्व के बारे मे शङ्का उपस्थित की गई है, किन्तु वह शङ्का भी ऋषिकृत नही है, क्योकि ऋषि ने पूरे सूक्त मे इन्द्र के विभिन्न महान् कार्यों का उल्लेख करते हुए लोगो के मन मे प्रविष्ट इन्द्र-विषयक सन्देह का प्रत्याख्यान किया है ।

सृष्टि-हेतु कल्पित अमूर्त्त देवताओ मे "हिरण्यगर्भ" प्रमुख है । "वाक्" भी इस प्रकार की ही देवता है । ऋग्वेद मे सृष्टि–प्रक्रिया को अनेक प्रकार से प्रतिपादित किया गया है । इसमे कही पुरुष की "हवि" से सृष्टि होती है, तो कही जलराशि से उद्भूत 'हिरण्यगर्भ' से । कही "वाक्" स्वय को जगत् की उत्पादयित्री कहती है, तो कही "भाववृत्त" के रूप मे ऋषियो ने परमात्मा के स्वयं के विस्तार के रूप मे इस सृष्टि को देखा है । सृष्टि–विद्या को किसी भी प्रकार से समझाया जाए, वस्तुत इसके तत्त्व को समझ पाना अत्यन्त दुष्कर है ।

ऋग्वेद के अध्ययन से एक बात स्पष्ट हो जाती है कि इसे प्रारम्भिक रचना कहकर इसके महत्त्व को अस्वीकार नही किया जा सकता । इसी प्रकार परवर्ती, भारतीय विचारधारा को वेदों की सीमा से हटकर नही समझा जा सकता है । ऐसा मानने पर दोनो धाराओ मे सैद्धान्तिक रिक्तता हो जाएगी, जिसे पूर्ण कर पाना सम्भव नही होगा । जिस प्रकार श्रीमद्भगवद्गीता को उपनिषदों का सार माना जाता है, उसी प्रकार परवर्ती उपनिषत्साहित्य भी वैदिक संहिताओ से नितान्त सम्पृक्त है । दोनो को पृथक् दृष्टि से देखकर भारतीय विचारधारा को मूलत नही समझा जा सकता। आज के परिप्रेक्ष्य मे भी अभी ऋग्वेद के तात्त्विक परिशीलन की आवश्यकता है, जिससे उसमे निहित पहेलियो के प्रतिपाद्य स्पष्ट हो जाएँ तथा परवर्ती साहित्य मे उनके विकसित रूपो को देखा और समझा जा सके ।

ऋग्वेदाख्यमहाम्भोधेर्दर्शनानि विचिन्वता ।
कृत वै पाठकेनेद शोधकार्य प्रयत्नत ।।

इति शम्

परिशिष्ट

(क) ऋग्वेद के दार्शनिक सूक्त एव उनका हिन्दी–अनुवाद

- (1) अस्यवामीय सूक्तम् (1 164)
- (2) पुरुष–सूक्तम् (10 90)
- (3) हिरण्यगर्भ–सूक्तम् (10 121)
- (4) वाक्–सूक्तम् (10 125)
- (5) नासदीय–सूक्तम् (10 129)
- (6) अघमर्षण–सूक्तम् (10 190)

(ख) सन्दर्भ एव सहायक ग्रन्थ–सूची

- (1) आधारग्रन्थ
- (2) सहायकग्रन्थ
- (3) कोशग्रन्थ

(क) ऋग्वेद के दार्शनिक सूक्त एव उनका हिन्दी–अनुवाद –

(1) अस्यवामीयसूक्तम् (ऋग्वेद , 1 164)

ऋषि –दीर्घतमा औचथ्य । देवता – 1–41 विश्वेदेवा , 42 आद्यर्धर्चस्य वाक्, द्वितीयस्य आप , 43 आद्यर्धर्चस्य शकधूम , द्वितीयस्य सोम , 44 केशिन (अग्नि सूर्यो वायुश्च) , 45 वाक् , 46–47 सूर्य , 48 सवत्सरकालचक्रम् , 49 सरस्वती , 50 साध्या , 51 सूर्य , पर्जन्य , अग्नयो वा , 52 सरस्वान्, सूर्यो वा ।

छन्द – 12, 15, 23, 29, 36, 41 जगत्य , 42 प्रस्तारपङ्क्ति , 51 अनुष्टुप् , शिष्टास्त्रिष्टुभ ।

अस्य वामस्य पलितस्य होतुस्तस्य भ्राता मध्यमो अस्त्यश्न ।
तृतीयो भ्राता घृतपृष्ठो अस्यात्रापश्य विश्पति सप्तपुत्रम् ।। ।।1।।

हिन्दी-अनुवाद – इस प्रिय या सुन्दर, वृद्ध (पालक ?) होता (आदित्य) का मध्यमभ्राता सर्वत्र व्याप्त या भक्षणशील (वायु) है । इसका तृतीय भ्राता घृताक्त शरीर वाला (अग्नि) है । यहाँ मैने सात पुत्रो (किरणों) से युक्त प्रजाओ के स्वामी (सूर्य) का साक्षात्कार कर लिया है ।

सप्त युञ्जन्ति रथमेकचक्रमेको अश्वो वहति सप्तनामा ।
त्रिनाभि चक्रमजरमनर्वं यत्रेमा विश्वा भुवनाधि तस्थु ।।2।।

हिन्दी-अनुवाद :– एक चक्र वाले रथ मे सात (घोडे) सयुक्त किये जाते है । सात नामो वाला एक ही अश्व उस रथ को वहन करता है । (रथ का) चक्र अजर (कभी नष्ट न होने वाला), अप्रतिहत तथा तीन नाभियो वाला है, जिसके आश्रय मे ये सभी लोक अथवा प्राणी स्थित है ।

इमं रथमधि ये सप्त तस्थु सप्तचक्र सप्त वहन्त्यश्वा ।
सप्त स्वसारो अभि स नवन्ते यत्र गवा निहिता सप्त नाम ।।3।।

हिन्दी-अनुवाद – सात चक्रो वाले इस रथ के आश्रय मे जो सात (अश्व) स्थित है, वे ही सातो अश्व इसे वहन करते है । सात बहने इसके समक्ष एक साथ स्तुति करती है, जहाँ (जिस रथ मे) वाणी या गाय के सात नाम निहित है ।

को ददर्श प्रथम जायमानमस्थन्वन्त यदनस्था बिभर्ति ।
भूम्या असुरसृगात्मा क्व स्वित् को विद्वासमुप गात् प्रष्टुमेतत् ।।4।।

हिन्दी-अनुवाद :- सर्वप्रथम उत्पन्न होने वाले उसे किसने देखा, जिस अस्थिमान् को अस्थिरहित ने धारण किया था ? भूमि के प्राण, रक्त और आत्मा (उस समय) कहाँ थे ? इस (तथ्य) को पूछने के लिए विद्वान् के पास कौन गया ?

पाक पृच्छामि मनसाविजानन् देवानामेना निहिता पदानि ।
वत्से बष्कयेऽधि सप्त तन्तून् वि तत्निरे कवय ओतवा उ ।।5।।

हिन्दी-अनुवाद :- अपरिपक्व बुद्धिवाला मै मन से (तत्त्व को) न जानते हुए देवताओ के इन निहित स्थानों के बारे मे पूछता हूँ । (इस) अल्पवय वाले वत्स (ससार) के आश्रय मे कवियो ने सात धागो को बुनने के लिए फैलाया है ।

अचिकित्वाञ्चिकितुषश्चिदत्र कवीन् पृच्छामि विद्मने न विद्वान् ।
वि यस्तस्तम्भ षळिमा रजास्यजस्य रूपे किमपि स्विदेकम् ।।6।।

हिन्दी-अनुवाद – न जानने वाला तथा न जानते हुए मै यहाँ (इस विषय में) जानने वाले प्रसिद्ध कवियों से ज्ञानार्थ पूछ रहा हूँ कि जिसने अज के रूप मे इन छ लोको को विविध प्रकार से स्तब्ध (व्यवस्थित) किया है, वह "एक" तत्त्व कौन है ?

इह ब्रवीतु य ईमङ्ग वेदास्य वामस्य निहितं पद वेः ।
शीर्ष्ण· क्षीरं दुह्रते गावो अस्य वव्रिं वसाना उदकं पदापु· ।।7।।

हिन्दी-अनुवाद – जो इस प्रिय या सुन्दर पक्षी (आदित्य) के इस गुप्त स्थान को नि सन्देह जानता है, वह यहाँ उसे बताए । (सूर्य की) किरणे इसके सिर से क्षीर (जल) का दोहन करती है तथा सुन्दर वस्त्र धारण करके अपने पैरों से जल ग्रहण करती है ।

माता पितरमृत आ बभाज धीत्यग्रे मनसा स हि जग्मे ।
सा बीभत्सुर्गर्भरसा निविद्धा नमस्वन्त इदुपवाकमीयु ।।8।।

हिन्दी-अनुवाद – माता (पृथ्वी) ने विचारपूर्वक मन से जल प्राप्त करने हेतु पिता (द्युलोक) के साथ सम्पर्क किया । गर्भ धारण करने की इच्छा वाली (अथवा भीत) वह गर्भ के रस से पूर्ण हो गई (इसके पश्चात्) अन्नादि की कामना करने वाले मनुष्य स्तुति करने के लिए उसके पास गए ।

युक्ता मातासीद्धुरि दक्षिणाया अतिष्ठद्गर्भो वृजनीष्वन्त ।
अमीमेद्वत्सो अनु गामपश्यद्विश्वरूप्यं त्रिषु योजनेषु ।।9।।

हिन्दी-अनुवाद :– माता (पृथ्वी) दक्षिण धुरी से (दक्षिणायन सूर्य से) युक्त हो गई । (तब) मेघ–पड क्तियो मे (जलरूपी) गर्भ स्थित हो गया । वत्स (मेघ) ने तीन योजनो मे विश्वरूपवती गो को (अथवा गो का अनुगमन करते हुए विश्व के सभी रूपो को) देखा तथा हुड़्कार करने लगा (बादल गरजने लगे) ।

तिस्रो मातृस्त्रीन् पितृन् बिभ्रदेक ऊर्ध्वस्तस्थौ नेमव ग्लापयन्ति ।
मन्त्रयन्ते दिवो अमुष्य पृष्ठे विश्वविदं वाचमविश्वमिन्वाम् ।।10।।

हिन्दी-अनुवाद :– अकेला सवत्सरात्मा काल तीन माताओ (पृथ्वी, द्युलोक तथा अन्तरिक्ष) और तीन पिताओ (अग्नि, आदित्य एवं वायु) को धारण करते हुए ऊपर स्थित है । ये (सभी) उसे श्रान्त नही करते (कष्ट नही पहुँचाते) । (देवगण) इस द्युलोक (अथवा प्रकाशमान सवत्सर) की पृष्ठभूमि मे सबको जानने वाली अथवा सबके द्वारा वेद्य और सबसे अज्ञायमान परिमाण वाली वाणी के विषय मे मन्त्रणा करते है ।

द्वादशारं नहि तज्जराय वर्वर्ति चक्रं परि द्यामृतस्य ।
आ पुत्रा अग्ने मिथुनासो अत्र सप्त शतानि विंशतिश्च तस्थु ।।11।।

हिन्दी-अनुवाद – बारह अरो (तीलियो) वाला (प्राकृतिक नियमो के विधायक) ऋत का चक्र द्युलोक के चारो ओर घूमता रहता है । वह जीर्ण होने वाला नही (है) । हे अग्ने । इस रथ मे सात सौ बीस युग्म पुत्र स्थित है ।

पञ्चपाद पितरं द्वादशाकृति दिव आहु परे अर्धे पुरीषिणम् ।
अथेमे अन्य उपरे विचक्षण सप्तचक्रे षळर आहुरर्पितम् ।।12।।

हिन्दी-अनुवाद – पॉच पैरो वाले, बारह स्वरूपो वाले तथा जल से युक्त पिता (आदित्य) को (विद्वान् लोग) द्युलोक के दूसरे या दूरस्थ भाग मे स्थित कहते है तथा अन्य लोग इसे सात चक्रो तथा छ अरो वाले रथ पर आरूढ विचक्षण (सर्वद्रष्टा) कहते है ।

पञ्चारे चक्रे परिवर्तमाने तस्मिन्ना तस्थुर्भुवनानि विश्वा ।
तस्य नाक्षस्तप्यते भूरिभार सनादेव न शीर्यते सनाभि· ।।13।।

हिन्दी-अनुवाद – पॉच अरो वाले भ्रमणशील चक्र मे सम्पूर्ण लोक (पूर्पत) स्थित है । उसका अक्ष (धुरी) अधिक भार ढोने वाला होने पर भी उष्ण नही होता तथा नाभिसहित वह रथ सनातनकाल से ही विशीर्ण नही होता ।

सनेमि चक्रमजर वि वावृत उत्तानाया दश युक्ता वहन्ति ।
सूर्यस्य चक्षू रजसैत्यावृत तस्मिन्नार्पिता भुवनानि विश्वा ।।14।।

हिन्दी-अनुवाद :– नेमिसहित (तथा) जीर्ण न होने वाला (यह) चक्र सदा घूमता रहता है । विस्तृत (क्षेत्र) मे इसे दश युक्त (घोडे) वहन करते है । सूर्य की दृष्टि लोको से आवृत होकर (लोको का निरीक्षण करती हुई) आगे जाती है । उसमे (चक्र या सूर्य की दृष्टि में) सारे लोक अधिष्ठित है ।

साकंजानां सप्तथमाहुरेकज षळिद्यमा ऋषयो देवजा इति ।
तेषामिष्टानि विहितानि धामश स्थात्रे रेजन्ते विकृतानि रूपश ।।15।।

हिन्दी-अनुवाद .– (कालतत्त्ववेत्ता लोग) एक साथ ही उत्पन्न सात मे से सप्तम को "अकेले उत्पन्न हुआ" कहते है । (इनमें से) छ युग्म है । ऋषि देवताओ से उत्पन्न होने वाले है । इनके ईप्सित अपने उचित स्थानो पर प्रतिष्ठित है । वे विभिन्न रूपो मे अपने आश्रय (की पृष्ठभूमि) मे विचरण करते है ।

स्त्रियं सतीस्ताँ उ मे पुंस आहु पश्यदक्षण्वान्न वि चेतदन्ध ।
कविर्यः पुत्र स ईमा चिकेत यस्ता विजानात् स पितुष्पितासत् ।।16।।

हिन्दी-अनुवाद – स्त्रियाँ होती हुई भी उन्हे मुझसे (तत्त्वज्ञ लोग) पुरुष कहते है । (इसे) आँखवाला व्यक्ति ही देख सकता है, अन्धा नही जान सकता । जो पुत्र कवि अर्थात् ज्ञानी है, वही इसे (तत्त्व को) जानता है । जो इन्हे (तत्त्वो को) जानता है, वह पिता का भी पिता हो जाता है।

अव परेण पर एनावरेण पदा वत्स बिभ्रती गौरुदस्थात् ।
सा कद्रीची कं स्विदर्धं परागात् क्व स्वित् सूते नहि यूथे अन्त ।।17।।

हिन्दी-अनुवाद :– ऊर्ध्वस्थित (द्युलोक) से नीचे तथा इस निम्नस्थित (पृथ्वी) से ऊपर वत्स को पैर से धारण करती हुई "गौ" ऊपर स्थित हो गई । वह कहाँ जाने वाली है तथा किस अर्ध भाग से परे चली गई ? (वह अपने बछडे को) कहाँ उत्पन्न करती है ? (क्योकि) अपने समूह मे तो नही (उत्पन्न करती है) ।

अव परेण पितर यो अस्यानुवेद पर एनावरेण ।
कवीयमान क इह प्र वोचद्देव मन कुतो अधि प्रजातम् ।।18।।

हिन्दी-अनुवाद :– ऊर्ध्वस्थित (द्युलोक) से नीचे तथा इस अध स्थित (पृथिवीलोक) से ऊपर इसके (जगत् के) पिता को जो भलीभाँति जानता है, (ऐसा) कवि के समान आचरण करने वाला कौन व्यक्ति यहाँ यह (भी) बताएगा कि यह दिव्य मन कहाँ से उत्पन्न हुआ है ?

ये अर्वाञ्चस्ताँ उ पराच आहुर्ये पराञ्चस्ताँ उ अर्वाच आहु ।
इन्द्रश्च या चक्रथु सोम तानि धुरा न युक्ता रजसो वहन्ति ।।19।।

हिन्दी-अनुवाद – जो निकटस्थ है (तत्त्वज्ञ लोग) उन्हे दूरस्थ कहते है, जो दूरस्थ है, उन्हे निकटस्थ कहते है । हे सोम, जिन (तेजोमण्डलो) को इन्द्र तथा तुमने निर्मित किया है, वे रथ की धुरी में युक्त (अश्वो) के समान लोको को वहन करते है ।

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समान वृक्ष परि षस्वजाते ।
तयोरन्य पिप्पल स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभि चाकशीति ।।20।।

हिन्दी-अनुवाद – दो सुन्दर पङ्खो वाले, समान योग वाले, मित्र पक्षी एक ही वृक्ष का आश्रय ग्रहण किये हुए है । उनमे से एक (जीवात्मा) स्वादिष्ट फल को खा रहा है तथा दूसरा (परमात्मा) न खाते हुए मात्र देख रहा है (अथवा प्रकाशित हो रहा है) ।

यत्रा सुपर्णा अमृतस्य भागमनिमेष विदथाभिस्वरन्ति ।
इनो विश्वस्य भुवनस्य गोपा स मा धीर पाकमत्रा विवेश ।।21।।

हिन्दी-अनुवाद – जहाँ (जिस वृक्ष पर) सुन्दर पङ्खो वाले पक्षी अपने ज्ञान द्वारा निरन्तर अमृताश की स्तुति करते रहते है, वही सम्पूर्ण ससार के स्वामी तथा रक्षक उस बुद्धिमान् (ज्ञानी परमात्मा) ने अपरिपक्व मुझमे प्रवेश किया ।

यस्मिन् वृक्षे मध्वदः सुपर्णा निविशन्ते सुवते चाधि विश्वे ।
तस्येदाहु पिप्पलं स्वाद्वग्रे तन्नोन्नशद्य पितर न वेद ।।22।।

हिन्दी-अनुवाद – जिस वृक्ष पर मधु ग्रहण करने वाले, सुन्दर पङ्खो वाले पक्षी निवास करते है तथा इस विश्व (वृक्ष) के आश्रय मे (प्रजाओ की) उत्पत्ति करते है, उसी (विश्व) के ऊर्ध्व भाग पर (विद्वान्) स्वादिष्ट फल (का होना) बताते है । जो पिता (परमात्मा) को नही जानता है, वह उस (फल) को नही प्राप्त करता है ।

यद्गायत्रे अधि गायत्रमाहितं त्रैष्टुभाद्वा त्रैष्टुभं निरतक्षत ।
यद्वा जगज्जगत्याहित पद य इत्तद्विदुस्ते अमृतत्वमानशु ।।23।।

हिन्दी-अनुवाद – जो गायत्री के ऊपर गायत्री को स्थापित किया गया है अथवा त्रैष्टुभ से त्रिष्टुप् की रचना की गई है या जो जगती के चरण को जगती पर स्थापित किया गया है, इस तत्त्व को जो लोग सम्यक् जानते है, वे अमृतत्व को प्राप्त करते है । (तात्पर्य यह है कि छन्दो का रहस्य जानने वाला अमर हो जाता है ।)

गायत्रेण प्रति मिमीते अर्कमर्केण साम त्रैष्टुभेन वाकम् ।
वाकेन वाक द्विपदा चतुष्पदाक्षरेण मिमते सप्त वाणी ।।24।।

हिन्दी-अनुवाद – (वह) गायत्री (छन्द) से अर्क (ऋक्) की रचना करता है (नापता है) अर्क से साम तथा त्रैष्टुभ से वाक (की रचना करता है) । (वह) वाक से वाक (का निर्माण करता है) । (वे तत्त्वज्ञ लोग) दो चरणो वाले तथा चार चरणो वाले अक्षर से सात प्रकार की वाणियो का निर्माण करते है (मापते है) ।

जगता सिन्धु दिव्यस्तभायद्रथन्तरे सूर्यं पर्यपश्यत् ।
गायत्रस्य समिधस्तिस्र आहुस्ततो मह्ना प्र रिरिचे महित्वा ।।25।।

हिन्दी-अनुवाद – (उसने) जगती (छन्द) से द्युलोक मे सिन्धु (जल) को स्थापित किया । (उसने) रथ के अन्दर सूर्य को चारो ओर से देखा । (विद्वानो ने) गायत्री (छन्द) की तीन समिधाएँ बताई है । इसी कारण से (वह गायत्री) अपनी शक्ति तथा महत्ता से प्रकृष्ट रूप से उद्भासित होती है ।

उप ह्वये सुदुघां धेनुमेता सुहस्तो गोधुगुत दोहदेनाम् ।
श्रेष्ठं सवं सविता साविषन्नोऽभीद्धो घर्मस्तदु षु प्र वोचम् ।।26।।

हिन्दी-अनुवाद – मै शोभन दूध देने वाली इस गाय का आह्वान करता हूँ । दक्ष हाथो वाला दोग्धा इसे दुहे । सविता हमारे प्रति श्रेष्ठ दूध को प्रेरित करे । पात्र तप्त हो चुका है । मै इसे भलीभाँति (जानकर) कह रहा हूँ ।

हिङ्कृण्वती वसुपत्नी वसूना वत्समिच्छन्ती मनसाभ्यागात् ।
दुहामश्विभ्यां पयो अघ्न्येय सा वर्धतां महते सौभगाय ।।27।।

हिन्दी-अनुवाद :– शब्द करती हुई, वसुओ की स्वामिनी (अथवा पालिका) तथा अपने वत्स को हृदय से चाहती हुई (गौ) आ गई है । अहननशीला यह (गाय) अश्विनो के लिए दुग्ध प्रदान करे । वह महान् सौभाग्य के लिए वृद्धि प्राप्त करे ।

गौरमीमेदनु वत्स मिषन्त मूर्धान हिड्.ड.कृणोन्मातवा उ ।
सृक्वाण घर्ममभि वावशाना मिमाति मायु पयते पयोभि. ।।28।।

हिन्दी-अनुवाद .– (गाय ने) आँखे खोले हुए वत्स के प्रति शब्द किया (रम्भाया) । उसने (वत्स का) सिर नापने (चाटने) के लिए (पुन) शब्द किया । (वत्स के) मुख को अपने गर्म थन के पास ले जाने की इच्छा करती हुई (वह गाय) शब्द करती जाती है तथा दुग्ध–धारा से वत्स को सिञ्चित करती जाती है । (अर्थात् प्रभूत दूध पिलाकर उसे तृप्त करती है)

अय स शिड्.क्ते येन गौरभीवृता मिमाति मायुं ध्वसनावधि श्रिता ।
सा चित्तिभिर्नि हि चकार मर्त्यं विद्युद्भवन्ती प्रति वव्रिमौहत ।।29।।

हिन्दी-अनुवाद – जिसके द्वारा गौ आच्छादित की गई है, यह वही (वत्स) शब्द कर रहा है । वह (गाय) अपने आश्रय मे स्थित होकर शब्द करती है । उसने अपने ज्ञान (चैतन्य) से मनुष्यो को नीचे कर दिया तथा प्रकाशस्वरूपा होती हुई वह अपने रूप को प्रकाशित (प्रकट) करती है ।

अनच्छये तुरगातु जीवमेजद्ध्रुव मध्य आ पस्त्यानाम् ।
जीवो मृतस्य चरति स्वधाभिरमर्त्यो मर्त्येना सयोनि ।।30।।

हिन्दी-अनुवाद – शीघ्र गमनशील, श्वास लेने वाला जीव (शरीर को छोडकर) चला जाता है (शरीर) घर के मध्य मे निश्चेष्ट होकर पडा रह जाता है । मर्त्य (शरीर) के समान उत्पत्तिस्थान वाला मृतक का अमर्त्य जीव अपनी इच्छा शक्ति द्वारा भ्रमण करता रहता है ।

अपश्यं गोपामनिपद्यमानमा च परा च पथिभिश्चरन्तम् ।
स सध्रीची स विषूचीर्वसान आ वरीवर्ति भुवनेष्वन्त ।।31।।

हिन्दी-अनुवाद – कभी न गिरने वाले (विचलित न होने वाले), पार्श्वस्थ तथा दूरस्थ मार्गो से विचरण करने वाले रक्षक (सूर्य या आत्मतत्त्व) को (मैने) देख लिया है । साथ चलने वाला, सर्वत्र चलने वाला (तथा अन्यो को) आच्छादित करने वाला वह लोको के भीतर बार–बार स्थित होता है ।

य ई चकार न सो अस्य वेद य ई ददर्श हिरुगिन्नु तस्मात् ।
स मातुर्योना परिवीतो अन्तर्बहुप्रजा निर्ऋतिमा विवेश ।।32।।

हिन्दी अनुवाद :- जिस (पिता) ने इस (जीव) को उत्पन्न किया है, वह भी इसे नही जानता । जिसने इसे देखा, उससे भी यह अन्तर्हित (छिपा हुआ) है । माता के गर्भ के भीतर चारो ओर से घिरा हुआ वह (जीव) बहुत सन्तान वाला या बहुत बार जन्म लेने वाला होकर अतिशय दु खो को प्राप्त करता है ।

द्यौर्मे पिता जनिता नाभिरत्र बन्धुर्मे माता पृथिवी महीयम् ।
उत्तानयोश्चम्वो ३ र्योनिरन्तरत्रा पिता दुहितुर्गर्भमाधात् ।।33।।

हिन्दी अनुवाद – द्युलोक मेरा उत्पादक तथा पालक है । मेरी नाभि यहाँ है । यह विशाल पृथ्वी मेरी माता तथा बन्धु है । ऊपर तने हुए दो पात्रो – द्युलोक तथा पृथिवी के मध्य मे (जो) योनि (अन्तरिक्ष) है, इसी मे पिता (द्युलोक) ने दूर स्थित (पृथ्वी) मे गर्भ (के रूप मे जल) को स्थापित किया ।

पृच्छामि त्वा परमन्त पृथिव्या पृच्छामि यत्र भुवनस्य नाभि ।
पृच्छामि त्वा वृष्णो अश्वस्य रेत· पृच्छामि वाच· परम व्योम ।।34।।

हिन्दी अनुवाद :- (मैं) तुमसे पृथिवी की पराकाष्ठा पूछता हूँ । (मैं) जहाँ भुवन की नाभि (केन्द्रबिन्दु) है, (उसे) पूछता हूँ । (मैं) तुमसे शक्तिशाली अश्व (आदित्य) के रेतस् के बारे मे पूछता हूँ । (मैं) वाणी के परम स्थान के विषय मे पूछता हूँ ।

इय वेदि परो अन्त पृथिव्या अय यज्ञो भुवनस्य नाभिः ।
अयं सोमो वृष्णो अश्वस्य रेतो ब्रह्माय वाच परम व्योम ।।35।।

हिन्दी अनुवाद .- यह वेदि पृथिवी की पराकाष्ठा है । यह यज्ञ भुवन की नाभि (केन्द्रबिन्दु) है । यह सोम शक्तिशाली अश्व का रेतस् (वीर्य) है । यह ब्रह्मा वाणी का परम स्थान (उत्पत्तिस्थान) है।

सप्तार्धगर्भा भुवनस्य रेतो विष्णोस्तिष्ठन्ति प्रदिशा विधर्मणि ।
ते धीतिभिर्मनसा ते विपश्चितः परिभुवः परि भवन्ति विश्वतः ।।36।।

हिन्दी-अनुवाद – सात अर्ध, (अपरिपक्व) गर्भभूत तत्त्व लोको के रेतस् (बीज या कारण) के रूप मे विष्णु के आदेशानुसार अपने-अपने कर्मों मे स्थित है । धारणा शक्ति तथा मन से विद्वान् और व्यापनशील वे (इस जगत् को) चारो ओर से आवेष्टित करते है ।

न वि जानामि यदिवेदमस्मि निण्यः सन्नद्धो मनसा चरामि ।
यदा मागन् प्रथमजा ऋतस्यादिद्वाचो अश्नुवे भागमस्याः ।।37।।

हिन्दी-अनुवाद :- (मैं) यह नही जानता कि किसके समान हूँ । निण्य (तिरोभाव) से सन्नद्ध हुआ (मैं) मन से (विचार पूर्वक) विचरण करता हूँ । जब ऋत के प्रथम उत्पन्न (तत्त्व) मेरे पास आए, ठीक उसी के बाद से (मैं) इस वाणी के भाग (रहस्य) को प्राप्त कर रहा हूँ ।

अपाङ् प्राङेति स्वधया गृभीतोऽमर्त्यो मर्त्येना सयोनिः ।
ता शश्वन्ता विषूचीना वियन्ता न्यन्यं चिक्युर्न नि चिक्युरन्यम् ।।38।।

हिन्दी-अनुवाद – मर्त्य (शरीर) के समान उत्पत्ति स्थान वाला अमरणधर्मा (जीवात्मा) अपनी धारणा शक्ति द्वारा (स्वेच्छानुसार) नीचे तथा ऊपर जाता है । शाश्वत तथा सर्वत्र जाने वाले वे दोनो (जीवात्मा एव शरीर) विपरीत दिशाओ मे जाने वाले है । (विद्वान् लोग उनमे से) एक (शरीर) को जानते है तथा दूसरे (आत्मा) को नही जानते ।

ऋचो अक्षरे परमे व्योमन् यस्मिन् देवा अधि विश्वे निषेदुः ।
यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति य इत्तद्विदुस्त इमे समासते ।।39।।

हिन्दी-अनुवाद – परम व्योम मे, ऋचाओ के (जिस) अक्षर मे सभी देवता स्थित है, उसे (उस तत्त्व को) जो नही जानता है, (वह) ऋचा से क्या लाभ उठाएगा ? जो उस (तत्त्व) को सम्यक् जानते है, वे ही (देवताओ के) साथ बैठते है ।

सूयवसाद्भगवती हि भूया अथो वयं भगवन्त स्याम ।
अद्धितृणमघ्न्ये विश्वदानी पिब शुद्धमुदकमाचरन्ती ।।40।।

हिन्दी-अनुवाद – हे अहन्तव्ये (गो), तुम उत्तम यव का भक्षण करती हुई धनवती (सौभाग्यशालिनी) हो जाओ तथा हम लोग भी धनवान् हो जाएँ । सदा तृण का भक्षण करो तथा (हमारी तरफ) विचरण करती हुई शुद्ध जल का पान करो ।

गौरीर्मिमाय सलिलानि तक्षत्येकपदी द्विपदी सा चतुष्पदी ।
अष्टापदी नवपदी बभूवुषी सहस्राक्षरा परमे व्योमन् ।।41।।

हिन्दी-अनुवाद – जलो को उत्पन्न करती हुई गौरी (वाणी या महिषी) ने शब्द किया । एक पद वाली, दो पदो वाली, चार पदो वाली, आठ पदो वाली तथा नव पदो वाली होती हुई वह परमाकाश मे हजार अक्षरो वाली है ।

तस्या समुद्रा अधि वि क्षरन्ति तेन जीवन्ति प्रदिशश्चतस्रः ।
ततं क्षरत्यक्षरं तद्विश्वमुप जीवति ।।42।।

हिन्दी-अनुवाद – उस (गौरी वाक्) से समुद्र इतस्तत प्रवाहित होते है । उससे (समुद्र के जल से) चारो दिशाए जीवित है । वहाँ से अक्षर प्रवाहित (निर्गत) होता है (तथा) उस पर सारा विश्व जीवित (आश्रित) है ।

शकमयं धूममारादपश्य विषूवता पर एनावरेण ।
उक्षाण पृश्निमपचन्त वीरास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन् ।।43।।

हिन्दी-अनुवाद – मैने शुष्क गोबर (के कण्डे) से उत्पन्न धूम को दूर से देखा । व्यापक इस अवर (निकृष्ट) धूम से पर (उसके कारणभूत अग्नि) को भी देखा । वीरो (यजमानों) ने पृश्नि वर्ण वाले (शुभ्र या चितकबरे) सोम को पकाया । वे प्राथमिक धर्म थे ।

त्रय· केशिन ऋतुथा वि चक्षते सवत्सरे वपत एक एषाम् ।
विश्वमेको अभि चष्टे शचीभिर्ध्राजिरेकस्य ददृशे न रूपम् ।।44।।

हिन्दी-अनुवाद – तीन केशी (किरणो वाले) ऋतु के अनुसार देखते रहते है । इनमे से एक, सवत्सर मे (एक बार) अपना भाग ग्रहण करता है । एक, (अन्य अपने) किरणो या कर्मो से विश्व का सर्वत निरीक्षण करता है (तथा) एक की (केवल) गति दिखाई देती है, रूप नही (दिखाई देता) ।

चत्वारि वाक् परिमिता पदानि तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिण ।
गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति ।।45।।

हिन्दी-अनुवाद – वाणी के चार पद (स्थान) नापे गए है । जो मनीषी ब्रह्मवेत्ता (हैं, वे) उन्हे जानते है । (उनमे से) तीन (पद) गुफा मे निहित है (जो) प्रकट नही होते । वाणी के चतुर्थ (रूप) को मनुष्य बोलते है ।

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान् ।
एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः ।।46।।

हिन्दी-अनुवाद – (विद्वान् लोग) उसे इन्द्र, मित्र, वरुण (तथा) अग्नि कहते है । वही दिव्य, सुन्दर पङ्खो वाला पक्षी (गरुत्मान्) है । एक ही सत् है, विप्र लोग उसे अनेक प्रकार से प्रतिपादित करते है । (वे उसे) अग्नि, यम, (और) मातरिश्वा (भी) कहते है ।

कृष्ण नियान हरय सुपर्णा अपो वसाना दिवमुत्पतन्ति ।
त [illegible] पृथिवी व्युद्यते ।।47।।

हिन्दी-अनुवाद :– जल को धारण करने वाली (तथा) रसो का हरण करने वाली या चमकीली (सूर्य की) किरणे कृष्ण मार्ग से द्युलोक मे चली जाती है । वे ही ऋत के स्थान (आदित्य लोक) से (जब) इधर (पृथिवी की तरफ) लौट आती है, तो पृथिवी घृत (जल) से क्लिन्न (गीली) हो जाती है ।

द्वादश प्रधयश्चक्रमेकं त्रीणि नभ्यानि क उ तच्चिकेत ।
तस्मिन्त्साकं त्रिशता न शङ्कवोऽर्पिताः षष्टिर्न चलाचलासः ।।48।।

हिन्दी-अनुवाद – (संवत्सर रूपी रथ की) बारह प्रधियाँ, एक चक्र तथा तीन नाभियाँ है । उसे किसने सम्यक् जान लिया है ? (कौन जानता है ?) उसमे तीन सौ साठ गतिशील कीले एक साथ लगाई गई है ।

यस्ते स्तनः शशयो यो मयोभूर्येन विश्वा पुष्यसि वार्याणि ।
यो रत्नधा वसुविद्यः सुदत्रः सरस्वति तमिह धातवे कः ।।49।।

हिन्दी-अनुवाद – (हे सरस्वती,) तुम्हारे शरीर मे स्थित जो स्तन सुखकारक, रत्नो को धारण करने वाला, वसुओ को धारण करने वाला तथासुखकर दान देने वाला है (एवं) जिससे तुम समस्त वरणीय पदार्थों को पुष्ट करती हो, हे सरस्वती, (अपने) उस स्तन को (हमारे) पीने के लिए हमारी ओर कर दो ।

यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन् ।
ते ह नाकं महिमानः सचन्त यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः ।।50।।

हिन्दी-अनुवाद – देवताओ (यजमानों) ने यज्ञ द्वारा ही यज्ञ को सम्पन्न किया । वे प्राथमिक (उत्कृष्ट) धर्म थे । वे महिमशाली नाक (स्वर्ग) को प्राप्त किए, जहाँ प्राचीन साध्य देव रहते है ।

समानमेतदुदकमुच्चैत्यव चाहभिः ।
भूमिं पर्जन्या जिन्वन्ति दिवं जिन्वन्त्यग्नयः ।।51।।

हिन्दी-अनुवाद – एक ही जल दिनानुदिन (क्रमश) ऊपर जाता है तथा नीचे (आता है) । पर्जन्य भूमि को तृप्त करते है तथा अग्नियाँ (हविष्य द्वारा) द्युलोक को तृप्त करती है ।

दिव्यं सुपर्णं वायसं बृहन्तमपां गर्भं दर्शतमोषधीनाम् ।
अभीपतो वृष्टिभिस्तर्पयन्तं सरस्वन्तमवसे जोहवीमि ।।52।।

हिन्दी-अनुवाद – द्युलोक में उत्पन्न होने वाले, सुन्दर पङ्खो वाले, महान् पक्षी (के रूप मे स्थित),

जलो तथा ओषधियो के गर्भ (भूत), दर्शनीय तथा (वृष्टिकाल में) वर्षा द्वारा (सबको) तृप्त करने वाले सरस्वान् का (मै दीर्घतमा) सहायता अथवा रक्षा के लिए बार-बार आह्वान करता हूँ ।

(2) पुरुषसूक्तम् (ऋग्वेद, 10 90)

ऋषि नारायण । देवता पुरुष । अन्त्या त्रिष्टुप् । शिष्टा अनुष्टुभ ।

सहस्रशीर्षा पुरुष सहस्राक्ष सहस्रपात् ।
स भूमि विश्वतो वृत्वात्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम् ।।1।।

हिन्दी-अनुवाद – पुरुष सहस्रो शिरो वाला, सहस्रो नेत्रो वाला तथा सहस्रो पादो वाला है । वह भूमि को चारो तरफ से व्याप्त करके अथवा घेरकर दश अङ्गुल का अतिक्रमण करके स्थित हो गया ।

पुरुष एवेदं सर्व यद्भूत यच्च भव्यम् ।
उतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनातिरोहति ।।2।।

हिन्दी-अनुवाद – यह सब (जो वर्तमान मे है), जो हो चुका है तथा जो होने वाला है, पुरुष ही है और वह (पुरुष) अमरता का स्वामी है तथा जो अन्न से वृद्धि प्राप्त करता है (उसका भी स्वामी है) ।

एतावानस्य महिमातो ज्यायाँश्च पूरुष ।
पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृत दिवि ।।3।।

हिन्दी-अनुवाद – इस (पुरुष) की इतनी महिमा है तथा पुरुष इससे भी बढकर है । इसके चतुर्थांश मे सारे प्राणी है तथा इसका तीन चौथाई भाग द्युलोक मे अमर है ।

त्रिपादूर्ध्व उदैत्पुरुष पादोऽस्येहाभवत्पुन ।
ततो विष्वङ् व्यक्रामत्साशनानशने अभि ।।4।।

हिन्दी-अनुवाद – पुरुष तीन चौथाई (भाग के साथ) ऊपर उठ गया । इसका एक चौथाई भाग पुन इस लोक मे स्थित हुआ । इसके पश्चात् (उसने) भोजन करने वाले तथा न करने वाले (सभी को) चारो तरफ से घेर लिया ।

तस्माद्विराळजायत विराजो अधि पूरुष ।
स जातो अत्यरिच्यत पश्चाद्भूमिमथो पुर ।।5।।

हिन्दी-अनुवाद – उस पुरुष से विराज् उत्पन्न हुआ तथा विराज् से (जीवात्मा) पुरुष (उत्पन्न हुआ) उत्पन्न होते ही वह पीछे तथा आगे की भूमि का अतिक्रमण कर गया ।

यत्पुरुषेण हविषा देवा यज्ञमतन्वत ।
वसन्तो अस्यासीदाज्य ग्रीष्म इध्म· शरद्धविः ।।6।।

हिन्दी-अनुवाद – जब देवताओ ने पुरुष रूपी हवि से यज्ञ को सम्पन्न किया (उस समय) इस (यज्ञ) का वसन्त, आज्य (तपाया गया घृत) हुआ, ग्रीष्म–समिधा (हुआ) तथा शरद् ऋतु–हवि हुई ।

तं यज्ञं वर्हिषि प्रौक्षन्पुरुष जातमग्रत ।
तेन देवा अयजन्त साध्या ऋषयश्च ये ।।7।।

हिन्दी-अनुवाद – सबसे पहले उत्पन्न उस यज्ञ (के साधनभूत) पुरुष को (देवो ने) कुशाओ पर (रखकर) जल छिडककर प्रोक्षण किया । उस (पुरुष–पशु) से देवताओ, साध्यो तथा जो ऋषि थे (उन्होने) यज्ञ किया ।

तस्माद्यज्ञात्सर्वहुत सभृत पृषदाज्यम् ।
पशून्तॉश्चक्रे वायव्यानारण्यान्ग्राम्याश्च ये ।।8।।

हिन्दी-अनुवाद – सब कुछ हवन कर दिये जाने वाले, सर्वहुत् नामक उस यज्ञ से आज्य की बूँदे भलीभाँति एकत्र कर ली गई । उनसे वायुदेवता से सम्बद्ध, जङ्गली तथा जो ग्रामीण पशु थे (उन्हे) बनाया ।

तस्माद्यज्ञात्सर्वहुत ऋच, सामानि जज्ञिरे ।
छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत ।।9।।

हिन्दी-अनुवाद :– सब कुछ हवन कर दिये जाने वाले, सर्वहुत् नामक उस यज्ञ से ऋचाएँ तथा साम

तस्मादश्वा अजायन्त ये के चोभयादत ।
गावो ह जज्ञिरे तस्मात्तस्माज्जाता अजावय ।।10।।

हिन्दी-अनुवाद :– (सर्वहुत् नामक) उस (यज्ञ) से घोडे तथा जो कोई दोनो ओर दाँत वाले (पशु है), उत्पन्न हुए । उससे गाये उत्पन्न हुई । उससे बकरियाँ तथा भेडे उत्पन्न हुई ।

यत्पुरुषं व्यदधु कतिधा व्यकल्पयन् ।
मुख किमस्य कौ बाहू का ऊरू पादा उच्येते ।।11।।

हिन्दी-अनुवाद – जब (देवताओ ने) पुरुष को (यज्ञार्थ) विभक्त किया, तो (उसे) कितने भागो मे कल्पित किया ? इसका मुख क्या था ? (इसकी) भुजाएँ क्या (हुई और) इसकी जाँघे तथा पैर क्या कहे जाते है ?

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्बाहू राजन्य कृत ।
ऊरू तदस्य यद्वैश्य पद्भ्यां शूद्रो अजायत ।।12।।

हिन्दी-अनुवाद – इसका मुख ब्राह्मण था, दोनो भुजाओ को क्षत्रिय बनाया गया । इसकी जो दो जाघे (थी), उन्हे वैश्य (बनाया गया) (और इसके) दोनो पैरो से शूद्र उत्पन्न हुआ ।

चन्द्रमा मनसो जातश्चक्षो सूर्यो अजायत ।
मुखादिन्द्रश्चाग्निश्च प्राणाद्वायुरजायत ।।13।।

हिन्दी-अनुवाद :– (उस आदिपुरुष के) मन से चन्द्रमा उत्पन्न हुआ, दोनो आँखो से सूर्य उत्पन्न हुआ । (उसके) मुख से इन्द्र और अग्नि (उत्पन्न हुए) तथा प्राण (श्वास) से वायु उत्पन्न हुआ ।

नाभ्या आसीदन्तरिक्ष शीर्ष्णो द्यौ समवर्तत ।
पद्भ्या भूमिर्दिश श्रोत्रात्तथा लोकाँ अकल्पयन् ।।14।।

हिन्दी-अनुवाद :– (उसकी) नाभि से अन्तरिक्ष उत्पन्न हुआ (तथा) शिर से द्युलोक बना । (उसके) पैरो से भूमि (तथा) कान से दिशाए (उत्पन्न हुई) । इसी प्रकार (देवो ने समस्त) लोको को कल्पित किया (बनाया) ।

सप्तास्यासन्परिधयस्त्रिः सप्त समिधः कृताः ।
देवा यद्यज्ञं तन्वाना अबध्नन्पुरुषं पशुम् ।।15।।

हिन्दी-अनुवाद – यज्ञ को सम्पन्न करते हुए देवताओ ने जब पुरुष-पशु को (यूप) मे बाँधा (उस समय), इसकी सात परिधियाँ थी (तथा) इक्कीस समिधाएँ बनाई गई थी ।

यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन् ।
ते ह नाकं महिमानः सचन्त यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः ।।16।।

हिन्दी-अनुवाद – देवताओ ने यज्ञ से ही यज्ञ (पुरुष) का यजन किया । वे प्राथमिक धर्म थे । महिमशाली वे (देवता) स्वर्गलोक को प्राप्त किए, जहाँ पूर्वकालीन साध्यदेव (रहते) है ।

(3) हिरण्यगर्भसूक्तम् (ऋग्वेद 10.121)

ऋषि हिरण्यगर्भ, प्राजापत्य । देवता क प्रजापति । छन्द त्रिष्टुप् ।

हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत् ।
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम ।।1।।

हिन्दी-अनुवाद – सर्वप्रथम हिरण्यगर्भ उत्पन्न हुआ, उत्पन्न होते ही (वह) प्राणियो का एकमात्र स्वामी हो गया । उसने पृथिवी और इस द्युलोक को धारण किया । (उसके अतिरिक्त) किस देवता के लिए हविष्य द्वारा विधान करे ?

य आत्मदा बलदा यस्य विश्व उपासते प्रशिषं यस्य देवाः ।
यस्य छायामृतं यस्य मृत्युः कस्मै देवाय हविषा विधेम ।।2।।

हिन्दी-अनुवाद – जो आत्मा (शरीर) को प्रदान करने वाला है, (जो) शक्ति को प्रदान करने वाला है, जिसकी आज्ञा को सभी (लोग) मानते है (तथा) जिसकी (आज्ञा को) देवता (भी मानते है), जिसकी छाया अमरता है, जिसकी (छाया) मृत्यु (है), (उसके अतिरिक्त) किस देवता के लिए हविष्य द्वारा विधान करे ?

य प्राणतो निमिषतो महित्वैक इद्राजा जगतो बभूव ।
य ईशे अस्य द्विपदश्चतुष्पद कस्मै देवाय हविषा विधेम ।।3।।

हिन्दी-अनुवाद – जो (अपनी) महिमा से अकेले ही श्वास लेते हुए तथा पलक झॅपाते हुए विश्व का स्वामी हो गया, जो इस दो पैर वाले (तथा) चार पैर वाले (प्राणिजगत्) का शासन करता है, (उसके अतिरिक्त) किस देवता के लिए हविष्य द्वारा विधान करे ?

यस्येमे हिमवन्तो महित्वा यस्य समुद्रं रसया सहाहु ।
यस्येमा प्रदिशो यस्य बाहू कस्मै देवाय हविषा विधेम ।।4।।

हिन्दी-अनुवाद – जिसकी महिमा से ये (हिमालय इत्यादि सभी) पर्वत है, (विद्वान् लोग) नदियो के साथ समुद्रो को, जिसका कहते है, जिसकी ये दिशाए (है तथा) भुजाएँ जिसकी (रक्षा करने वाली) है, (उसके अतिरिक्त) किस देवता के लिए हविष्य द्वारा विधान करे ?

येन द्यौरुग्रा पृथिवी च दृळ्हा येन स्व स्तभित येन नाकः ।
यो अन्तरिक्षे रजसो विमान कस्मै देवाय हविषा विधेम ।।5।।

हिन्दी-अनुवाद :– जिसके द्वारा द्युलोक ऊर्ध्व स्थित तथा पृथिवी दृढ कर दी गई, जिसके द्वारा स्वर्ग और नाकलोक स्तब्ध कर दिए गए तथा जो अन्तरिक्ष मे लोको को नापने वाला है, (उसके अतिरिक्त) किस देवता के लिए हविष्य द्वारा विधान करे ?

य क्रन्दसी अवसा तस्तभाने अभ्यैक्षेता मनसा रेजमाने ।
यत्राधि सूर उदितो विभाति कस्मै देवाय हविषा विधेम ।।6।।

हिन्दी-अनुवाद ·– सहायता के द्वारा स्थिर किए गए तथा मन से कॉंपते हुए द्युलोक एव पृथिवीलोक जिसकी ओर देखते है, जहाँ पर सूर्य उदित होकर सुशोभित होता (चमकता) है, (उसके अतिरिक्त) किस देवता के लिए हविष्य द्वारा विधान करे ?

आपो ह यद् बृहतीर्विश्वमायन्गर्भं दधाना जनयन्तीरग्निम् ।
ततो देवानां समवर्ततासुरेक कस्मै देवाय हविषा विधेम ।।7।।

हिन्दी-अनुवाद :- जब (प्रजापति रूप) गर्भ को धारण करती हुई तथा अग्नि को उत्पन्न करती हुई विशाल जलराशि विश्व मे आई, तब देवताओ का एकमात्र प्राणतत्त्व (हिरण्यगर्भ) उत्पन्न हुआ । (उसके अतिरिक्त) किस देवता के लिए हविष्य द्वारा विधान करे ?

यश्चिदापो महिना पर्यपश्यद्दक्ष दधाना जनयन्तीर्यज्ञम् ।
यो देवेष्वधि देव एक आसीत्कस्मै देवाय हविषा विधेम ।।8।।

हिन्दी-अनुवाद .- जिसने (अपनी) महिमा से दक्ष (उत्पादक शक्ति) को धारण करती हुई तथा यज्ञ को उत्पन्न करती हुई जलराशि को चारोओर देखा, जो देवताओ मे एकमात्र देव हो गया, (उसके अतिरिक्त) किस देवता के लिए हविष्य द्वारा विधान करे ?

मा नो हिंसीज्जनिता यः पृथिव्या यो वा दिवं सत्यधर्मा जजान ।
यश्चापश्चन्द्रा बृहतीर्जजान कस्मै देवाय हविषा विधेम ।।9।।

हिन्दी-अनुवाद ·- जो पृथिवी को उत्पन्न करने वाला है अथवा सत्यरूपी धर्म (नियम) वाले जिसने द्युलोक को उत्पन्न किया (तथा) जिसने आह्लादकारी या देदीप्यमान विशाल जलराशि को उत्पन्न किया, वह हमे हिंसित न करे, (उसके अतिरिक्त) किस देवता के लिए हविष्य द्वारा विधान करे ?

प्रजापते न त्वदेतान्यन्यो विश्वा जातानि परि ता बभूव ।
यत्कामास्ते जुहुमस्तन्नो अस्तु वय स्याम पतयो रयीणाम् ।।10।।

हिन्दी-अनुवाद ·- हे प्रजापति, तुमसे भिन्न (किसी दूसरे) ने इन समस्त उत्पन्न (पदार्थों) को चारों ओर से व्याप्त नही किया । हम जिस कामना वाले होकर (जिस कामना से) तुम्हे हविष्य प्रदान करते है (तुम्हे आहूत करते है) हमारी वह (कामना) पूर्ण हो जाए, हम धनो के स्वामी हो जाएँ ।

(4) वाक्सूक्तम् (ऋग्वेद 10.125)

ऋषि वागाम्भृणी । देवता परमात्मा । छन्द द्वितीयस्या जगती, शिष्टासु त्रिष्टुप् ।

अहं रुद्रेभिर्वसुभिश्चराम्यहमादित्यैरुत विश्वदेवैः ।
अहं मित्रावरुणोभा बिभर्म्यहमिन्द्राग्नी अहमश्विनोभा ।।1।।

हिन्दी-अनुवाद – मै (वाक्) रुद्रो तथा वसुओ के साथ विचरण करती हूँ, मै आदित्यो तथा विश्वदेवो के साथ (विचरण करती हूँ), मै मित्र एवं वरुण दोनो को धारण करती हूँ, मै इन्द्र और अग्नि तथा मै दोनो अश्विनो को धारण करती हूँ ।

अहं सोममाहनसं बिभर्म्यहं त्वष्टारमुत पूषणं भगम् ।
अहं दधामि द्रविणं हविष्मते सुप्राव्ये यजमानाय सुन्वते ।।2।।

हिन्दी-अनुवाद – मै उत्तेजना लाने वाले सोम को धारण करती हूँ, मै त्वष्टा, पूषा तथा भग को (धारण करती हूँ) । मै हविष्ययुक्त, भलीभाँति रक्षा या सहायता के योग्य (तथा) सोमाभिषव करते हुए यजमान के लिए धन धारण करती हूँ ।

अहं राष्ट्री संगमनी वसूनां चिकितुषी प्रथमा यज्ञियानाम् ।
तां मा देवा व्यदधुः पुरुत्रा भूरिस्थात्रां भूर्यावेशयन्तीम् ।।3।।

हिन्दी-अनुवाद – मै रानी (शासिका), धनो को एकत्र करने वाली (तथा) पूज्यो मे प्रथम ज्ञानवाली (हूँ) । अनेक स्थलो पर रहने वाली तथा बहुतो मे अपने को प्रवेश कराती हुई उस (प्रसिद्ध) मुझको देवताओ ने अनेक स्थानो पर विविध प्रकार से स्थापित किया है ।

मया सो अन्नमत्ति यो विपश्यति यः प्राणिति य ईं शृणोत्युक्तम् ।
अमन्तवो मां त उप क्षियन्ति श्रुधि श्रुत श्रद्धिवं ते वदामि ।।4।।

हिन्दी-अनुवाद – (जो) अन्न ग्रहण करता है, जो विविध प्रकार से देखता है, जो श्वास लेता है (तथा) जो इस (मेरे) कहे हुए को सुनता है, वह मेरे द्वारा ही (होता है) । मुझे न मानने वाले वे (सभी लोग मेरे) सम्मुख या पास ही नष्ट हो जाते है । हे विद्वन्, सुनो (मैं) तुम्हारे लिए विश्वसनीय (बात) बताती हूँ ।

अहमेव स्वयमिद वदामि जुष्ट देवेभिरुत मानुषेभि ।
य कामये ततमुग्रं कृणोमि त ब्रह्माण तमृषिं त सुमेधाम् ।।5।।

हिन्दी-अनुवाद – मै स्वय ही देवताओ तथा मनुष्यो के लिए अभीष्ट (वाञ्छित) इस (बात) को बताती हूँ । (मै जिसे) जिसे चाहती हूँ, उसे उसे शक्तिशाली, उसे ब्रह्मा (मन्त्रकर्त्ता या स्तोता), उसे ऋषि (मन्त्रद्रष्टा) (तथा) उसे शोभनप्रज्ञ बना देती हूँ ।

अह रुद्राय धनुरा तनोमि ब्रह्मद्विषे शरवे हन्तवा उ ।
अह जनाय समद कृणोम्यह द्यावापृथिवी आ विवेश ।।6।।

हिन्दी-अनुवाद :– मै मन्त्रद्वेषी हिसक को मारने के लिए रुद्र के धनुष को तान देती हूँ । मै लोगो के लिए युद्ध करती हूँ । मै द्युलोक तथा पृथिवीलोक मे (सर्वत) अनुप्रविष्ट हूँ ।

अह सुवे पितरमस्य मूर्धन्मम योनिरप्स्व ? न्त समुद्रे ।
ततो वि तिष्ठे भुवनानु विश्वोतामूद्यावर्ष्मणोप स्पृशामि ।।7।।

हिन्दी-अनुवाद – मै इस (जगत्) के ऊपर पिता द्युलोक को उत्पन्न करती हूँ । मेरा उत्पत्तिस्थान जलो के भीतर समुद्र मे है । वहाँ से (मैं) सारे भुवनो मे विविध प्रकार से व्याप्त होती हूँ तथा इस द्युलोक को अपनी शिखा या चोटी द्वारा समीप से स्पर्श करती हूँ ।

अहमेव वात इव प्रवाम्यारभमाणा भुवनानि विश्वा ।
परो दिवा पर एना पृथिव्यैतावती महिना स बभूव ।।8।।

हिन्दी-अनुवाद – मै ही सारे लोको (की सृष्टि) को प्रारम्भ करती हुई वायु के समान प्रवहित (क्रियाशील) होती हूँ । द्युलोक से परे तथा इस पृथिवी से भी परे (मैं) (अपनी) महिमा से इतनी (व्यापक या महीयसी) हो गई हूँ ।

(5) नासदीयसूक्तम् (ऋग्वेद 10 129)

ऋषि प्रजापति· परमेष्ठी । देवता परमात्मा (भाववृत्तम्) । छन्द त्रिष्टुप् ।

नासदासीन्नो सदासीत्तदानी नासीद्रजो नो व्योमा परो यत् ।
किमावरीव कुह कस्य शर्मन्नम्भ· किमासीद्गहनं गभीरम् ।।1।।

हिन्दी-अनुवाद :– उस समय न असत् (कारण) था, न सत् (कार्यभूत पृथिवी इत्यादि भाव) था । न रजस् (लोक) था (और) न आकाश था जो ऊपर स्थित है । कौन आवरण करने वाला था (तथा) कौन कहाँ किसके आश्रय मे था ? क्या (उस समय) अथाह गहरा जल था ?

न मृत्युरासीदमृत न तर्हि न रात्र्या अह्न आसीत्प्रकेत ।
आनीदवात स्वधया तदेक तस्माद्धान्यन्न पर किं चनास ।।2।।

हिन्दी-अनुवाद :– तब न (तो) मृत्यु थी और न अमृत । रात और दिन का ज्ञापक (भेदक तत्त्व) (सूर्य और चन्द्रमा) भी नही था । वह एक तत्त्व ही वायु के बिना (भी) (अपनी) आन्तरिक शक्ति से श्वास ले रहा था । निश्चित रूप से उससे बढकर, पृथक् कोई तत्त्व नही था ।

तम आसीत्तमसा गूळ्हमग्रेऽप्रकेत सलिल सर्वमा इदम् ।
तुच्छ्येनाभ्वपिहित यदासीत्तपसस्तन्महिनाजायतैकम् ।।3।।

हिन्दी-अनुवाद :– प्रारम्भ मे अन्धकार से ढका हुआ अन्धकार (ही) था । यह सब कुछ अप्रकेत (विभक्त न हो पाने वाला या अथाह) सलिल (जगत्कारण) ही था । जो आभु (सर्वत्र स्थित अर्थात् ब्रह्म) था (वह भी) तुच्छ्य (सीमाभाव, परिधि, शून्यता अथवा भावरुपी अज्ञान) से घिरा हुआ था । तपस् की महिमा से वह एक (तत्त्व) उत्पन्न हुआ ।

कामस्तदग्रे समवर्ततावधि मनसो रेत प्रथम यदासीत् ।
सतो बन्धुमसति निरविन्दन्हृदि प्रतीष्या कवयो मनीषा ।।4।।

हिन्दी-अनुवाद – उस (सृष्टि) के प्रारम्भ मे काम (इच्छा) उत्पन्न हुआ, जो मनस् का प्रथम रेतस् (बीज) था । कवियो (विद्वानों) ने (अपने) हृदय मे बुद्धि से विचार कर के सत् (कार्यरूप भावपदार्थ) के बन्धु (हेतु या कारण) को असत् (अव्यक्त कारण) मे प्राप्त कर लिया ।

तिरश्चीनो विततो रश्मिरेषामध स्विदासी३ दुपरिस्विदासी३ त् ।
रेतोधा आसन्महिमान आसन्त्स्वधा अवस्तात्प्रयति परस्तात् ।।5।।

हिन्दी-अनुवाद – इनका (वियदादि की सृष्टि करने वालो का) (कार्यवर्ग) किरणो के समान तिरश्चीन

(तिरछा या आर–पार) फैला हुआ था । क्या (वह) नीचे था ? अथवा क्या (वह) ऊपर था ? रेतोधा (बीज धारण करने वाले) (भोक्ता) थे, महिमान (आकाश इत्यादि भोग्य पदार्थ) थे । स्वधा (भोग्य प्रपञ्च) नीचे था (तथा) प्रयति (भोक्ता) ऊपर था ।

को अद्धा वेद क इह प्र वोचत्कुत आजाता कुतइयं विसृष्टि ।
अर्वाग्देवा अस्यविसर्जनेनाथा को वेद यत आ बभूव ।।6।।

हिन्दी-अनुवाद – कौन वस्तुत जानता है, कौन यहाँ बताएगा कि यह (सृष्टि) कहाँ से आई ? यह विविध प्रकार की सृष्टि कहाँ से (उत्पन्न हुई) ? देवगण इस सृष्टि से अर्वाचीन है । तब जहाँ से (यह सृष्टि) उत्पन्न हुई, उसे कौन जानता है ?

इय विसृष्टिर्यत आ बभूव यदि वा दधे यदि वा न ।
यो अस्याध्यक्ष परमे व्योमन्त्सो अड् ग वेद यदि वा न वेद ।।7।।

हिन्दी-अनुवाद – यह विविधरूपा सृष्टि जहाँ से उत्पन्न हुई, (उसे किसी ने) धारण किया था या नही ? परम व्योम मे स्थित जो इस (सृष्टि) का अध्यक्ष (स्वामी) है, वह भी वस्तुत जानता है अथवा नही जानता है (यह मै नही जानता) । (अथवा परम व्योम मे स्थित इसका अध्यक्ष ही वस्तुत जानता है । यदि वह नही जानता, (तो फिर कौन जानता है) ।

(6) अघमर्षणसूक्तम् (ऋग्वेद 10 190)

ऋषि अघमर्षण । देवता भाववृत्तम् । छन्द अनुष्टुप् ।

ऋत च सत्य चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत ।
ततो रात्र्यजायत तत समुद्रो अर्णव ।।1।।

हिन्दी-अनुवाद – अभितप्त (प्रकृष्ट) तपस् से ऋत एव सत्य उत्पन्न हुए । इसके बाद रात्रि उत्पन्न हुई । इसके अनन्तर जल से भरा समुद्र (उत्पन्न हुआ) ।

समुद्रादर्णवादधि सवत्सरो अजायत ।
अहोरात्राणि विदधद् विश्वस्य मिषतो वशी ।।2।।

हिन्दी अनुवाद – जल से भरे समुद्र द्वारा सवत्सर उत्पन्न हुआ । दिन तथा रात की सृष्टि करते हुए, निमेषादि करने वाले समस्त प्राणियो का (वह स्रष्टा) स्वामी (नियन्त्रक) हुआ ।

सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत् ।
दिवं च पृथिवीं चान्तरिक्षमथो स्वः ।।3।।

हिन्दी अनुवाद – इस धाता (स्रष्टा) ने सूर्य, चन्द्र, द्युलोक, पृथिवी, अन्तरिक्ष तथा स्व को पूर्व (की सृष्टि) के अनुसार कल्पित किया ।

(ख) सन्दर्भ एव सहायक ग्रन्थ–सूची .–

(अ) आधार–ग्रन्थ –

1	अथर्ववेद–संहिता	दामोदर सातवलेकर	स्वाध्याय मण्डल, पारडी, 1957
2	ऋग्वेद–संहिता	सायणभाष्य, मैक्समूलर द्वारा सम्पादित	आक्सफोर्ड, 1892
3	ऋग्वेद–संहिता	सायणभाष्य (5 खण्ड)	वैदिक सशोधन–मण्डल, पूना, 1972, 1976, 1978, 1983
4	ऋग्वेद	सुबोधभाष्य (हिन्दी) दामोदर सातवलेकर (10 भाग)	स्वाध्याय मण्डल, पारडी, सूरत 1985
5	ऋग्वेद	स्कन्दस्वामी, उद्गीथ, वेङ्कटमाधव तथा मुद्गलभाष्य सहित (8 भाग)	विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोध सस्थान होशियारपुर, 1963
6	ऋग्वेद–संहिता	दयानन्दभाष्य	वैदिक यन्त्रालय, अजमेर, 1972
7	ऋग्वेद भाष्यभूमिका	सायण, सम्पादक–बलदेव उपाध्याय	चौखम्बा सस्कृत सिरीज, वाराणसी, 1934
8	ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका	स्वामी दयानन्द	वैदिक पुस्तकालय दयानन्द आश्रम, अजमेर, 1972
9	ऐतरेयारण्यक	आर मित्र सम्पादित	इण्डिका, कलकत्ता, 1881
10	ऐतरेय ब्राह्मण	सायणभाष्य	आनन्दाश्रम सस्कृत ग्रन्थावली, पूना, 1930
11	कालिका पुराण	वेदव्यास	गीता प्रेस गोरखपुर, सवत् 2030
12	कूर्म पुराण	वेद व्यास	नाग पब्लिशर्स, दिल्ली, 1983
13.	तर्कभाषा (केशव मिश्र)	बदरीनाथ शुक्ल	मोतीलाल बनारसीदास दिल्ली 1976
14	तैत्तिरीय ब्राह्मण	सामशास्त्री सम्पादित	मैसूर, 1921
15	तैत्तिरीय संहिता	दामोदर सातवलेकर	स्वाध्याय मण्डल, पारडी, सूरत 1980
16	तैत्तिरीय संहिता	महादेव शास्त्री सम्पादित	मैसूर, 1884
17	दशोपनिषद्	कुन्हन राजा सम्पादित	अड्यार लाइब्रेरी, मद्रास, 1935
18	देवी भागवत	वेद व्यास	गीता प्रेस गोरखपुर, सवत् 2027
19	निरुक्त (यास्क)	राजवाडे सम्पादित	पूना, 1904
20	निरुक्त (यास्क)	दुर्गाचार्य की टीका सहित	श्री वेङ्कटेश्वर प्रेस, बम्बई 1942
21.	परमलघुमञ्जूषा	नागेश भट्ट	चौखम्बा सस्कृत सीरीज, वाराणसी, 1960

22 बृहदारण्यकोपनिषद् — शाड् करभाष्य सहित — गीता प्रेस गोरखपुर, सवत् 2031

23 बृहद्देवता — मैकडॉनेल (हिन्दी अनुवाद) — चौखम्भा, वाराणसी, 1964

24 ब्रह्मसूत्र — शाड् करभाष्य — चौखम्बा सस्कृत सीरीज, वाराणसी 1968

25 मत्स्य पुराण — वेद व्यास — गीता प्रेस गोरखपुर, सवत् 2035

26 मनुस्मृति — कुल्लूभट्ट की टीका सहित — चौखम्बा सस्कृत सीरीज, ऑफिस, वाराणसी, 1964

27 महाभारत — वेद व्यास — नाग पब्लिशर्स, दिल्ली, 1983

28 मार्कण्डेय पुराण (श्री दुर्गासप्तशती) — वेद व्यास — गीता प्रेस गोरखपुर, सवत् 2035

29 मैत्रायणी सहिता — (मूलमात्र) दामोदर सातवलेकर — स्वाध्याय मण्डल पारडी, सवत् 1998

30 यजुर्वेद सहिता — उव्वट–महीधरभाष्य सहित — चौखम्भा, वाराणसी, 1912

31 यजुर्वेद–सहिता — दयानन्दभाष्य — वैदिक यन्त्रालय, अजमेर, 1929

32 रघुवशम् (कालिदास) — डॉ श्रीकृष्णमणि त्रिपाठी — चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी 1975

33 लिड् ग पुराण — वेद व्यास — गीता प्रेस गोरखपुर, सवत् 2040

34 वाक्यपदीयम् (भर्तृहरि) — सम्पादक – रामगोविन्द शुक्ल — चौखम्बा सस्कृत सीरीज ऑफिस, वाराणसी, 1980

35 वाजसनेयी–सहिता — उव्वट–महीधरभाष्य सहित — निर्णयसागर मुद्रणालय, बम्बई 1929

36 वेदान्तसार (सदानन्द) — रामशरण त्रिपाठी — चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी 1980

37 शतपथब्राह्मण — सायणभाष्य सहित — वेड् कटेश्वर प्रेस, बम्बई, 1940

38 शाकुन्तलम् (कालिदास) — रमाशड् कर त्रिपाठी — चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी 1985

39 श्रीमद्भगवद्गीता — वेद व्यास — गीता प्रेस गोरखपुर, सवत् 2031

40 साड् ख्यकारिका (ईश्वरकृष्ण) — श्रीकृष्णमणि त्रिपाठी — चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी 1980

41 साड् ख्यसूत्र — विज्ञानभिक्षु — भारतीय विद्या प्रकाशन, वाराणसी 1972

42 हरिवश–पुराण — वेद व्यास — गीता प्रेस गोरखपुर, सवत् 2035

(ब) सहायक ग्रन्थ –

43	अग्रवाल डॉ वासुदेवशरण	वेदरश्मि	स्वाध्याय मण्डल, पारडी, सूरत 1964
44	अग्रवाल डॉ वासुदेवशरण	वेद विद्या	रामप्रसाद एन्ड सन्स, आगरा, 1970
45	उपाध्याय बलदेव	भारतीय दर्शन	शारदा मन्दिर, वाराणसी 1960
46	उपाध्याय बलदेव	वैदिक साहित्य और सस्कृति	शारदा मन्दिर, वाराणसी, 1967
47	उपाध्याय भरतसिह	बौद्ध दर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन (प्रथम भाग)	बगाल हिन्दी मण्डल, कलकत्ता, 1954
48	जोशी, हरिशड् कर	वैदिक विश्वदर्शन	काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी 1975
49	त्रिपाठी डॉ विश्वम्भरनाथ	वेदचयनम्	विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी 1980
50	त्रिपाठी डॉ हरिशड् कर	ऋग्भाष्यसड् ग्रह	रामनारायण लाल एन्ड कम्पनी, इलाहाबाद, 1988
51	त्रिपाठी डॉ हरिशड् कर	सूक्तवाक्	वेदपीठ प्रकाशन, इलाहाबाद, 1984
52	दामोदरन्, के	भारतीय चिन्तन की परम्परा (हिन्दी–अनुवाद)	पीपुल्स पब्लिशिग हाउस, दिल्ली, 1975
53	दिवेकर, ह रा	वेदविद्या	रामप्रसाद एन्ड सन्स, आगरा, 1970
54	देवराज, डॉ नन्दकिशोर	भारतीय दर्शन का इतिहास	हिन्दुस्तानी अकादेमी, इलाहाबाद 1954
55	पाण्डेय सड् गमलाल	भारतीय दर्शन की कहानी	रामनारायण लाल, बेनीप्रसाद, इलाहाबाद, 1963
56	मिश्र, डॉ उमेश	भारतीय दर्शन	हिन्दी समिति, लखनऊ, 1975
57	मैकडॉनेल, ए ए	वैदिक माइथॉलॉजी (हिन्दी अनुवाद)	चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी 1964
58	मैकडॉनेल, ए ए	हिस्ट्री ऑफ सस्कृत लिटरेचर (हिन्दी–अनुवाद)	दिल्ली, 1970
59	राधाकृष्णन्, डॉ सर्वपल्ली	भारतीय दर्शन, भाग – 1 (हिन्दी–अनुवाद)	राजपाल एन्ड सन्स, दिल्ली, 1969
60	रेउ विश्वेश्वरनाथ	ऋग्वेद पर एक ऐतिहासिक दृष्टि	मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 1970
61	वेदालड् कार, जयदेव	वैदिक दर्शन	भारतीय विद्या प्रकाशन, दिल्ली, 1991

62	शर्मा, डॉ गणेशदत्त	ऋग्वेद मे दार्शनिक तत्त्व	विमल प्रकाशन, गाजियाबाद, 1977
63	शर्मा, डॉ मुशीराम	वेदार्थ–चन्द्रिका	चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, 1971
64	शास्त्री, डॉ उदयवीर	साड् ख्यसिद्धान्त	विरजानन्द वैदिक शोध सस्थान, गाजियाबाद
65	शास्त्री मड् गलदेव	भारतीय सस्कृति का विकास	भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, दिल्ली, 1960
66	सिह, डॉ फतह	वैदिक दर्शन	सस्कृति–सदन, कोटा, राजस्थान 1969
67.	Agrawala, Dr.V.S.	Sparks From The Vedic Fire	Banaras Hindu University, 1962
68.	Agrawala, Dr.V.S.	Vedic Lectures	Banaras Hindu University, 1963
69.	Arnold	Vedic Metre	Oxford, 1893
70.	Bloomfield, M.	The Religion Of The Veda	I.B.House, Delhi, 1972
71.	Bose, Abinash Chandra	Hymns From The Vedas	Asia Publishing House, Bombay, 1970
72.	Bose, A.C.	The Call Of The Vedas	Bhartiya Vidya Bhavan Bombay, 1988
73.	Chakraborty, Chhanda	Common Life in the Ṛgveda and Atharvaveda	Punthi Pustak, Calcutta, 1977
74.	Chattarjee, Satischandra	The Problems of Philosophy	University of Calcutta, 1964
75.	Chattopadhyaya Dr.K.C.	Vedic Lectures	Tara Publishers, Varanasi, 1963
76.	Chaubey, B.B.	The New Vedic Selection (2 Vols.)	Bharatiya Vidya Prakashan, Varanasi 1973
77.	Chaubey, B.B.	Treatment of Nature in the Ṛgveda	Hoshiyarpur, 1970
78.	Das, A.C.	Ṛgvedic India	Calcutta, 1927

79.	Dasgupta, S.N.	A History of Indian Philosophy (Vol.1)	Cambridge University, Press, 1963
80.	Deussen, Pal	System of the Vedanta (English Translation)	Chicago, 1912
81.	Eliade, Mircea (Ed.in chief)	The Encyclopaedia Religion (Vols. 4, 6,10,11)	Mc'Millan Publishing Company, New York, 1960
82.	Ghate, V.S.	Lectures on the Rgveda	Oriental Book Agency, Poona, 1926 and 1959
83.	Griffith, R.T.H.	The Hymns of The Rgveda	Motilal Banarsidass Delhi, 1986
84.	Kaegi, A.	Der Regveda (Eng.Tr)	Boston, 1886
85.	Keith, A.B.	Religion and Philoso--phy of the Veda and Upanishads	Harvard Oriental Series Nos.31, 32, 1925
86.	Macdonell, A.A.	A History of Sinskrit Literature	Motilal Banarsidass Delhi, 1962
87.	Macdonell, A.A.	Vedic Mythology	Motilal Banarsidass Delhi, 1974.
88.	Macdonell, A.A.	Vedic Reader for Students	Oxford University, Press, 1917
89.	Maxmuller, F.	A History of Anciant Sanskrit Literature	London, 1860
90.	Maxmuller, F.	India, What Can it Teach Us	Longmans Green & Co. London, 1899
91.	Maxmuller, F.	The Six Systems of Indian philosophy	Oxford University Press, London, 1898
92.	Maxmuller, F.	Lectures on the Origin and Growth of Religion.	London, 1878

93.	Maxmuller, F.	Natural Religion	London, 1898
94.	Muir, J.	Original Sanskrit Texts (5 Vols.)	London, 1858 - 72
95.	Narhari, H.G.	Atman	Adyar Library, Madras, 1944
96.	Peterson, P.	Hymns from the Rgveda	Bombay, 1898
97.	Purani, A.B.	Studies in Vedic Interpretation	Choukhambha Prakashan Varanasi, 1963
98.	Radhakrishnan S.	Indian Philosophy (Vol.1)	George Allen and Unwin Ltd.London, 1940
99.	Rai, R.R.M.	The Vedas	Nag Publishers, Delhi 1977
100.	Raja, C. Kunhan	Asya Vamasya Hymn	Ganesh & Co. Madras 1956
101.	Raja, C. Kunhan	Some Fundamental Problems in Indian Philosophy	Motilal Banarsidass Delhi, 1960
102.	Renou, Louis	Vedic India (English Translation)	Calcutta, 1890
103.	Schroeder, L.	Indicns Literature und Kultur (Eng.Tr.)	Leipzig, 1887
104.	Shankutala, R.	Aspirations From A Fresh World	Bhartiya Vidya Bhavan, Bombay, 1954.
105.	Sharma, Dr.C.D.	A Critical Survey of Indian Philosophy	Motilal Banarsidass Delhi, 1973
106.	Wallis, H.	Cosmology of the Ṛgveda	London, 1887
107.	Winternitz, M.	A History of Indian Literature, Vol.1 (English Translation)	University of Calcutta 1927
108.	Wilson, H.H.	Ṛgveda Samhita (6 Vols.)	Nag Publishers, Delhi, 1977

(स) कोश-ग्रन्थ -

104	आप्टे, वागन शिवराम	सस्कृत-हिन्दी-कोश	मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 1984
110.	Dandekar, R.N.	Vedic Bibliography Ist Volume, IInd Volume	Karnataka Publishing House, Bombay, 1946 University of Poona 1961
111.	Macdonell, A.A. and Keith, A.B.	Vedic Index of Names and Subjects 2 Volumes	Motilal Banarsidass Varanasi, 1958
112.	Pathak, R.C. (Editor)	Bhargava's Anglo-Hindi Dictionary	Bhargava Book Depot Varanasi, 1987

* * * * *